

सर्वाधिकार सुरक्षित

श्री सहजानन्द शास्त्रमालः

परमपूज्य 108 आचार्य पूज्यपाद विरचित

# इष्टोपदेश

पर

पूज्य 105 सहजानन्द वर्णो जी के प्रवचन

सम्पादक

डा० नानक चन्द जैन एम० डी० एच०

सान्तौल हाऊस, मौ० ठटेरवाड़ा

मेरठ शहर

प्रकाशक

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

185 ए, रनजीतपुरी सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

द्वितीय संस्करण

सन्

लागत मूल्य

1100

1994

20)

## प्रस्तावना

आध्यात्म योगी परम पूज्य गुरुवर्य 105 श्रीमद् सहजानन्द वर्णी जी ने अनेकों ग्रन्थों की रचना व टीकाएं की हैं। तथा उन्होंने महान आचार्यों की रचनाओं पर समय-समय पर अत्यन्त सरल भाषा में प्रवचन किए व लिखे हैं। उनकी सभी रचनाएँ अपूर्व व अनुपम हैं। उनकी प्रत्येक रचना से यह झलक मिलती है कि मुमुक्षुवृद्ध आत्महित हेतु इन सूक्तियों को किस प्रकार आत्मसात करके उनाके प्रयोगात्मक विधि से अपने जीवन के क्षणों में प्रयोग करे। और अनन्त काल तक के लिए सुखी होवे। यह विशेषता सहजानन्द जी की कृतियों में ही है। वे प्रति समय अपने उपयोग को स्थिर रखते थे और निरन्तर लिखने में ही संलग्न रहते थे। यहाँ तक की जीवन के अन्तिम क्षण में भी कलम उनके हाथ में ही था। 62 वर्ष की अल्प आयु में उनका स्वर्गवास होना एक ऐसी क्षति है जो पूरी नहीं हो सकती।

इष्टोपदेश ग्रन्थ सर्वार्थ सिद्धि के रचियता परमपूज्य 108 आचार्य पूज्यपाद स्वामी की 51 श्लोको की एक छोटी सी अत्यन्त उपयोगी आध्यात्मिक कृति है। इसका अंग्रेजी अनुवाद स्वर्गीय बैरिस्टर चम्पतराय जी ने किया है। जो विदेशों में काफी प्रचलित है। इन्हीं पर वर्णी जी के प्रवचनों का यह द्वितीय संस्करण आपके सामने है आशा है आप इनका उपयोग करके धर्म लाभ उठावेंगे।

मूल में शिष्य ने आचार्य प्रभु से प्रश्न किया कि प्रभु यदि अनुकूल चतुष्टय से ही साध्य की सिद्धि हो जायेगी तो व्रत समीति आदि का पालन निरर्थक हो जायेगा। आचार्य कहते हैं हे वत्स! व्रत समीति अदि नवीन शुभ कर्मों के बंध का कारण होने से तथा पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों का एक देश क्षय होने से पुण्य की उत्पत्ति होती है जो स्वर्गादि का कारण होता है अतः व्रतों के द्वारा देवपद प्राप्त करना अच्छा है अव्रतों के द्वारा नारक प्राप्त करने में तो कोई बुद्धिमानी है नहीं।

शिष्य के पुनः पुनः प्रश्न करने पर आचार्य समझाते हैं कि यदि आत्मा चरम शरीरी नहीं हो तो उसे स्वर्ग व चक्रवर्तादि के पद आत्मध्यान से उपार्जित पुण्य की सहायता से प्राप्त होते हैं जो परम्परा से मोक्ष ले जाने वाले हैं। अर्थात् चरम शरीरी न होने पर मोक्ष पुरुषार्थ भी स्वर्गादि सुखों का ही कारण है।

आचार्य कहते हैं कि शरीर से भिड़कर शुचि पदार्थ भी अशुचि हो जाते हैं फिर अशुचि से अशुचि के सेवन में क्या चतुराई है।

इस प्रकार पूज्य वर्णी जी ने इसका खुलासा करके सरल शब्दों में प्रशस्त प्रवृत्ति का बोध कराया है। अनेक विद्वानों व प्रवचनकारों ने इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है हम उन सबके आभारी हैं।

आप भी शास्त्रमाला के स्थायी ग्राहक (1000) में बन सकते हैं जो ग्रन्थ अब तक छपे हैं। या जो आइन्दा छपेंगे वे सब उनको निःशुल्क भेजे जाते हैं।

भवदीय

16-10-94

डा० नानकचन्द जैन

सान्तौल हाऊस, मौ० टटेरवाड़ा

मेरठ शहर

# इष्टोपदेश प्रवचन प्रथम भाग

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः ।

तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

**स्वभावप्राप्तिः** — समस्त कर्मों का अभाव होने पर जिसको स्वयं स्वभाव की प्राप्ति हो जाती है उस सम्यग्ज्ञानस्वरूप परमात्मा के लिए मेरा नमस्कार हो। इस मंगलाचरण में पूज्यपाद स्वामी ने अपने आशय के अनुकूल प्रयोजन से नमस्कार किया है। वे थे सम्यग्ज्ञान के पूर्ण विकास के इच्छुक, अतः नमस्कार करने के प्रसंग में सम्यग्ज्ञानस्वरूप परमात्मा पर दृष्टि गयी है। यह सम्यग्ज्ञानस्वरूपपना अन्य और कुछ बात नहीं है। जैसा स्वभाव है उस स्वभाव की प्राप्तिरूप है। जीव को ज्ञान कहीं कमाना नहीं पड़ता है कि ज्ञान कोई परतत्त्व हो और उस ज्ञान का यह उपार्जन करे, किन्तु ज्ञानमय ही स्वयं है इसके विकास का बाधक कर्मों का आवरण है। कर्मों का आवरण दूर होने पर स्वयं ही स्वभाव की प्राप्ति होती है।

**प्रभु की स्वयंभुता** — प्रभु के जो परमात्मत्व का विकास है वह स्वयं हुआ है, इसीलिए व स्वयंभू कहलाते हैं। जो स्वयं हो उसे स्वयंभू कहते हैं। स्वयं की परणति से ही यह विकास हुआ है, किसी दूसरे पदार्थ के परिणामन को लेकर यह आत्मविकास नहीं हुआ है और न किसी परद्रव्य का निमित्त पाकर यह विकास हुआ है। यह विकास सहज सत्त्व के कारण बाधक कारणों के अभाव होने पर स्वयं प्रकट हुआ है। इस ग्रन्थ के रचयिता पूज्य पाद स्वामी हैं। भक्तियों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जितनी भक्तियाँ प्राकृत भाषा में हैं उन भक्तियों के रचयिता तो पूज्य कुन्दकुन्द स्वामी हैं और जितनी भक्तियाँ संस्कृत में हैं उनके रचयिता पूज्यपाद स्वामी हैं। ये सर्व विषयों में निपुण आचार्य थे। इनके रचे गए वेद्यक ग्रन्थ, ज्योतिषग्रन्थ, व्याकरण ग्रन्थ आदि भी अनूठे रहस्य को प्रकट करने वाले हैं। इस ग्रन्थ का नाम इष्टोपदेश कहा गया है। इस ग्रन्थ के अंत में स्वयं ही आचार्य देव ने "इष्टोपदेश इति" ऐसा कहकर इस ग्रन्थ का नाम स्वयं इष्टोपदेश माना है।

**इष्ट का उपदेशः** — इस ग्रन्थ में इष्ट तत्त्व का उपदेश है। समस्त जीवों को इष्ट क्या है? आनन्द। उस आनन्द की प्राप्ति यथार्थ में कहाँ होती है और उस आनन्द का स्वरूप क्या है? इन सब इष्टों के सम्बन्ध में ये समस्त उपदेश हैं। आनन्द का सम्बन्ध ज्ञान के साथ है, धन वैभव आदि के साथ नहीं है। ज्ञान का भला बना रहना, ज्ञान में कोई दाष और विकार न आ सके, ऐसी स्थिति होना इससे बढ़कर कुछ भी वैभव नहीं है, जड़ विभूति तो एक अंधकार है। उस इष्ट आनन्द की प्राप्ति ज्ञान की प्राप्ति में निहित है और इस ज्ञान की प्राप्ति का उद्देश्य लेकर यहाँ ज्ञानमय परमात्मा को नमस्कार किया है। स्वभाव ही ज्ञान है। आत्मा का जो शुद्ध चैतन्यरूप निश्चल परिणाम है, जो स्वतंत्र है, निष्काम है, रागद्वेष रहित है, उस स्वभाव की प्राप्ति स्वयं ही होती है, ऐसा कहा है।

**उपयोग से स्वभाव की प्राप्ति** — भैया ! स्वभाव तो शाश्वत है किन्तु स्वभाव की दृष्टि न थी पहिले और अब हुई है, इस कारण स्वभाव की प्रसिद्धि को स्वभाव की प्राप्ति

कहते हैं। स्वभाव की प्राप्ति में कारण कुछ नहीं है, एक कर्मों का अभाव ही कारण है, विधिरूप कारण कुछ नहीं है किन्तु स्वभाव की दृष्टि न हो सकने में कारण था कर्मों का उदय इस कारण कर्मों के अभाव को स्वभाव की प्राप्ति का कारण कहा है। स्वभाव की प्राप्ति होने के बाद अनन्तकाल तक स्वभाव बना रहता है, विकसित रहता है, प्राप्त रहता है। वहाँ कौन सा कारण है, न कोई विधिरूप और न कोई निषेधरूप। वहाँ तो धर्म आदि द्रव्य जैसे स्वभाव से अपने गुणों में परिणते रहते हैं। ऐसे ही ये सिद्ध संत भगवंत अपने ही गुणों में स्वभावतः अपने सत्व के कारण शुद्धरूप से परिणमते रहते हैं पर प्रथम बार की प्राप्ति कर्मों के अभाव को निर्मित पाकर हुई है। जिस समय तपश्चरण आदि योग्य स्थितियों के धारणा से ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मों का क्षय हो जाता है और रागद्वेषादिक भाव कर्मों का क्षय हो जाता है तब यह आत्मा सम्यग्ज्ञानस्वरूप इस चिदानन्द ज्ञानघन निश्चल टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव को प्राप्त कर लेता है।

**स्वभाव की सहजसिद्धता का एक दृष्टान्त** – स्वभाव कहीं से लाकर नहीं पाना है वह तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल है। जैसे पाषाण की प्रतिमा पहिले एक मोटा पाषाण ही था। किसी धर्मात्मा को कारीगर से उस पाषाण में से प्रतिमा निकलवानी है। कारीगर बड़ी गौर से उस पाषाण को देखकर ज्ञानबल से उस पाषाण में प्रतिबिम्ब का दर्शन कर लिया है, उसने आँखों से नहीं उस प्रतिमा के दर्शन कर लिया, किन्तु ज्ञान से। अब उस प्रतिमा को अनुरागवश प्रकट करने के लिए कारीगर अलग करता है, जिन पत्थरो के टुकड़ों के कारण वह प्रतिमा किसी को नजर नहीं आ रही है उन टुकड़ों को यह कारीगर अलग करता है, कारीगर को सब विदित है।

**आवरकों के अभाव में अन्तःस्वरूप के विकास का दृष्टान्तमर्म** – यह कारीगर उन खण्डों को पहिले साधारण सावधानी के साथ अलग करता है। सावधानी तो उसके अन्दर में बहुत बड़ी है, किन्तु वहाँ इतनी आवश्यक नहीं समझी सो बड़ी हथौड़ा से उन खण्ड को जुदा करता है। मोटे-मोटे खण्ड जुदे होने पर अब उसकी अपेक्षा विशेष सावधानी बर्तता है, उससे कुछ पतली छेनी और कुछ हल्की हथौड़ी लेकर कुछ सावधानी के साथ उन पाषाण खण्डों को निकालता है। तीसरी बार में अत्यन्त अधिक सावधानी से और बड़े सूक्ष्म यत्न से बहुत महीन छेनी को लेकर और बहुत छोटे हथौड़े को लेकर अब उन सूक्ष्म खण्डों को भी अलग करता है, अलग हो जाते हैं ये सब आवरक पाषाण, खण्ड तो वे अवयव प्रकट हो जाते हैं जिन अवयवों में मूर्ति का दर्शन हुआ है। कारीगर ने मूर्ति बनाने के लिए नई चीज नहीं लाई, न वहाँ के किन्ही तत्वों को उसने जोड़ा है, केवल जो प्रतिमा निकली है उस अवयवों के आवरक या खण्डों को ही उसने अलग किया है। वह प्रतिमा तो स्वयंभू है, किसी अन्य चीज से बनी हुई नहीं है।

**आवरकों के अभाव में अन्तःस्वरूप का विकास** – ऐसे ही जो सम्यग्दृष्टि इस चैतन्यपदार्थ में अतः स्वभाव के दर्शन कर लेते हैं उनके यह साहस होता है कि इस स्वभाव को वे प्रकट कर लें। इस स्वभाव के प्रकट होने का ही नाम परमात्मस्वरूप का प्रकट होना है। स्वभाव प्रकट करने के लिए किन्ही परतत्वों को नहीं जोड़ना है, किन्तु उस स्वभाव को

आवरण करने वाले जो विभाव है, रागद्वेष विषयकषाय शल्य आदि जितने विभाव है। उन सबको वह दूर करता है। कैसे वह दूर करता है? स्वभाव में और उन पर भावों में भेदज्ञान का उपयोग करके करता है।

**ज्ञानी की सावधानी सहित वर्तना** – भेदविज्ञान के यत्न में इस ज्ञाता के पहिले तो एक साधारण सावधानी होती है जिसमें यह इस शरीर से भिन्न आत्मा को परखता है। यद्यपि अन्तर में सावधानी का माद्दा वही पूर्णरूपेण पड़ा हुआ है लेकिन अत्यन्त अधिक सावधानी की आवश्यकता नहीं रहती है किन्तु उसकी आंतरिक सावधानी का सम्बंध रखकर जो साधारण सावधानी चलती है उससे ही शरीर और आत्मा में भेद की परख हो जाती है, यह पहिली सावधानी है। इसके पश्चात् अंतरंग में एक क्षेत्रावगाह से पड़े हुए जो अन्य सूक्ष्म कार्माण आदि पुद्गल द्रव्य है, जिनका इस आत्मा के साथ निमित्तनैमित्तिक बंधन है उन कार्माण द्रव्यों से भी अपने को जुदा कर लेता है। इसके पश्चात् तिसरी सावधानी में कुछ विशेष ज्ञानबल लगाना है। प्रवर्तते हुए रागद्वेषादिक भावों से यह पृथक है, इनसे भिन्न यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूँ ऐसा भेद डालना निरखना यह सूक्ष्म सावधानी का काम है। जहाँ रागद्वेष विषय कषायों की कल्पनाएँ ये दूर हुईं कि अपने आप में बसा हुआ यह ज्ञायकस्वरूप स्वयं विकसित हो जाता है। इसी कारण यह तत्त्वप्रभु परमात्मा स्वयंभू कहलाता है।

**परमात्मा की प्रभुता और विभुता** – इस परमात्मा का नाम प्रभु भी है। जो प्रकृष्ट रूप से हो उसे प्रभु कहते हैं। संसार अवस्था में किसी विशिष्ट रूप रह रहा था, अब वह विशिष्ट दशा को त्याग कर ज्ञानोपयोग में बसने रूप उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो रहा है। यह प्रभु कहलाता है यह परमात्मा विभु भी कहलाता है। जो व्यापकरूप से हो उसे विभु कहते हैं। यह ज्ञानस्वरूप परमात्मा ज्ञान द्वारा समस्त लोक और अलोक में व्यापक है, इसी कारण इस परमात्मा का नाम विभु है और इस ही परमात्मा को स्वयंभू कहते हैं। जो यह विकास स्वयं प्रकट हुआ है। परमात्मा का दर्शन ज्ञानरूप में ही किया जा सकता है और परमात्मा के दर्शन में ही वास्तविक शान्ति मिलती है। अधिक से अधिक समय इस ज्ञानमय परमात्मतत्त्व के दर्शन के लिए लगाएँ, इस ही को व्यवहार धर्म की उन्नति कहते हैं।

**ज्ञानस्वरूप के दर्शन से जीवन की सफलता** – भैया ! साधुजन तो चौबीस घंटा इस ही परमात्मतत्त्व के दर्शन के लिए लगाते हैं। और फिर श्रावकों में भी उत्कृष्ट श्रावकजन अपना बहुत समय इस परमात्मतत्त्व के दर्शन में लगाते हैं। और उससे भी कुछ नीचे श्रावकजन भी और विशेष नहीं तो 5-5 घंटे बाद समझिये सामायिक के रूप में अपने परमात्मा दर्शन के लिये सावधान बनाते हैं। इस मनुष्य भव को पाकर करने योग्य काम एक यही है। अन्य-अन्य कार्यों में व्यस्त होने से तत्त्व की बात क्या मिल जायगी? इसकी प्रगति तो रत्नत्रय की प्रगति में है जितना अधिक काल ज्ञानस्वरूप अपने आपको निरखने में जाय उतना काल इसका सफल है। ज्ञान के रूप में परमात्मा का दर्शन होता है, ज्ञान के रूप में अपने आत्मा का अनुभव होता है और विशुद्ध ज्ञान की परिणति के साथ आनन्द का विकास चलता है, इसी कारण परमात्मा को सम्यग्ज्ञान स्वरूप की मुद्रा में निरखा जा रहा है।

**आदर्श** – जो जिसका रुचिया होता है वह उसका संग करता है, वह उसकी धुन बनाता है, उसको उस ही मार्ग का आप्त अर्थात् पहुँचा हुआ पुरुष आदर्श है, खोटे कार्यो में लगने वाले पुरुष को खोटे कार्यो में निपुण लोग आदर्श हैं और आत्महित की अभिलाषा करने वाले मनुष्य के आत्महित में पूर्ण सफल हुए शुद्ध आत्मा आदर्श है। जो जिस तत्व का अभिलाषी होता है वह उस तत्व का ही यत्न करता है। अपने आपके ज्ञानस्वरूप निरखे बिना न तो परमात्मदर्शन में सफलता हो सकती है और न आत्मानुभव में सफलता हो सकती है। ये कषाय भी इस ही शुद्ध ज्ञानस्वरूप की दृष्टि के बल से मंद होती है। कषायो का विनाश भी इस ही स्वभाव के अवलम्बन से होता है क्योंकि यह स्वभाव स्वयं निष्कषाय है, निर्दोष है। इस स्वभाव की उपासना करने वाले संतजन सदा प्रसन्न रहते हैं। वे परपदार्थो के किसी भी परिणमन से अपना सुधार और बिगाड़ नहीं समझते हैं। वे सदा अनाकुल रहते हैं, परम विश्राम का साधन जो स्वतंत्र अकर्ता अभोक्ता प्रतिभात्मक तत्व है उसकी दृष्टि हो, न हो तो अनाकुलता वहाँ कैसे प्रकट हो ? जो अपने को अन्य किसी रूप मान लेते हैं वे जिस रूप मानते हैं उसकी और उनकी प्रगति हो जाती है।

**स्वभावप्राप्ति के अन्तर्बाह्य साधन** – द्रव्यकर्मो का अभाव होने पर स्वभाव की प्राप्ति कहना एक निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध की बात बताना है और रोगद्वेष आदि भावकर्मो का अभाव होने पर स्वभाव के प्रकट होने की बात कहना यह प्रागभाव प्रध्वंसाभावरूप में कथन है अर्थात् हमारे विकास का साक्षात् बाधक भावकर्म है, द्रव्यकर्मो तो हमारे बाधको का निमित्त कारण है। स्वभाव की प्राप्ति इन समस्त कर्मो का अभाव होने पर होती है। जब स्वभाव की प्राप्ति हो लेती है तब उनका स्वरूप विशुद्ध सम्यग्ज्ञानमय होता है, ऐसे ज्ञानात्मक परमात्मा को हमारा नमस्कार हो, वे सदा जयवंत रहें और उनके ध्यान के प्रसाद से मुझमें अतः विराजमान परमात्मतत्व जयवंत होओ। अन्तः प्रकाशमान यह परमात्मतत्व व्यक्तरूप से प्रकाशमान हो जावे – यही स्वभाव की परिपूर्ण प्राप्ति है। इस स्वसमयसार को मेरा उपासनात्मक नमस्कार होओ।

**योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता ।**

**द्रव्यादिस्वादिसम्पत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥**

**स्वभावावाप्तिका विधिरूप अन्तरंग कारण** – पहिले श्लोक में आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति का उपाय निषेध रूप कारण से बताया गया था अर्थात् समस्त कर्मो का अभाव होने पर स्वभाव की स्वयं प्राप्ति हो जाती है, इस तरह निषेध रूप कारण बताकर अमेद स्वभाव की प्राप्ति कही गयी थी, अब इस श्लोक मकें विधिरूप कारण बताते हैं। जैसे योग्य अपादान के योग से एक पाषाण में जो कि स्वर्ण के योग्य है जिसे स्वर्णपाषाण कहते हे। उसमें स्वर्णपना माना गया है अर्थात् प्रकट होता है, इस ही प्रकार जब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के योग्य सामग्री विद्यमान हो जाती है तो इस आत्मा में निर्मल चैतन्यस्वरूप आत्मा की उपलब्धि होती है।

**स्वभावावाप्ति के अन्तरंग कारण का दृष्टान्तपूर्वक समर्थन** – दृष्टान्त में यह कहा गया है कि जैसे खान से निकलने वाले स्वर्णपाषाण में स्वर्णरूप परिणमन का कारण भूत जब वह सुर्योग्य होता है तो बाह्य में कारीगरों द्वारा ताड़ना, तापना, पिटना, आदि प्रयोगों से वह स्वर्णपाषाण से अलग होकर केवल स्वर्ण कहलाने लगता है। अब उस स्वर्ण में स्वर्णपाषाण का व्यवहार नहीं रहता। वह तो सोना हो गया है, इस ही प्रकार अनादिकाल से कर्ममल से मलिन हुआ संसारी आत्मा के जब योग्य द्रव्य, योग्य क्षेत्र, योग्य काल और योग्य भावरूप साधनों की उपलब्धि होती है तो बाहरी तपस्या, धर्म पालन आदि जो बाह्य विशुद्धि के साधन कहे गए हैं, उन साधनों के अनुष्ठान से, आत्मध्यान के प्रयोग से कर्मईधन भस्म हो जाते हैं और स्वात्मा की उपलब्धि हो जाती है। अपने आत्मा के लिए अपना आत्मा योग्यद्रव्य कैसा होता है जिसमें शुद्ध परिणमने के योग्य परिणमन शक्ति आने लगती है।

**उपादानभूत द्रव्य की योग्यता** – इसे सुनिये द्रव्य में 2 प्रकार की शक्ति है – एक ध्रुव शक्ति और एक अध्रुव शक्ति। द्रव्य में शाश्वत सामान्य परिणमनरूप शक्ति तो ध्रुव शक्ति है और वह द्रव्य कब किस प्रकार परिणमने की योग्यता रखता है ऐसी शक्ति को पर्यायशक्ति कहते हैं। जैसे जीव में ज्ञान दर्शन आदि सामान्यशक्ति ध्रुवशक्ति है और मनुष्य के योग्य काम कर सके ऐसा बोले चाले खाये पिये व्यवहार करे, इस तरह के रागदिक भाव हो इस पद्धति की जैसी मनुष्यों के शक्ति होती है यह सब पर्यायशक्ति है। यह अध्रुव है, इस तरह की योग्यता मनुष्य के रहना ठीक ही है, मनुष्य मिट गया फिर यह प्रकृति नहीं रहती। तो जब कल्याणरूप परिणमन की योग्यता आती है तो वह है योग्य पर्यायशक्ति वाला द्रव्य। यह तो आंतरिक बात है। बाह्य में योग्य गुरुजन, योग्य उपदेशक इत्यादि पदार्थों का समागम मिलता है और उस वातावरण में, उस समागम में जो विशुद्धि हो सकती है उस विशुद्धि के लिए वे योग्य द्रव्य कारण पड़ते हैं। बाह्य में भी योग्य द्रव्य मिल जायें और अंतरंग योग्य होने की पर्यायशक्ति प्रकट हो जाय ऐसे योग्यद्रव्य का उपादान होने पर अपने आप में स्वभाव की प्राप्ति स्वयं हो जाती है।

**कल्याण योग्य क्षेत्र काल भाव की प्राप्ति** – योग्य क्षेत्र अपने आप में उस प्रकार की विशुद्धि के योग्य यह आत्म पदार्थ हुआ, तो इस ही को एक आधार की प्रमुखता से निरखा जाय तो उसे योग्य क्षेत्र कहते हैं और बाहर में योग्य स्थान – जैसे समवशरण का स्थान या अन्य कोई धर्म प्रभावक स्थान है। ऐसा योग्य क्षेत्र मिलने पर इसकी दृष्टि इस स्वभाव के निरखने की हो जाती है और वहां स्वभाव की प्राप्ति मानी गयी है। योग्य काल क्या है? अपने आपके शुद्ध परिणमन होने के लिए जो प्रथम पर्याय है, परिणमन है वह निजका योग्य काल है, और बाहर में धर्म समागम वाले काल, चतुर्थकाल तीर्थकरों के वर्तने का काल, ये सब योग्य काल कहलाते हैं, योग्यकाल की प्राप्ति होने पर इस आत्मा के स्वभाव की उपलब्धि होती है। इस ही प्रकार योग्यभाव अंतरंग में जो स्वभाव भाव है वह तो शाश्वत योग्यभाव है, उस स्वभाव भाव के विकास होने रूप जो कुछ पर्याय योग्यता है, भव्यत्व भाव है, भव्यत्वभाव के विपाक होने के काल में जो योग्य विशुद्ध परिणाम है वह शुद्ध विशुद्ध परिणाम योग्य भाव कहलाता है।

**शुद्ध दृष्टि में आत्मा की व्यक्ति** – उक्त प्रकार से योग्य निज द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की प्राप्ति होने पर आत्मा में आत्मता प्राप्त होती है। जैसे लोग कहते हैं कि इन्सान वही है जिसमें इन्सानियत है। भला, इन्सानियत बिना भी कोई इन्सान होता है? नहीं होता है यहाँ इन्सानियत को केवल ईमान की चीज इतना ही अर्थ न किया जाय अर्थात् जिन परिणामों से इन्सान की शोभा है, इन्सानियत की प्रगति है उन परिणामों का नाम इन्सानियत कह लीजिए तो यह वाक्य प्रयोग में आने लगेगा कि जिसमें इन्सानियत नहीं है, वह इन्सान ही नहीं है। इस इन्सान में इन्सानियत प्रकट हुई है तो क्या पहिले कभी इन्सानियत न थी? थी, किन्तु इन्सानियत का अर्थ भले प्रकार के आचार विचार वाले परिणाम है, वे अब प्रकट हुए हैं। ऐसे ही यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मा से आत्मता प्रकट होती है। तो क्या यह आत्मता आत्मा से भिन्न थी? न थी, फिर भी आत्मा उसको माना गया है आदर दृष्टि में आ करके जो शुद्ध स्वभाव की दृष्टि करता है, मोक्षमार्ग में अपना कदम रखता है, ऐसे मोक्षमार्गी जीव को आत्मा शब्द से पुकारे और मोक्षमार्ग में चलने की जो पद्धति है उसको आत्मता माने तो यह आत्मता आत्मा से प्रकट होती है अर्थात् बहिरात्मत्व से निवृत्त होकर यह अन्तरात्मत्व प्रकट होता है। बहिरात्मत्व का परिहार होकर यह विवेक, उपयोग प्रकट होता है। अहिंसा आदि व्रतों का भली प्रकार पालन करने से स्वरूप की प्राप्ति होती है, यह सिद्धान्त सम्मत है।

**एक जिज्ञासा** – यदि उत्तम द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री मिलने से ही स्वरूप की उपलब्धि हो जाय तो अहिंसा आदि व्रतों का करना व्यर्थ हो जायगा। एक यहाँ जिज्ञासा उत्पन्न हो रही है कि ऐसा सिद्धान्त बनाने में कि जब योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की, सामग्री मिलेगी तो स्वयं ही स्वरूप की प्राप्ति होगी, तब क्या तप करना, व्रत संयम करना, ये सब व्यर्थ की चीजें किसलिए की जाती हैं? समाधान में यह कह रहे हैं कि यहाँ यह नहीं समझना कि बाह्य व्रत तप संयम और अंतरंग व्रत, तप, संयम को निरर्थक कहा गया है। स्वरूप की प्राप्ति के उद्यम में व्रत आदि का पालना निरर्थक नहीं है। उनके यथायोग्य पालन करने से पापकर्मों का निरोध हो जाता है और पहिले बंधे हुए कर्म निर्जरा को प्राप्त होते हैं। उनके और शुभोपयोगरूप परिणामते हुए के पुण्यकर्म का संचय होता है। जिसके उदयकाल में इष्ट सुखों की प्राप्ति अनायास हो जाती है इसी तरह योग्य चतुष्टयरूप उपादान के रहते हुए भी व्रतों का पालना निरर्थक नहीं है, इस बात को और स्पष्ट रूप से कह रहे हैं।

**वरं वृतैः पदं दैवं नाब्रतैवर्त नारकम् ।**

**छायातपस्थयोभेदः प्रतिपालयतोर्महान् ।।३।।**

अव्रतभाव से व्रतभाव की श्रेष्ठता – जैसे कोई पुरुष छाया में बैठकर अपने किसी दूसरे साथी की बात जोहे और कोई अन्य पुरुष गर्मी की धूप में बैठकर अपने साथी की बात जोहें, उन दोनों बात जोहने वालों में कुछ फर्क भी है कि नहीं? फर्क है वह फर्क यही है कि छाया में बैठकर जो अपने दूसरे साथी की राह देखता है वह पुरुष छाया में तो है, उसे छाया शान्ति तो दे रही है, और जो धूप में बैठा हुआ साथी की बात जोह रहा है उसे



धूप से कष्ट हो रहा है। इसी तरह व्रत के अनुष्ठान से स्वर्ग आदि सुखों की वर्तना के बाद मोक्ष प्राप्त होता है और अव्रत से पहिले नरक के दुःख भोगने पड़ते हैं, फिर बात ठीके बने तो वर्तना के बाद मोक्ष प्राप्त होता है और अव्रत से पहिले नरक के दुःख भोगने पड़ते हैं, फिर बात ठीक बने तो मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्ति जाने वाले मानों दो जीव हैं, जायेंगे वे मुक्त, पर एक व्रताचरण में रह रहा है तो वह स्वर्ग आदि के सुख भोगकर बहुत काल तक रहकर मनुष्य बनकर योग्य करनी से मोक्ष जायगा। और कोई पुरुष पाप कर रहा है, अव्रतभाव में है। तो पहिले नरक के कष्ट भोगेगा, नरक के दुःखो को भोगकर फिर मनुष्य अपनी योग्य करनी से मोक्ष जा सकेगा। सो व्रत आदि करना निरर्थक नहीं है, वह जितने काल संसार में रह रहा है उतने काल सुख और शान्ति का किसी हद तक कारण तो यह व्रत बन रहा है।

**व्रत की सार्थकता** – यहाँ यह शंका की गई थी कि द्रव्य आदि चतुष्टय रूप सामग्री के मेल से आत्मस्वरूप की उपलब्धि हो जायगी तब ऐसे तो व्रत आदि का पालन करना व्यर्थ ही ठहरेगा। इस पर यह समाधान दिया गया है कि व्रतो का आचरण करना व्यर्थ नहीं जाता क्योंकि अव्रत रहने से अनेक तरह के पापो का उर्पाजन होता है, और उस स्थिति में यह हित और अहित में विवेक से शून्य हो जाता है। पाप परिणामो में हित और अहित का विवेक नहीं रहता, तब फिर यह बढ़कर मिथ्यात्व आदि पापो में भी प्रवृत्ति करने लगता है, तब होगा इसके अशुभकर्म का बंध। उसके फल में क्या बीतेगी? उस पर नारकादिक की दुर्गतियां आयेंगी, घारे दुःख उठाना पड़ेगा, अव्रत परिणाम में यह अलाभ है किन्तु व्रत परिणाम में अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रहाचर्य, परिग्रह त्याग की विशुद्धि प्राप्त होने से नारकादिक दुर्गतियों के घोर नष्ट नहीं सहने पड़ते हैं। क्योंकि जो व्रतो के वातावरण में रहता है उसे हित और अहित का विवेक बना रहता है, पापो से वह भयभीत बना रहता है और आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए वह सावधान बना रहता है। होता क्या है कि व्रती पुरुष परलोक में स्वर्ग आदि के सुखो को चिरकाल भोगते हैं। चिरकाल सुख भोगने के बाद क्षय होने पर ये मनुष्य बनते हैं और यहाँ भी योग्य जीवन व्यतीत करते हुए ये कर्मों का क्षय कर देते हैं और भावातीत बन जाते हैं व्रत और अव्रत में तो शान्ति अशान्ति तत्काल का भी फर्क है।

**व्रत कभी व्यर्थ नहीं जाता** – भैया ! जो वास्तविक पद्धति से व्रती होता है वह अशांत नहीं होता है किन्तु जो व्रती का बाना तो रख ले, पर अंतरंग में व्रत की पद्धति नहीं है, संसार शरीर और भोगो से विरक्ति नहीं है तो उस पुरुष को इन व्रतो से लाभ नहीं पहुंचता। वह व्रती हीं कहाँ है? वह तो अपने अंतरंग में अज्ञान का अंधेरा लादे है, इसी से वह दुःखी है, अशान्त है, व्रत करना तो कभी व्यर्थ नहीं जाता।

**सदाचार से दोनो लोक में लाभ** – एक बार किसी पुरुष ने एक शंका की कि परभव को कौन देख आया है कि परभव होता है या नहीं, उस परभव का ख्याल कर करके वर्तमान में क्यो कष्ट भोगा जाय? कम खावो, गम खावो, व्रत करो, अनेक कष्ट भोगे जायें इनसे क्या लाभ है? तो दूसरा पुरुष जो परभव को मानने वाला था वह कहता है कि

भाई तुम्हारा कहना ठीक है कि परभव नहीं है किन्तु अब हम लोगो को करना क्या है? सत्य बोलें, कुशील से बचे, परिग्रह का संचय न करे, अहिंसा का पालन करे, किसी जीव को न सताये, यह करना है ना, तो देखो ऐसा योग्य व्यवहार जो करता है उस पर क्या दुनिया ने कोई आफत डाली है? जो चोर होते हैं झूठे व दगाबाज होते हैं, कुशील परिणामी होते हैं, परिग्रह के संचय का भाव रखते हैं ऐसे पुरुष पिटते हैं, दंड पाते हैं। तो अच्छे कामों के करने से इस जीवन में सुख है। यह तो केवल कहने कहने की बात है कि खूब आराम से स्वच्छन्द रहे, जब मन आये खाये, जब जो मन आये सो करे। मनुष्य जन्म पाया है तो खूब भोग भोगे, वे इनमें सुख की बात बताते हैं किन्तु सुख उन्हें है नहीं। आनन्द जिसे होता है वह अक्षुब्ध रहता है। वेषयिक सुखो की प्राप्ति के लिए तो बड़े क्षोभ करने पड़ते हैं और जब कभी सुख मिल भी जाय तो उस सुख का भोगना क्षोभ के बिना नहीं होता। उस सुख में भी इस जीव ने क्षोभ को भोगा, शान्ति को नहीं भोगा। तो उत्तम व्रत आचरण करने से वर्तमान में भी सुख शान्ति रहती है और यदि परभव निकल आये तो परभव के लिये वह योग्य काम होता ही है, किन्तु पाप दुराचार के बर्ताव से इस जीवन में भी कुछ सुख-शान्ति नहीं मिलती और परभव होने पर परभव में जाना पड़े तो वहाँ पर भी अशान्ति के ही समागम मिलेंगे, इस तरह व्रतो का अनुष्ठान करना व्यर्थ नहीं है।

**सुविधासमागम से अपूर्व लेने का अनुरोध** – अरे भैया ! भली स्थिति में रहकर मोक्षमार्ग का काम निकाल लो। पापप्रवृत्ति में रहने से प्रथम तो मोक्षमार्ग में अन्तर पड़ जाता है और दूसरे तत्काल भी अशान्ति रहती है इस कारण ये व्रत आदि परिणाम मोक्षमार्ग के किसी रूप में सहायक ही है, ये व्यर्थ नहीं होते हैं, लेकिन यह बात अवश्य है कि मोक्षमार्ग शुद्ध दृष्टि से ही प्रकट होता है, अर्थात् सम्यक्त्व हो, आत्मस्वभाव का आलम्बन हो तो मोक्षमार्ग प्रकट होता है। जिस आत्मा के आलम्बन से मोक्षमार्ग मिलता है वह आत्मा पाप पुण्य सर्व प्रकार के शुभ-अशुभ उपयोगो से रहित है, ऐसे अविकारी आत्मा में उपयोग लगाने से यह अविकार परिणमन प्रकट होता है। आनन्द है अविकार रहने में। ममता में, कषाय में, इच्छा में, तृष्णा में शान्ति नहीं है। ऐसे इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मा का आलम्बन हो और बाहा में योग्य व्रत आदि हो, ऐसे जीवों को स्वभाव की प्राप्ति होती है।

यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियदूदरवर्तिनी ।

यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशाद्धं किं स सीदति ।।४।।

**शान्तिबललाभ के लिये क्लेशो के सिलसिला की सुध** – संसार में नाना प्रकार के क्लेश भरे हुए हैं। किसी भव मं जावो, किसी पद में रहो, संसार के सभी स्थानों में क्लेश ही क्लेश हैं। कोई धनी हो तो वह भी जानता है कि मुझे सारे क्लेश ही क्लेश हैं, बाहा पदार्थों की रक्षा, चिन्ता जो अपने वश की बात नहीं है उसे अपने वश की बात बनाने का संकल्प, इस मिथ्याश्रय मं क्लेश ही क्लेश है। कोई धनी न हो, निर्धन हो तो वह भी ऐसा जानता है कि मुझे क्लेश ही क्लेश है। कोई संतानवाला है तो वह भी कुछ समय बाद समझ लेता है कि इन समागमों में भी क्लेश ही क्लेश है। ने हो कोई संतान तो वह भी अपने में दुख मानता है कि मुझे बहुत क्लेश है। तब और कौन सी स्थिति ऐसी है जहाँ

क्लेश न हो? संसार में है कुछ ऐसा जो लोग देश के नेता हो जाते हैं अथवा ऊँचे अधिकारी हो जाते हैं उनके भी संकटों को देख लो, वे कितनी बेचैनी में रहते हैं। संसार की किसी भी दृष्टि में चैन नहीं है। ऐसा जानकर अपने को यों ही समझो कि जब यह संसार की दशा है तो इसमें ऐसा होना ही है। दुःख आयें तो उनमें क्या घबडाना?

**कष्ट में यथार्थ सुध से कष्ट सहिष्णुता का लाभ**— एक कोई सेठ था, उसे किसी अपराध में जेल कर दी गयी। अब जेल में तो चक्की पीसनी पड़ती है। जेल में उस सेठ को सब कुछ करना पड़े तो सेठ सोचता है कि कहाँ तो मैं गद्दा तक्की पर बैठा रहा करता था, आज इतने काम करने पड़ते हैं। वह बहुत दुःखी हो रहे। इसी तरह सोच-सोचकर वह सदा दुःखी रहा करे। तो एक कोई समझदार कैदी था, उसने समझाया कि सेठ जी यह बतावो कि इस समय तुम कहाँ हो? बोला जेल में। तो जेल में और घर में कुछ अन्तर है क्या? हाँ अन्तर है। यहाँ जेल में सब कुछ करना पड़ता है और वहाँ आराम भोगना होता है। तो सेठ जी अब वहाँ का नाता न समझो, अब अपने को यहाँ सेठ न समझो। यह तो जेल है, ससुराल नहीं है। जेल में तो ऐसा ही काम करना होता है। समझ में कुछ लगा और उसे दुःख कम हो गया। ऐसे ही कितने ही संकट आये, यह समझो कि यह संसार तो संकट से भरा हुआ है। यहाँ तो संकट मिला ही करते हैं। इतनी भर समझ होने पर सब संकट हल्के हो जाते हैं। और जहाँ यह जाना कि यह आया मुझ पर संकट तो इस प्रकार की अनुभूति से संकट बढ़ जाते हैं।

**संकट मुक्ति का उपाय** — समस्त संकटों के मेटने का उपाय क्या है? लोग बहुत उपाय कर रहे हैं संकट मेटने का, कोई धन कमाकर, कोई परिवार जोड़कर, कोई कुछ करके, किन्तु जैसे ये प्रयत्न बढ़ रहे हैं वैसे ही दुःख और बढ़ते जा रहे हैं। सच बात तो यह है कि संकट मेटने का उपाय बाह्य वस्तु का उपयोग नहीं है। अपना मुख्य काम है अपने को ज्ञान और आनन्दस्वरूप मानना। यह शरीर भी मैं नहीं हूँ—ये विचार विकल्प जो कुछ मन में भरे हुए हैं। ये भी मैं नहीं हूँ मैं केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। इस प्रकार अपने आपकी प्रतीति हो तो शान्ति का मार्ग मिलेगा। बाह्य पदार्थों का उपयोग होने से आनन्द नहीं मिल सकता है।

**आनन्द विकास के पथ में व्यवहार और निश्चय पद्धति** — उस यथार्थ आनन्द को प्रकट करने के लिए दो पद्धतियों को लिया जाना चाहिए— एक व्यवहार पद्धति और एक निश्चय पद्धति। जैसे हिंसा झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह का त्याग कर देते हैं, और भी मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्तियाँ कर रहे हैं ये सब व्यवहार पद्धति की बातें हैं। निश्चय पद्धति में अपने आपके सहजस्वरूप का ही अवलोकन है। इन दो बातों में से उत्कृष्ट बात अपने आत्मा के सहज स्वभाव के परख की है, इसमें जो अपना परिणाम लगाते हैं। उन्हें जब मोक्ष मिल जाता है इन परिणामों से तो इससे स्वर्ग मिल जाय तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। जो मनुष्य किसी भार को अपनी इच्छा से, बहुत ही सुगमता और शीघ्रता से दो कोश तक ले जाता है वह उस भार को आधा कोश ले जाने में क्या खेद मानता है? वह तो उस आधा कोश को गिनती में ही नहीं लेता है, शीघ्र उस भार को ले जाता है। यों ही

जिस भाव में मोक्ष प्राप्त करा देने की सामर्थ्य है वह कौन सा भाव है जिस भाव पर दृष्टि देने से स्वर्ग भी मिल जाता है। यों ही जिस भाव में मोक्ष प्राप्त करा देने की सामर्थ्य है वह कौन सा भाव है जिस भाव पर दृष्टि देने से स्वर्ग भी मिल जाता है और मोक्ष भी मिलता है? अपने—अपने पद और योग्यता के अनुरूप वह भाव है अपने आपकी सच्ची परख। जो पुरुष अपनी परख नहीं कर पाते वे कितनी ही लोक चतुराई कर लें पर शांति नहीं मिल सकती। इस तरह सबसे पहिले अपनी सच्ची श्रद्धा करना जरूरी है मैं पुरुष हूं, मैं स्त्री हूं, मैं अमुक की चाची हूं, अमुक की मां हूं, अमुक का चाचा हूं, इत्यादि किसी भी प्रकार की अपने में जो श्रद्धा बसा रखी है उसका फल क्लेश ही है। कहाँ तो अपने भगवान तक पहुंचना था और कहाँ इस शरीर पर ही दृष्टि रख रहे हैं।

**दृष्टिकी परख** – एक राजसभा में बड़े—बड़े विद्वान आये थे। वहाँ एक ऋषि पहुंचा जिसके हाथ पैर, पीठ, कमर सभी टेढ़े थे और कुरूप भी था। वह व्याख्यान देने खड़ा हुआ तो वहाँ बैठे हुए जो पंडित लोग थे वे कुछ हँसने लगे क्योंकि सारा अंग टेढ़ा था। वह विद्वान ऋषि उन पंडितों को सम्बोधन करके बोला—हे चमारो! सब लोग सुनकर दंग रह गये कि यह तो हम सभी लोगों को चमार कहते हैं। खैर, वह स्वयं ही विवरण करने लगा। चमार उसे कहते हैं जो चमड़े की अच्छी परख कर लेता है, तो यहाँ आप जितने लोग मौजूद हैं सब लोग हमारे चमड़े की परख कर रहे हैं। आप लोग हमारे शरीर का चमड़ा निरख कर हंस रहे हैं, तो जो चमड़े की परख करना जाने कि कौनसा अच्छा चमड़ा है और कौन सा खराब चमड़ा है उसका ही तो नाम चमार है। तो सभी लोग लज्जित हुए? अब अपनी अपनी बात देखो कि हम चमड़े की कितनी परख करते हैं और आत्मा की कितनी परख करते हैं? इसमें कुछ डरकी बात नहीं है, अगर चमड़े की हम ज्यादा परख करते हैं तो हम कौन हैं? कह डालो अपने आपको कुछ हर्ज नहीं है। खुद ही कहने कहने वाले और खुद को ही कहने जा रहे हैं, खूब दृष्टि पसारकर देखो कि हम कितना चमड़े की परख में रहा करते हैं? यह मैं हूं, यह स्त्री है, यह पुत्र है, इस चाम की चामको देखकर व्यवहार में बसे हुए जो जीव हैं उन्हे ही सब कुछ माना करते हैं, उस जानने देखने, चेतने वाले को दृष्टि में लेकर कोई नहीं कहता है। जो मिल गया झट पहिचान गये कि यह मेरे चाचा का लड़का है। इस तरह से सभी जीव इस चमड़े की परख करते रहते हैं, इसका ही तो इन्हे दुःख है।

**शुद्ध परिणाम की सामर्थ्य** – भैया ! हम आप सभी इसी बात में आनन्द मानते हैं कि खूब धन बढ़ गया, खूब परिवार बढ़ गया पर जिस भाव में आनन्द है उसका अज्ञानियों को पता ही नहीं है। ज्ञानियों को स्पष्ट दीखता है कि सच्चा आनन्द तो इससे ही मिलेगा। वह भाव है एक ज्ञान प्रकाश अमूर्त किसी भी दूसरे जीव से जिसका रंच सम्बन्ध नहीं, ऐसा यह मैं केवल शुद्ध प्रकाशात्मक हूं, ऐसे ज्ञानस्वभाव में परिणाम जाय तो यह परिणाम मोक्ष को देता है, फिर स्वर्ग तो कितनी दूर की बात रही, अर्थात् वह तो निकट और अवश्यभावी है। जो मनुष्य बलशाली होता है वह सब कुछ कर सकता है। सुगम और दुर्गम सभी कार्यों को सहज ही सम्पन्न कर सकता है। कौन पुरुष ऐसा है जो कठिन कार्यों के करने की तो

सामर्थ्य रखता हो और सुगम कार्यों के करने की सामर्थ्य न रखता हो। वह अपने आपमें अपनी शक्ति को खूब समझता है। उसके लिए सभी कार्य दुर्गम अथवा सुगम हो, सरल होते हैं।

**महती निधि से अल्पलाभ की अतिसुगमता** – जैसे कोई बोझा उठाने में बलशाली है तो वह छोटा बोझा उठाने में कुछ असुविधा नहीं मानता है, ऐसे ही जिस शुद्ध आत्मा के भाव में भव-भवके बांधे हुए कर्म कालिमा को भी जलाने की सामर्थ्य है, स्वात्मा की प्राप्ति करने की सामर्थ्य है उससे स्वर्ग आदिक सुख प्राप्त हो जायें इसमें कौन सी कठिनाई है? किसान लोग अनाज पैदा करने के लिए खेती करते हैं तो उद्यम तो कर रहे हैं धान और अनाज को पैदा करने का और भुसा उन्हें अनायास ही मिल जाता है। कोई खाली भुसा के लिए खेती करता है क्या? अरे भुस तो स्वयं ही मिल जाता है। तो जिसका जो मुख्य प्रयोजन है वह अपने कार्य में उसी का ही ध्यान रखता है, बाकी सब कुछ तो अनायास ही होता है, इसी तरह जिसके भेदाभ्यास में इतना बल है कि उसकी तपस्या से भव-भव के संचित कर्म क्षणमात्र में ध्वस्त हो जाते हैं, तो उस तपस्या के प्रसाद से ये संसार के सुख मिल जाना यह तो कुछ दुर्लभ ही नहीं है।

**व्रत का लाभ**— आत्मीय जो सत्य आनन्द है उसकी प्राप्ति में उत्तम द्रव्य मिलना, उत्तम क्षेत्र, उत्तम काल और उत्तम भाव मिलना, जब ऐसी योग्य सामग्री मिलती है तो उसकी उस शक्ति से मोक्ष रूप महान् कार्य उत्पन्न हो जाता है फिर उससे स्वर्ग मिल जाये तो कौनसा आश्चर्य है, किन्तु अल्प शक्ति वाले व्रत का आचरण करें तो उसे स्वर्ग सुख ही मिल सकता है मोक्ष का आनन्द नहीं। इससे ज्ञानी पुरुषो को आत्मा की भक्ति, प्रभु की भक्ति करनी चाहिए, समस्त धर्म कार्यों में कभी प्रमाद न करना चाहिए और न कभी पापों में परिणति करना चाहिए, क्योंकि पाप के कारण नरक आदिके दुःख मिलेंगे औश्र कदाचित् उसके बाद मोक्ष भी प्राप्त होगा, तो होगा पर दुःख भोग-भोगकर पश्चात् मोक्ष की विधि उसे लग सकेगी। और कोई व्रत करता है तो व्रत के आचरण के प्रसाद से लोक सुख के उसे आत्मा की भी प्राप्ति होगी, स्वर्ग भी मिलेगा। तो व्रत करना हमेशा ही लाभदायक है।

**मन के जीते जीते**— भैया! व्रत में कठिनाई कुछ नहीं है, केवल भाव की बात है। अपने भावों को सम्हाल लें तो काम ठीक बैठता है। मानो जाड़े के दिन है, रात्रि को प्यास न लगती होगी पर जरासी भी कुछ बात हो तो रात को भी प्यास की वेदनासी अनुभव करते और थोड़ी हिम्मत बनायी तो गर्मी के दिनों में भी रात को पानी की वेदना नहीं सताती। मन के हारे हार है मनके जीते जीते। जो योगी पुरुष गुरु के उपदेशानुसार आत्मा का ध्यान करते हैं उनके अनन्त शक्तिवाला आनन्द तो उत्पन्न होगा ही, पर स्वर्ग सुख भी बहुत प्राप्त होता है। जिसको उस ही भव से मोक्ष जाना है ऐसा मनुष्य जिस समय आत्मा का अरहंत और सिद्ध के रूप से ध्यान करता है उसे इस आत्मध्यान के प्रताप से मोक्ष मिलता है। न हो कोई चरम शरीरी और फिर भी वह अरहंत सिद्ध के रूप से आत्मा का ध्यान करता है उसे भी स्वर्गादिक के तो सुख मिलते ही हैं।

**आत्मा की प्रभुस्वरूपता** – अपने आपको जो लोग यह समझते हैं कि मैं अमुक लाल हूँ, अमुकचंद हूँ, ऐसे बाल बच्चे वाला हूँ, अमुक का अमुक हूँ, ऐसी पोजीशन का हूँ उनका संसार बढ़ता रहता है। अरे इस ही आत्मा में जो हम आप हैं वह शक्ति है कि अरहंत और सिद्ध बन सकते हैं। तो जैसी पवित्र परिणति इसकी हो सकती है उस रूप में हम ध्यान किया करें तो उत्तम परिणति हो सकती है। मैं अरहंत हूँ, वर्तमान परिणति को निरखकर न बोलो, किन्तु अपने स्वभाव पर बल देकर जिस स्वभाव का पूर्ण विकास अरहंत कहलाता है उस स्वभाव पर बल देकर अनुभव करिये। मैं अरहंत हूँ, अरहंत कुछ चेतन जाति को छोड़कर अन्य जाति में नहीं होता है। यह ही मैं चेतन हूँ और अरहंत जाँ हुए हैं वे भी ऐसे ही चेतन हैं, केवल दृष्टि के फर्क से यह इतना बड़ा फर्क हो गया। सारभूत यह है कि जिसे धर्म करना हो तो पहिले यह समझना होगा कि मैं न मनुष्य हूँ न स्त्री हूँ, न इस शरीरवाला हूँ किन्तु एक ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, ऐसी समझ के बिना धर्म हो ही नहीं सकता।

**अपनी तीन जिज्ञासाये**— भैया! एक सीधी सी बात है कि जिसका मन मोह में फंसा है उसे अन्तर्ज्ञान की यह बात समझ में नहीं आ सकती है। वह इस बात पर ध्यान नहीं दे सकता है, और जिसे व्यामोह नहीं है, सुनते ही के साथ उसकी समझ में आ जायगा कि यह ठीक मार्ग है। ऐसे इस आत्मा के ज्ञान को बढ़ाये, उसकी ही दृष्टि रखें और उसकी ही दृष्टि के प्रसाद से पाप आदिक अवस्थावो को त्याग व्रत आदिक तपश्चरण आदिक धर्म की क्रियावो में लग जाय तो ऐसी निर्मलता पैदा होती है कि यह आत्मा भगवान हो जाता है। हम क्या हैं? हमें क्या बनना है और उसके लिये हमें क्या करना चाहिए, इन तीनों बातों का सही उत्तर ले लो तब धर्म आगे बनेगा। हम क्या है सोच लो। हम वह हैं जो सदा रहता है। जो नष्ट हो वह मैं नहीं हूँ। अब यह निर्णय कर लो कि हमें क्या बनना है? हमें बनना है सहज शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप। एतदर्थ में हमें क्या करना चाहिए? कौनसा ऐसा काम है जिसके कर लोने पर फिर काम करने को बाकी न रहे। भला काम तो वही है जिसके कर लेने पर फिर वह पूर्ण हो ही गया। अब आगे कुछ भी करने की जरूरत न रही ऐसा कौनसा काम है? पंचेन्द्रिय के विषयो के साधन जुटाना, यह तो आकुलता को बढ़ाने वाला है। करने योग्य काम तो केवल ज्ञाताद्रष्टा रहने का है।

मिथ्या आशय से कर्तव्य में बाधा – दो भाई थे। वे परस्पर में एक दूसरे को चाहने वाले थे। उनमें से बड़ा भाई एक दिन बाजार से दो अमरूद खरीद लाया। दाहिने हाथमें बड़ा अमरूद था और बायें हाथ में छोटा अमरूद था। सामने से एक उसका लड़का और एक भाई का लड़का आ गया जो दाहिनी और था छोटे-भाई का लड़का बाँई ओर था उसका लड़का। तो उसने बड़ा अमरूद अपने लड़के को देने के लिए यों हाथों का क्रास बनाकर अमरूद दिया। छोटे भाई ने इस घटना को देख लिया। उसके हृदय पर इस बात से बड़ा धक्का पहुंचा। वह कहाँ गम खाने वाला था। देखो इतनी छोटी सी बात पर छोटा भाई कहता है बड़े भाई से कि भाई अब हम अलग होना चाहते हैं, एक में नहीं रहेंगे। बड़े भाई ने बहुत कहा कि भैया अलग न हो, तुम चाहे हमारी सारी जायदाद ले लो। कहा –

नहीं, हमें अलग हो जाने दो। तो यह मोह और पक्ष की बातें अच्छी नहीं होती हैं। अपनी आत्मा को पहिचानो और सबको एक समान मानो।

**हृषीकजमनाततंकं दीर्घकालोपलालितम्।**

**नाके नाकौकसां सोख्यं नाके नाकौकसामिव।।5।।**

**व्रत के फल में स्वर्गीय सुख** – इससे पहिले श्लोक में यह बताया था कि जिस तत्व में दिया हुआ भाव मोक्ष को भी दे देता है तब उससे स्वर्ग कितना दूर रहा अर्थात् स्वर्ग तो बिल्कुल ही प्रसिद्ध है, ऐसी बात सुनकर कोई जिज्ञासु यह प्रश्न करता है कि उस स्वर्ग में बात है क्या? लोग स्वर्ग की बात ज्यादा पसंद करते हैं। कभी धर्म की भावना होती है तो स्वर्ग तक ही उनकी दौड़ होती है। धर्म करो स्वर्ग मिलेगा, उस स्वर्गकी बात उपसर्ग के सुख इस श्लाके में संकेत रूप के कहे जा रहे हैं। अध्यात्म में तो स्वर्गसुख हेय बताये गए हैं, किन्तु व्रत का आचरण करने वाले पुरुष मोक्ष न जायें तो फिर जायेंगे कहाँ, उसे भी तो बताना चाहिए। मोक्ष न जा सके, थोड़ी कसर रह गयी भावों में तो उसकी फिर क्या गति है, उसका भी बनना आवश्यक है। जो मोक्ष न जा सका, थोड़ी कसर रह जाय शुद्धि में तो सर्वार्थसिद्धि है। विजय, वैजयतं, जयंत व अपराजित ये तो सर्वार्थ सिद्धि है, अनुत्तर है, अनुदिश है, ग्रैवेयक हैं और नहीं तो स्वर्ग तो छुड़ाया ही किसने है?

**व्रत की नियामकता** – जो व्रत धारण करता है, चाहे श्रावक के भी व्रत ग्रहण करे, मुनि व्रत ग्रहण करे, व्रत ग्रहण करने के बाद देव आयु ही बँधती है दूसरी आयु नहीं बंधती। व्रती पुरुष मोक्ष जाय या देव में उत्पन्न हो। और व्रत ग्रहण करने के पहिले यदि अन्य आयु बंध गयी है नरक, तिर्यच मनुष्य तो उसके व्रत ग्रहण करने का परिणाम भी नहीं हो सकता है। अन्य आयु के बँधने पर सम्यक्त्व तो हो सकता है पर व्रत नहीं हो सकता है। अणुव्रत भी और महाव्रत भी उसके नहीं हो सकते जिसने नरक आयु, तिर्यच आयु या मनुष्य आयु में से कोई सी भी आयु बाँध ली है। और जिसने देव आयु बाँध ली है या तो उसके व्रत होगा या जिसने कोई आयु नहीं बाँधी है परभाव के लिए, उसके व्रत होगा। व्रत धारण कितनी ऊंची एक कसौटी है कि जिससे यह परख हो जाय कि देव ही होगा या मोक्ष जायगा। तो ऐसी व्रत की वृत्ति हो तो उसके फल में क्या होता है, उसका वर्णन इस श्लोक में है।

**स्वर्गीय सुख का निर्देशन**— स्वर्गों में क्या मिलता है, कैसा सुख है? उसके लिए कह रहे हैं कि देवों का सुख इन्द्रियजन्य है। ऐसा कहने में कुछ विशेषता नहीं जाहिर हुई, कुछ बड़प्पनसा नहीं आ पाया, इन्द्रियजन्य है, लेकिन जो इन्द्रियजन्य सुखके लोभी हैं उनको कुछ खटकनेवाली बात भी नहीं होती है। देवों का सुख आतंकरहित है। बाधा, आपदा, वेदना ये सब नहीं हैं, उन देवों को न भूख की बाधा होती है, न प्यास की बाधा होती है। हजारों वर्षों में जब कभी भूख लगती है तो कंठ से अमृत झर जाता है और उनकी तृप्ति हो जाती है। अमृत क्या चीज है, जैसे अपन लोग अपने मुँह का थूक गटक लेते हैं, इससे कुछ बढ़कर है, मगर जाति ऐसी ही होगी, हमारा ऐसा ध्यान है। जब कभी अपन बड़े सुख

से यहाँ वहाँ की चिंता नहीं है। ध्यान भी बड़ा भी बड़ा अच्छा जग गया हो ऐसी विशुद्ध स्थिति में कभी मुंह बंद हुए में एक गुटका आ जाता है तो बड़ी शान्ति और संतोषको व्यक्त करता है। और क्या होगा जो उनके कंट में से झरता है। उन्हे प्यासकी भी वेदना नहीं, ठंड गर्मी की वेदना नहीं। जो इस औदारिक शरीर में रोग होता है, वेदना होती है यह कुछ भी देवों के शरीर में नहीं है।

**स्वर्गसुख से आत्मबाधा** – भैया! स्वर्गसुख का यह विश्लेषण सुनकर तो कुछ अच्छा लग रहा होगा पहिले विश्लेषण की अपेक्षा, लेकिन एक कानून और बताता दें, जहाँ क्षुधा, तृषा, ठंड, गर्मी की वेदना न हो वहाँ मुक्ति असम्भव है। जहाँ यं वेदनाएँ चलती है उस मनुष्य पर्याय से मुक्ति सम्भव है। इससे भी क्या कारण है? जहाँ इन्द्रियजन्य सुख की प्रचुरता है वहाँ वैराग्य की प्रचुरता नहीं होती है। जैसे यहाँ हम मनुष्यो में भी देखते है ना, जो बड़े आराम में है, समृद्धि में है, वैभव में है ऐसे पुरुषो के वैराग्य की वृत्ति कम जगती है। वह नियम यहाँ तो नहीं है क्योंकि मनुष्य जाति का मन विशिष्ट ही प्रकार का है। वह सुख भोगते हुए में भी विरक्त रह सकता है, उसे परित्याग करके आत्ममग्न हो सकता है। ये देव दुःखी भी नहीं है और उनके सुख का जो साधन है उसका परित्याग करने में समर्थ भी नहीं है।

**स्वर्ग सुखमे लौकिक विशेषता** – स्वर्ग के देवो के एक आफत यह भी लगी है कि जो बहुत छोटे देव है, उन देवो के, उनकी अपेक्षा में जो पापी देव है मान लो तो, उनके भी कम से कम 32 देवांगनाएँ होती है। यहाँ तो एक स्त्री का दिल राजी रखने में बड़ी हैरानी पड़ती है, साड़ी, साड़ी ही खरीदने में पूरी समस्या नहीं सुलझ पाती है। वहाँ 32 देवांगनावो का मन रखने के लिए कितनी तकलीफ उठाने की बात है? यहाँ तो स्त्री मनुष्य ही है ना, सो वे संतोष कर सकती है पर उन देवांगनावो के कहाँ संतोष की बात है? जब बहुत छोटे देवों का यह हाल है तो जो बड़े देव है, इन्द्रादिक है उनके तो हजारो का नम्बर है। एक बात और है कि जहाँ एक देवी मरी उसी समय उसी स्थान पर कुछ समय बाद दूसरी देवी उत्पन्न होती है और वह अन्तर्मुहूर्त में ही पूर्ण जवान हो जाती है। देवोंमे ऐसा नियम है। तो छुटकारा होने में बड़ी कठिनाई है, लेकिन यहाँ सुखकी बात बता रहे है कि उनके ऐसा सुख है। स्वर्ग सुखों में एक विशेषता यह भी है कि सागरों पर्यन्त, करोड़ो वर्षो पर्यन्त, दीर्घ काल तक वे सुख भोग करते है। वे कभी बूढे होते नहीं, सदा जवान ही रहते है। इन्द्रिय विषयो का सुख सदा उन देवो के प्रबल रहता है और वे सागरो पर्यन्त ऐसा ही सुख पाते है। देवो का युख साधारणजनों के लिए उपादेय बन जाता है किन्तु जो तत्वज्ञानी पुरुष है, जो शुद्ध आनन्द का अनुभवन कर चुके है उनमें विषयो की प्रीति नहीं हो सकती है।

**देवो के सुख की उपमा** – उन देवो का सुख किस तरह का है कुछ नाम बतावो। कोई मनुष्य उस तरह का सुखी हो तो उसका नाम लेकर बतावो। है नहीं ना कोई? तो यह कहना चाहिए कि देवो का सुख देवो की ही तरह है। जैसे साहित्य में एक जगह कहते है। कि राम रावण का युद्ध कैसा हुआ, कुछ दृष्टान्त बतावो। तो बताया है कि राम



रावण का युद्ध राम रावण की ही तरह हुआ है। अभी किसी मनुष्य की तारीफ करना हो और थोड़े शब्दों में कहना हो और बहुत बात कहना हो तो यह ही कह देते हैं कि यह साहब तो यह ही है, बस हो गयी तारीफ। इससे बढ़कर और क्या शब्द हो सकते हैं? इस प्रकार देवों के सुख की बात यहाँ बता रहे हैं कि स्वर्गों में देवों का सुख स्वर्गों में देवों की ही तरह है। उसकी उपमा यहाँ अन्य गतियों में नहीं मिल सकती है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि व्रत पालन करने वाले पुरुष परभव में कैसा सुख भोगा करते हैं।

**इस काल के पुराण पुरुषों की परिस्थिति** – भैया! न दो स्वर्ग सुखों में दृष्टि व्रत धारण करो तो यह मिलेगा। इस पंचमकाल में जो मुनीश्वर हो चुके हैं – अकलंकदेव, समन्तभद्र, कुन्दकुन्द आदि अनेक जो आचार्य हुए हैं वे बड़े विरक्त थे, तपस्वी थे और ज्ञान की तो प्रशंसा ही कौन करे? हम लोग जब उनके रचित ग्रन्थों के हृदय में प्रवेश करे तो अनुमान कर सकते हैं, अन्यथा जैसे कहते हैं कि ऊंट अपने को तब तक बड़ा मानता है जब तक पहाड़ के नीचे न पहुँचे, ऐसे ही हम लोग अपने को तब तक ही चतुर समझते हैं और उत्कृष्ट वक्ता तब तक जानते हैं जब तक इन आचार्यों की जो रचनाएँ हैं उन रचनाओं में प्रवेश न पाया जाय। ऐसे ज्ञानवान, चारित्रवान्, तपस्वी साधुजन बतावो अच्छा कहां होंगे इस समय? गुजर तो गये हैं ना, अब तो यहाँ हे नहीं वे गुरुजन, तो इस समय वे काहें होंगे कुठ अंदाजा बतावो, यही अंदाज बतावोगे कि स्वर्ग में होंगे। और स्वर्ग में क्या कर रहे होंगे, मंडप भरा होगा, देवांगनाएँ नृत्य कर रही होंगी और ये कुन्दकुन्द, समन्त भद्र आदि के जीव बने हुए देव सिर भी मटका रहे होंगे। क्या करे, व्रत धारण करने पर या तो मोक्ष होगा या स्वर्ग मिलेगा, तीसरी बात नहीं होती। कोई पूर्वकाल में स्वर्ग से ऊपर भी उत्पन्न हो लेते थे। हाँ एक बात है कि भले ही ये आचार्य वहाँ देव बनकर रह रहे हैं, पर वहाँ भी वे सम्यग्दृष्टि होंगे तो उनमें आशक्ति न हो रही होगी, पर होंगे वहाँ।

**सम्यक्त्व सहित मरण की नियामकता** – कर्म भूमि का मनुष्य मरकर, कर्मभूमि का मनुष्य बने तो उसके मरण समय में सम्यक्त्व नहीं रहता है। मरण समय में जिस मनुष्य के सम्यक्त्व है, उस सम्यक्त्व में मरेगा तो वहाँ सम्यग्दर्शन के रहते हुए मरण होगा तो देव ही होगा, हाँ एक क्षायिक सम्यक्त्व अवश्य ऐसा है कि उससे पहिले नरक आयु बाँध ली हो, तिर्यञ्च आयु बाँध ली हो या मनुष्य आयु बाँध ली हो, और फिर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न कर लिया तो नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य गति में जाना पड़ेगा, लेकिन नरक में जायगा तो पहिले नरक में, तिर्यञ्च में जायगा तो भोगभूमिया में और जायगा तो भोगभूमियों में। सम्यग्दृष्टि जीव मरकर भोगभूमिया, तिर्यञ्च व मनुष्य भोग भूमिया में भी इन्द्रियजन्य सुख बहुत है।

**दृष्टियोग का विशेष संकट** – यहाँ सबसे बड़ा कष्ट एक यह भी है कि पुरुष स्त्री है अब उनमें कोई मरेगा जरूर पहिले, मरेगे सभी हम आप, जो भी जन्मे हैं सबका मरण होगा, पर एक प्रसंग की बात यह देखो कि पति पत्नी में आधारभूत प्रेम है, किन्तु उनमें से एक कोई पहिले तो मरेगा ही ना? अब कल्पना करो कि पति पहिले मरता तो पत्नि कितना बिलखती और पत्नी पहिले मरती तो पति कितना विलखता, अर्थात् पति भी अपने को शून्य समझता। अब और क्या गति होगी सो बतावो? ऐसा यहाँ बहुत कठिनाई से हो पाता है कि

पति पत्नी दोनो संग ही गुजरें, पर भोगभूमिया में ऐसा ही होता हे, पति पत्नी दोनो एक साथ मरते है। अब कुछ अंदाज हो गया ना कि यह लौकिक सुखों की बात है कि दोनो मरें तो एक साथ मरे।

**मरण में हानि किसकी** – भैया ! एक बात और विचारो कि किसी के मरने पर ज्यादा नुकसान मरने वाले का होता है कि जो जिन्दा रहने वाले है उनका होता है? इस पर जरा कुछ तर्कणा कीजिए। परिवार का कोई एक गुजर गया और परिवार के दो चार लोग अभी जिन्दा है तो यह बताओ कि मरने वाला टोटे में रहा कि जिन्दा रहने वाले टोटे में रहे? टोटे में तो जिन्दा रहने वाले रहे क्योंकि मरने वाला तो दूसरे भव में गया, अच्छा, नया, रंगा, चंगा, शरीर पाया और जो बचे हुए लोग है अथवा नाते रिश्तेदारजन है वे रोते है, विलखते है। तो टोटे में तो जिन्दा रहने वाले रहे। भोगभूमि में पति पत्नी दोनो का एक साथ मरण होता है।

**व्रत परिणाम के परिणाम का प्रतिपादन**— व्रती पुरुष मरने के बाद स्वर्ग के सुख भोगते है, व्रत धारण करना बहुत अच्छी बात है, लेकिन कोई पुरुष उस कहानी को सुनकर सोचे कि मैं व्रत ग्रहण कर लूँ, इससे स्वर्ग के सुख मिलते है, तो ऐसे स्वर्ग का सुख नही मिलता है क्योंकि उसके अंतरंग में ममता बसी हुई है। वह अपने आत्मकल्याण के लिए व्रत नही ले रहा है, वह तो स्वर्ग सुख पाने की धुन बनाये हुए है सो व्रत ले रहा है। वह व्रत नही है। जो ज्ञानी संत वैराग्य के कारण व्रत ग्रहण करते है, जिनके सहज वैराग्य बनता है, ऐसे पुरुषो की कहानी है कि वे तो मोक्ष में जायेगे या स्वर्ग में जायेंगे। स्वर्ग में कैसा सुख है, उसकी बात इस श्लोक में चल रही है।

**व्रतजनित पुण्य का फल** – सुख तो एक आत्मा का गुण है। जब रागादिक होते है तो सुख की दशा बदल जाती है या तो हर्षरूप संकटो का परिणमन होगा या दुःखरूप परिणमन होगा। जब तक यह आत्मा सांसारिक सुख और परतंत्रता का अनुभव करता है तब तक उसे बाधारहित आत्मीय आनन्द नही प्राप्त हो सकता है। हाँ कभी सातावेदनीय के उदय में कुछ इन्द्रिय सुख की प्राप्ति हुई, सातारूप परिणमन हुआ, अर्थात् कुछ दुःख कम हो गया तो उस दुःख के कम होने का नाम संसारी जीवो ने सुख रख लिया है। व्रत आदि करने से जो कषाय मंद होता है और मंद कषाय होने से पुण्य का संचय होता है तो उससे स्वर्ग आदि के सुख बहुत काल तक भोगने में आते है, लेकिन वास्तविक जो आनन्द है अनाकूलता का वह तो आत्मदृष्टि में ही है।

**सांसारिक सुख की उलझन** – ये सांसारिक सुख तो उलझन है, वे देव सुख में मस्त रहते है तो वे मरकर एकेन्द्रिय भी बन सकते है। उनमें नियम है कि दूसरे स्वर्ग तक के देव एकेन्द्रिय बन सकते है, उससे ऊपर 12 वे स्वर्ग तक के देव पशु पक्षी आदि तिर्यञ्च बन सकते है, उससे ऊपर के देव मनुष्य ही बन सकते है। देखो देवगति के देव कोई पेड़ तक बन जाते है, मरने के बाद ऐसी उनकी दुर्गति हो सकती है, और इतना तो समझना ही है कि वे मरकर नीचे ही गिरेंगे। आगम में देवों के मरने का नाम च्युत होना कहा गया है। देव च्युत होते है अर्थात् नीचे गिरते है और नारकी मरकर ऊपर आते है।

उन देवों में ऐसा हृषीकत, अनातंक व दीर्घकालोपलालिक सुख है, पर वास्तविक आनन्द नहीं है।

**वास्तविक आनन्द** – जो वास्तविक आनन्द है उसमें इन्द्रिय की आधीनता नहीं है, समय की सीमा नहीं है, क्षण भंगुर नहीं है, न किसी के प्रति चिंता है। इस आनन्द के जानने वाले पुरुष भी स्वर्ग के सुख को हेय मानते हैं और स्वानन्द के आनन्द को उपादेय मानते हैं। देवों का सुख देवों की ही तरह है, ऐसा कहने में ज्ञानियों को समाधान मिलेगा और अज्ञानियों को भी समाधान मिलेगा। अज्ञानी तो उन शब्दों में सुख का बड़प्पन समझ लेंगे और ज्ञानी उन्हीं शब्दों में सुख को हेय समझ लेंगे। खैर, कैसा ही सुख ही, व्रतधारण के फल में स्वर्ग आदि के सुख मिलते हैं, इस बात का इस श्लोक में वर्णन है।

**वासनामात्रमेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम् ।**

**तथा ह्यु द्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि ।।6।।**

**सुख की क्षुब्ध रूपता के वर्णन का संकल्प** – इससे पहिले श्लोक में देवों का सुख बताया गया था। उस सुख के सम्बन्ध में अब यहाँ यह कह रहे हैं कि यह सुख संसारी जीवों का जो इन्द्रिय जनित सुख है वह सुख केवल वासनामात्र से ही सुख मालूम होता है किन्तु वास्तव में यह सुख दुःखरूप ही है। भ्रम से जीव इसको आनन्द समझते हैं। ये भोग जिनको कि सुख माना है वे चित्त में उद्वेग उत्पन्न करते हैं। कोई भी सुख ऐसा नहीं है जो सुख शान्ति से भोगो जाता हो। खुद भी इसका अनुभव कर लो। ये संसार के सुख क्षोभपूर्वक ही भोगे जाते हैं। भोगने से पहिले क्षोभ, भोगते समय क्षोभ और भोगने के बाद भी क्षोभ। केवल कल्पना से मोही जीव से सुख समझते हैं। आत्मा में एक आनन्द नाम का गुण है जिसके कारण यह आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप कहलाता है। उस आनन्द शक्ति के तीन परिणमन हैं – सुख, दुःख और आनन्द। सुख वह कहलाता है जो इन्द्रियों को सुहावना लगे, दुःख वह कहलाता जो इन्द्रियों को असुहावना लगे और आनन्द उसका नाम है जिस भाव में आत्मा में सर्व ओर से समृद्धि उत्पन्न हो।

**सुख और आनन्द में अन्तर** – यद्यपि सुख, दुःख और आनन्द, ये आनन्द गुण के परिणमन हैं, तथापि इन तीनों में आनन्द तो है शुद्ध तत्त्व, सुख और दुःख ये दोनों हैं अशुद्ध तत्त्व। यह इन्द्रिय जन्य सुख आत्मीय आनन्द की होड़ नहीं कर सकता है। स्वानुभव में जो आनन्द उत्पन्न होता है अथवा प्रभु के जो आनन्द है उस आनन्द की होड़ तीन लोक तीन काल के समस्त संसारी जीवों का सारा सुख भी जोड़ लीजिए तो भी वह समस्त सुख भी उस आनन्द को नहीं पा सकता है। यह सांसारिक सुख आकुलता सहित है और शुद्ध आनन्द अनाकुलतारूप है। सांसारिक सुख में इन्द्रिय की आधीनता है। इन्द्रियां भली प्रकार हैं तो सुख है और इन्द्रियों में कोई फर्क आया, बिगाड़ हुआ तो सुख नहीं रहा, किन्तु आत्मीय आनन्द में इन्द्रिय की आवश्यकता ही नहीं है। हृषीकज सुख पराधीन है, नाना प्रकार के विषयों के साधन जुटें तो यह सुख मिलता है, परन्तु आत्मीय आनन्द पराधीन नहीं है, अत्यन्त स्वाधीन है। समस्त परपदार्थों का विकल्प न रहे, केवल स्वात्मा ही दृष्टि में

रहे तो ससे यह आनन्द उत्पन्न होता है। इस इन्द्रियज सुख में दुःख का सम्मिश्रण है किन्तु आत्मीय आनन्द में दुःख की पहुँच भी नहीं। संसार का कोई भी सुख ऐसा नहीं है जिसमें दुःख न मिला हुआ है। धनी होने में सुख है। तो उसे भी कितने ही दुःख है। संतानवान होने का सुख है तो उस प्रसंग में भी कितने ही दुःख भोगने पड़ते हैं। संसार को कोई भी सुख दुःख किं मिश्रण बिना नहीं है। सांसारिक सुख इस आनन्द के अंश भी नहीं प्राप्त कर सकता है।

**वासनामात्र कल्पित सुख में बाधा और विषमता** – भैया! सुख और दुःख की कल्पना उस ही पुरुष के होती है जिसमें ऐसी वासना बनी हुई है कि यह पदार्थ मेरा उपकारी है इसलिए इष्ट है और यह पदार्थ मेरा अनुपकारी है इसलिए अनिष्ट है। ऐसा जब भ्रम उत्पन्न होता है तो उस भ्रम में आत्मा में जो भी संस्कार बन जाता है उसका नाम वासना है। ऐसा जब भ्रम उत्पन्न होता है तो उस भ्रम में आत्मा में जो भी संस्कार बन जाता है उसका नाम वासना है। संसारी जीव इन्ही वासनाओं के कारण इन्द्रियसुख में वास्तविक सुख की कल्पना कर लेते हैं। यह भोगो से उत्पन्न हुआ सुख अनेक बाधाओं से भरा हुआ है, पर आत्मा के अनुभव से उत्पन्न होने वाला आनन्द बाधाओं से रहित है। यह इन्द्रिय जन्य सुख विषम है। कभी सुख बढ़ गया, कभी सुख घट गया, कभी सुख न रहा ऐसी इन भोगो के सुख में विषमता है, परंतु स्व के अनुभव से उत्पन्न होने वाला आनन्द विषम नहीं है, वह एक स्वरूप है और समान है। सुख और दुःख में महान् अन्तर है। इस इन्द्रिय जनित सुख में मोहीजन भ्रम से वास्तविक सुख की कल्पना करते हैं।

**सांसारिक सुखों की उद्वेगरूपता** – यह हृषीकज सुख उद्वेग ही करता है। जैसे ज्वर आदि रोग चित्त को दुःखी कर देते हैं। ऐसे ही ये भोग भी चित्त को दुःखी कर देते हैं। मोही जन दुःखी हो जाते हैं और दुःख नहीं समझते हैं। जैसे चरचरी मिर्च खाने में सुख नहीं होता है, दुःख होता है, पर जिसे चटपटी मिर्च से मोह है वह दुःखी भी हो जाता है और मिर्च भी मांगता जाता है, और लावो मिर्च। किस तरह का उनके मिर्च का भाव लगा है? क्या कारण है कि उस मिर्च से सी-सी करते जाते, आंसू भी गिरते जाते, कौर भी मुश्किल से गुटका जाता, फिश्र भी मांगते हैं कि लाल मिर्च और चाहिए। ऐसे ही भोग के दुःख होते हैं, इन भोगो से कुछ भी आनन्द नहीं मिलता है, लेकिन मोहवश भोगो में ही यह आनन्द मानता है और उन्ही भोग के साधनों को जुटाने में श्रम करता है।

**परमतत्त्व के लाभ बिना कोरी दरिद्रता** – जो मनुष्य भूख प्यास से पीड़ित है उन्हे सुन्दर महल या संगीत साज या कुछ भी चीज उनके सामने रख दो तो उन्हे रमणीक नहीं मालूम होती है। किसी भूख लगी हो उसका स्वागत खूब किया जाय और खाने को न पूछा जाये तो क्या उसे वे स्वागत के साधन रमणीक लगते हैं? नहीं रमणीक लगते हैं। जीव के जितने आरम्भ है वे सब आरम्भ तब सुन्दर लगते हैं जब खाने पीने का अच्छा साधन हो। कोई लोग ऐसे भी हैं कि घर में तो खाने-पीने का कलका भी साधन नहीं है और अपनी चटकमटक नेकटाई औश्र बड़ी सज धज, शान की बातें मारते, तो जैसे इस तरह के लोग कोरे पोले हैं, उनमें ठोस बात कुछ नहीं है। ऐसे ही समझिये कि जिस पुरुष में ज्ञान विवके

नहीं है, जिस तत्व की दृष्टि से आनन्द प्रकट होता है उस तत्व की जरा भी खबर नहीं है और वे भोग के साधन, भारी चेष्टाएँ आदि करे तो वे अपने में पोले हैं, उन्हें शान्ति संतोष नहीं प्राप्त हो सकता।

**सांसारिक सुखो की वासनामात्र रम्यता** – यह सारा इन्द्रियसुख केवल वासनामात्र रम्य है, उस और मेह लगा है इसलिए सुखद मालूम होता है। जो पक्षी बड़ी गर्मी में अपनी स्त्री के साथ याने (पक्षिणी के साथ) भोगों में उलझ जाता है उसे घूप का कष्ट नहीं मालूम होता है। जब रात्रि को उस पक्षी का वियोग हो जाता है जैसे एक चकवा चकवी होते हैं उनके रात का वियोग हो जाता है, क्या कारण है, कैसी उनकी बुद्धि हो जाती है कि वे विमुख हो जाते हैं? तब उन पक्षियों को चन्द्रमा की शीतल किरणें भी अच्छी नहीं लगती। जब उनका मन रम रहा है, वासना में उलझे हैं तब घूप भी कष्टदायी नहीं मालूम होती और जब उनका वियोग हो जाय तो उस समय चन्द्रमा की शीतल किरणें भी अच्छी नहीं लगती। पक्षियों की क्या बात कहे— खुद की ही बात देख लो— जिसे धन संचय प्रिय है वह पुरुष धन संचय का कोई प्रसंग हो, धन आने की उम्मीद हो, कुछ आ रहा तो ऐसे समय में वह भूखा प्यासा भी रह सकेगा, घूप का भी कष्ट उठा सकेगा और भी दुःख सहन कर लेगा। और यदि कोई बड़ा नुकसान हो जाय, टोटा पड़ जाये तो ऐसे समय में उसे बढ़िया भोजन खिलावो, और भी उसका मन बहलाने की सारी बातें करो तो भी वे सारी बातें नीरस लगती हैं। उनमें चित नहीं रमता है। तो अब बतलावो सुख क्या है? केवल वासनावश यह जीव अपने को सुखी मानता है।

**परसमागम में कल्पित सुख की भी अनियतता** – इस इन्द्रियजन्य सुख में वासनाएँ बनाना, सुख की कल्पनाएँ बनाना बिल्कुल व्यर्थ है। वह महाभाग धन्य है जिसकी धुन आत्मीय आनंद को प्राप्त करने की हुई है। संसार के समागत समस्त पदार्थों को जो हेय मानता है, उनमें उपयोग नहीं फंसाता है वह माहभाग धन्य है। संसार में तो मोही, भोगी रोगी लोग ही बहुत पड़े हुए हैं। वे इन ही असार सुखों को सुख समझते हैं। क्या सुख है? गर्मी के दिनों में पतले कपड़े बहुत सुखदाई मालूम होते हैं, वे ही महीन कपड़े जाड़े के दिनों में क्या सुखकारी मालूम होते हैं? सुख किस में रहा? फिर बतलावो जो जाड़े के दिनों में मोटे कपड़े सुहावने लगते हैं, वे कपड़े क्या गर्मी के दिनों में सुखकर मालूम होते हैं? सुख किसमें है सो बतलावो। जिनमें कषाय मिला हुआ है, मन मिला हुआ है ऐसे मित्र अभी सुखदाई मालूम होते हैं, किसी कारण से मन न मिले, दिल बिगड़ जाय तो उनका मुख भी नहीं देखना चाहते हैं।

**सुख के नियत विषय का अभाव** – भैया ! सुख का नियत विषय क्या है? किसको मानते हो कि यह सुख है। जो मिष्ट पदार्थ लड्डू वगैरह भूख में सुहावने लग रहे हैं, पेट भरने पर क्या वे कुछ भी सुहावने लगते हैं? कौन से पदार्थ का समागम ऐसा है जिससे हम नियम बना सकें कि यह सुखदायी है? मनुष्यों को नीम कडुवी लगती है, पर ऊट्ट का तो वही भोजन है। ऊट्ट को नीम बड़ी अच्छी लगती है। कहाँ सुख मानते हो? गृहस्थों को गृहस्थावस्थामें सुख मालूम होता है, पर ज्ञान और वैराग्य जग जाय तो उसे ये सब अनिष्ट

और दुःखकारी मालूम होते हैं। कौनसी चीज ऐसी है जिसमें नियमरूप से सुख की मान्यता ला सके? ये सांसारिक भोग उपभोग, सांसारिक सुख सुखरूप से बन रहे थे, वे ही सब कुछ थोड़े समय बाद दुःखरूप में परिणत हो जाते हैं। बहुतसी ऐसी घटनाएँ होती हैं। कि शादी विवाह हुआ, दो चार साल तक बड़े आराम से रहे, मानो एक के बिना दूसरा जिन्दा नहीं रह सकता, कुछ साल गुजर जाते हैं तो लड़ाई होने लगती है, आमना सामना नहीं होता है, मानो तलाकसी दे देते हैं। तो कौन सी ऐसी स्थिति है जिसमें यह नियम बन सके कि यह सुखदायी स्थिति है? सब केवल वासनामात्र से सुखरूप मालूम होता है।

**सुख का दुःखरूप में परिणमन** – यह सुख थोड़े ही समय बाद दुःखरूप परिणत हो जाता है। मान लो पति पत्नी 50-60-70 वर्ष तक एक साथ रहे, खूब आनन्द से समय गुजरा, पर वह समय तो आयगा ही कि या तो पति पहिले गुजरे या पत्नी पहिले गुजरे। उस ही समय वह सोचता है कि सारी जिन्दगी में जितना सुख भोगा है उतना दुःख एक दिन में मिल गया। ये सभी सुख कुछ ही समय बाद दुःखरूप मालूम होते हैं। भोजन करना बड़ा सुखदायी मालूम होता है, करते जावो डटकर भोजन तो फिर वही दुःखका कारण बन जाता है। रोग पैदा हो जाता है पेट दर्द करता है, विहलता बनी रहती है। संसार में भी सुख के भोगने का हिसाब सबके एकसा ही बैठ जाता है। जैसे खाने को हिसाब सबका एकसा बैठ जाता है। चाहे चार दिन खूब डटकर बढ़िया मिष्ट भोजन करलो और फिर 10 दिन केवल मूंग की ही दाल खाने को मिलेगी। तो अब हिसाब में 14 दिनका एवरेज लगालो और कोई आदमी 14 दिन रोज सात्विक भोजन करे और साधारण अल्प भोजन करे तो वह भी एवरेज एकसा ही बैठ गया। इन भोगविषयोको कोई बहुत भोग भोगले तो अंत में दुर्गति होती है और कोई मनुष्य इन भोगो को विवकेपूर्वक थोडा ही भोगता है।

**वास्तविक आनन्द के लाभ का उपाय** – इन भोगो में वास्तविक सुख नहीं है। वास्तविक आनन्द तो निराकुल परिणति में है। वह कैसे मिले? अपना स्वरूप ही निराकुल है ऐसे भान बिना निराकुलता प्राप्त नहीं हो सकती। अपने आपको तो गरीब समझ रहा है यह जीव और निराकुलता की आशा करे तो कैसे हो सकता है? उसे कुछ पता ही नहीं है कि ये जगत के बाह्य पदार्थ हैं, ये जैसे परिणमते हों परिणमें, उनसे मेरा कोई बिगाड़ नहीं है यह मैं तो स्वभाव से शुद्ध सच्चिदानन्दरूप हूँ। ऐसे निज निराकुल स्वरूप का भान हो तो इस ही स्वरूप का आलम्बन करके यह निराकुलता प्राप्त कर सकता है। और यह निराकुल पद मिले तो फिर उस ही स्वरूप में स्थित रहता है। उस पद में न बुढापा है, न मरण है, न इष्ट का वियोग है, न अनिष्ट का संयोग है, न ज्वर आदिक कोई रोग है, सब संकटो का वहाँ विनाश है।

**करणीय आशा** – भैया ! ऐसे सुख की क्या लालसा करें जिस सुख में सुख का भरोसा ही नहीं है। थोडा सुख मिला, फिर दुःख आ गया, और इस ही सुख के पीछे दुःख आता रहता है, तो ऐसे सुख की क्यों आशा करे, तो उस आनन्दकी आशा करें जिसके प्रकट होने पर फिर कभी संकट नहीं आता है। वह सुख कर्मो के सर्वथा क्षय से उत्पन्न

होता है आत्मा से उत्पन्न होता है, उसमें किसी भी प्रकार की बाधा नहीं न उसमें कोई दुःख का संदेह है, ऐसा जो आत्मीय आनन्द है उसका किसी समय तो अनुभव कर लो। घर में, दुकान में, मन्दिर में किसी जगह हो किसी क्षण सर्वसे भिन्न अपने को निरखकर अपने आपको निर्विकल्प अनुभव का कुठ स्वाद तो ले लो। इस अनुभूति का स्वपाद आने पर यह जीव कृतार्थ हो जायगा, इसे फिर आपत्ति न रहेगी। आपत्ति तो मोह में थी। अमुक पदार्थ यों नहीं परिणमा तो आपत्ति मान ली। अब जब कि तत्त्व विज्ञान हो गया है तो उसमें यह साहस है कि अमुक पदार्थ यों नहीं परिणमा तो बलासे, वह उस ही पदार्थ का तो परिणमन है। मैं तो सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा स्वभावतः कृतार्थ हूँ मुझको परपदार्थ में करने योग्य काम कुछ भी नहीं है। यह परमें कुछ कर भी नहीं सकता है, ऐसा तत्त्वज्ञान हो जाने पर, आत्मीय रस का अनुभव हो जाने पर फिर इसे कहाँ संकट रहा? संकट तो केवल अपनी भ्रमभरी कल्पना में है।

**सांसारिक सुख में आस्था की अकरणीयता** – इस श्लोक से पहिले श्लोक में व्रतो का फल बताने के लिए देवो के सुख की प्रशंसा की गयी थी, लेकिन प्रयोजन प्रदर्शनवश भी की गई झूठी प्रशंसा कब तक टिक सकती है? इसके बाद के श्लोक में यह कहना ही पड़ा कि वह सारा सुख केवल वासनाभरका है, वास्तव में वह चित्त को उद्वेग ही करने वाला है। ऐसे सुख में आस्था न रखकर एक सच्चिदानन्दस्वरूप निज आत्मतत्त्व में उपयोग को लगाना ही श्रेयस्कर है।

**मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि ।**

**मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥७॥**

**मोहीका अविवेक** – मोह से ढका हुआ ज्ञान पदार्थों के यथार्थ स्वभाव को प्राप्त नहीं कर पाता है अर्थात् स्वभाव को नहीं जान सकता है, जैसे कि मादक कोदो के खाने से उन्मत्त हुआ पुरुष पदार्थ का यथावत भाग नहीं कर पाता है जैसे मादक पदार्थों पान करने से मनुष्य का हेयका और उपादेयका विवेक नष्ट हो जाता है, उसे फिर पदार्थ का सही ज्ञान नहीं रहता। जैसे पागल पुरुष कभी स्त्री को माँ और स्त्री भी कहता है और किसी समय माँ को माँ भी कह दे तो भी वह पागल की ही बात है, इसी तरह मोहनीय कर्म के उदयवश यह जीव भी अपने शुद्ध स्वरूप को भूल जाता है, उसे हेय और उपादेय का सच्चा विवेक नहीं रहता है। जो अपनी चीज है उसको उपादेय नहीं समझ पाता, जो परवस्तु है उसको यह हेय नहीं समझ पाता। उपादेय को हेय किए हुए है और हेय को उपादेय किए हुए है।

**अमीरी और गरीबी** – भैया !अपने स्वरूप का यथावत भान रहे, उसकी तरह जगत में अमीर कौन है? जिसको अपने स्वरूप का भान नहीं है उसके समान लाके में गरीब कौन है। गरीब वह है जिसके अशान्ति बसी हुई है और अमीर वह है जिसके शान्ति बसी हुई है। धन सम्पदा पाकर यदि अशान्ति ही बस रही है, उस सम्पदा के अर्जन में, रक्षण में या उस सम्पदा के कारण गर्व बढ़ाने में अशान्ति बनी हुई है तो उस अशान्ति से तो वह गरीब ही

है। अमीर वह है जिसे शान्ति रहती है। शान्ति उसे ही रह सकती है जो पदार्थों का यथावत् ज्ञान करता है। जो पुरुष अपने से सर्वथा भिन्न धन वैभव सम्पदा के स्त्री पुत्र मित्र आदिक में आत्मीयत्व की कल्पना कर लेता है, यह मैं हूँ, यह मेरा है, इस तरह का भ्रम बना लेता है, दुखकारी सुखो को, भोगो को भी सुखकारी मान लेता है तो उसे फिर यह अपना आत्मा भी यथावत् नहीं मालूम हो सकता। यह मोही जीव को अपना आत्मा नाना रूपों प्रतिभासित होता है, मैं अमुक का दादा हूँ, पिता हूँ, पिता हूँ, पुत्र हूँ, इस कल्पना में उलझकर अपने स्वरूप को भुला देता है।

**मोह में विचित्ररूपता** – यह मोही जीव अपने को यथार्थ एकस्वरूप निरख नहीं पाता। मोहवश यह अपने को न जाने किन-किन रूप मानता है? जब जैसी कल्पना उठी तैसा मानने लगता है। जैसे डाक के सम्बन्ध से दर्पण में अनकरूप दिखने लगते हैं, लाल कागज लगावो तो वह मणि लाल दिखती है, उसके पीछे लाल-हरा जैसा कागज लगावो तैसा ही दिखने लगता है। ऐसे ही नाना विभिन्न कर्मों का सम्बंध आत्मा के साथ है। सो जिस-जिस प्रकार का सम्बंध है उससे आत्मा नाना तरह का दिखता है, लेकिन जैसे उस स्फटिक मणि से उपाधि हटा दी जाय तो जैसा वह स्वच्छ है तैसा ही व्यक्त प्रतिभास में आता है। ऐसे ही जब आत्मा से द्रव्यकर्म का भावकर्म का सम्बंध छूटता है तो वह अपने इस शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मातत्व को प्राप्त कर लेता है, फिर उसे यह चैतन्यस्वरूप अखण्डस्वरूप अनुभव में आता है।

**अचरजभरा बन्धन** – देखो भैया! कितनी विचित्र बात है कि यह आत्मा तो आकाशवत् अमूर्त है। इस आत्मा में किसी परद्रव्य का सम्बन्ध ही नहीं होता, लेकिन कर्मों का बन्धन ऐसा विकट लगा हुआ है ऐसा एक क्षेत्रावगाह है, निमित्तनैमित्तिक रूपतन्त्रता है कि आत्मा एकभव छोड़कर दूसरे भव में भी जाय तो वहाँ भी साथ ये कर्म जाते हैं। यह क्यों हो गया कर्मबन्धन इस अमूर्त आत्मा के साथ? देख तो रहा है, अनुभव में आ तो रहा है यह सब कुछ, यही सीधा प्रबल उत्तर है इसका। मैं ज्ञानमय हूँ इसमें तो कोई संदेह ही नहीं, जो जाननहार है वह ही मैं हूँ। अब कल्पना करो कि जाननहार पदार्थ रूपी तो हो नहीं सकता। पदार्थ को किस विधि से जाने, कुछ समझ ही नहीं बन सकती है। पुद्गल अथवा रूपी जानन का काम नहीं कर सकता है वह तो मूर्तिक है, रूप, रस, गंध, स्पर्श का पिंड है, उसमें जानने की कला नहीं है, जाननहार यह मैं आत्मा अमूर्त हूँ। इसमें ही स्वयं ऐसी विभावशक्ति पड़ी हुई है कि पर-उपाधिका निमित्त पाये तो यह विभावरूप परिणमने लगता है और विभाव का निमित्त पाये तो कार्माणवर्गणा भी कर्मरूप हो जाती है, ऐसी इसमें निमित्तनैमित्तिक बन्धन है।

**मूर्च्छा की पद्धति** – यह ज्ञान मोह से मूर्च्छित हो जाता है। कैसे हो जाता है मूर्च्छित? तो क्या बताए। उसकी तो नजीर ही देख लो। काई पुरुष मदिरा पी लेता है। तो वह क्यों बेहोश हो जाता है? उसका ज्ञान क्यों मूर्च्छित हो जाता है? क्या सीसीकी मदिरा ज्ञान के स्वरूप में घुस गयी है? कैसे वह ज्ञान मूर्च्छित हो गया है, कुछ कल्पना तो करो। यह कल्पना निमित्तनैमित्तिक बंधन है, वहाँ यह कहा जा सकता है कि उस मदिरा के पीने के



निमित्त से ज्ञान मूर्छित नहीं होता है किन्तु पौद्गलिक जो द्रव्येन्द्रियाँ है वे द्रव्येन्द्रियाँ मूर्छित हो गयी है। जैसे डाक्टर लोग चमड़ी पर एक दवा लगा देते हैं जिससे उतनी जगह शून्य कर दे, ऐसे ही मदिरा आदि का पान इन्द्रियों को शून्य कर देने में निमित्त है, वह ज्ञान को बिगाड़ने में निमित्त नहीं है। अच्छा न सही ऐसा, वह मदिरा द्रव्येन्द्रिय के बिगाड़ने में ही निमित्त सही, पर द्रव्येन्द्रिय बिगड़ गयी तो वह तो निमित्त है ना ज्ञान के ढकने का, मूर्छित होने का और बिगड़ने का। ऐसे ही सही, पर मदिरापान होने से यह ज्ञान मूर्छित हो गया है। फिर यह मोहनीय कर्म तो बहुत सूक्ष्म और प्रबल शक्ति रखने वाला है। उसके उदय का निमित्त पाकर यह ज्ञान मूर्छित हो जाय तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है। मदिरा जैसे बोतल में रक्खी हुई है तो उसे पीने वाले पुरुष के ज्ञान को मूर्छित करने में वह मदिरा निमित्त है, बोतल को मूर्छित कर देने में निमित्त नहीं है। उस काँच में मूर्छित होने के शक्ति, कला व योग्यता नहीं है। तो वहाँ भी यह देखा जाता कि जो मूर्छित हो सकता है वह मदिरा के निमित्त से मूर्छित हो सकता है। इसी तरह कर्मों के उदय के निमित्त से मूर्छित हो सकने वाले पदार्थ ही मूर्छित हो सकते हैं। शराब पीने से ज्ञान की मूर्छित हुई दशा में मस्त पुरुष को जैसे हेय और उपादेय का विवेक नहीं रहता है ठीक इसी तरह जो आत्मा मोह में ग्रस्त है वह अपने स्वरूप से गिर जाता है और नाना प्रकार के विकारी भावों में घिर जाता है, कर्मों से बँध जाता है।

**विडम्बनाओं के विनाश का सुगम उपाय** – जैसे बहुत बड़ी मशीन के चलाने और रोकने का पेंच एक ही जगह मामूली सा लगा है, कमजोर पुरुष भी दबा और उठा सकते हैं, चला सकते हैं, बन्द कर सकते हैं, ऐसे इतनी बड़ी विडम्बना संसारमें हो रही है, जन्म हो, मरण हो, जीवनभर उनके कल्पनाएँ की, उनके कष्टों का अनुभव किया, इतनी सारी विडम्बनाएँ हैं किन्तु उन सब विडम्बनाओं के विनाश का उपाय केवल एक अपने आपके सहज स्वरूप का अनुभवन है, दर्शन है। इसके प्रताप से भावकर्म भी हटते हैं, द्रव्य कर्म भी हटते हैं, और यह शरीर भी सदा के लिए पृथक हो जाता है। सर्व प्रकार का उद्यम करके अपने सबको करने योग्य काम एक यह ही है कि अपने सहजस्वरूप का अवलोकन करे, दर्शन करे, अनुभवन करे, उसमें ही अपने उपयोग को लीन करके सारे संकटों से छुटकारा पाये।

**कर्मबन्धन की अनादिता** – यह आत्मा परमार्थतः अपने स्वरूपमात्र है, लेकिन अनादिकाल से यह कर्मबन्धन से ग्रस्त है, विषय कषाय के विभावों से मलिन है, इस कारण इन मूर्त कर्मों से वह बंधन को प्राप्त हो रहा है। कब से इस जीव के साथ कर्म लगे हैं और कब से इस जीव के साथ रागद्वेष लगे हैं इसका कोई दिन मुकर्रर किया ही नहीं जा सकता है, क्योंकि रागद्वेष जो आते हैं वे कर्मों के उदय का निमित्त पाकर आते हैं। कर्मों का उदय तब हो जब कर्म सत्ता में हो। कर्म सत्ता में तब हो जब कर्म बँधे, कर्म तब बंधें जब रोगद्वेष भाव हो तो अब किसको पहिले कहोगे? इस जीव के साथ पहिले कर्म हैं पीछे रोगद्वेष हुए? ऐसा कहोगे क्या? अथवा इस जीव के साथ रागद्वेष तो पहिले थे पीछे कर्म बंधे? ऐसा कहोगे क्या? दोनों में से कुछ भी नहीं कह सकते।

**द्रव्यकर्म व भावकर्म में किसी की आदि मानने में आपत्ति** – यदि जीव में रागद्वेष पहिले थे, कर्म पीछे बँधे तो यह बतावो कि वे रागद्वेष जो सबसे पहिले थे वे हुए कैसे? यदि जीव में अपने आप सहज हो गए तो यह जीव कर्मों से छूटने के बाद एक बार वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा होने के बाद भी अगर यो ही सहज रागद्वेष आ गए तो ऐसी मुक्ति का क्या करें कि जिसमें किसी प्रकार एक बार संकट से छूट पाये थे और अब संकट से घिर गये, इस कारण यह बात नहीं है कि जीव में रागद्वेष पहिले थे, कर्मबंधन न था, रागद्वेषके कारण फिर कर्म बंधना शुरू हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा कहेगे कि जीव के साथ कर्म बंध पहिले था, उसके उदय में ये रागद्वेष हुए हैं। तो वह बतलावो कि जब जीव में सबसे पहिले कर्म बंध था, तो वह कर्म बंध हो कैसे गया? रागद्वेष हुए हैं। तो वह बतलावो कि जब जीव में सबसे पहिले कर्म बंध था, तो वह कर्म बंध हो कैसे गया? किस कारण से हुआ या बिना कारण के हुआ। किस कारणसे हुआ यह तो कह न सकेगें इस प्रसंग में क्योंकि सबसे पहिले कर्म बंध जायेगे तो फिर इससे संसार में रूलना होगा, फिर मुक्ति का स्वरूप ही क्या रहा, इससे न भाव—कर्म ही सर्वप्रथम हुआ कह सकते और न द्रव्य कर्म को ही सर्वप्रथम हुआ कह सकते।

**द्रव्यकर्म व भावकर्म की अनादित पर दृष्टान्त** – द्रव्यकर्म, भावकर्म की अनादिता समझने के लिये एक दृष्टान्त लो – आम के बीज से आम का पेड़ उगता है, आप सब जानते हैं और आम के पेड़ से आम का बीज उत्पन्न होता है। आम के फल के बीज से आम वृक्ष हुआ, आम वृक्ष से आम का फल हुआ तो आप अब यह बतलावो कि वह लगा हुआ फल कहाँ से आया? आम के पेड़ से और वह आम का पेड़ कहाँ से आया? आम के फल से और वह आम का फल कहाँ से आया? आम के वृक्ष से, इस तरह बोलते जावो, कहानी पूरी हो ही नहीं सकती। कोई फल ऐसा नहीं था जो कभी पेड़ से न हुआ था और कोई पेड़ ऐसा नहीं था जो कभी बीज से न हुआ था। तो जैसे बीज और वृक्ष इन दोनों की परम्परा अनादि से चली आ रही है उसमें किसे पहिले रक्खोगे, ऐसे ही जीव और कर्म का एक सम्बन्ध कि कर्म से रागद्वेष हुए, रागद्वेष से कर्म बँधे, यह सम्बन्ध अनादि से चल रहा है। अच्छा बतावो आज जो बेटा है वह किसी पिता से हुआ ना, और वह पिता अपने पिता से हुआ। क्या कोई ऐसा भी पिता किसी समय हुआ होगा जो बिना पिता के आकाश से टपककर आया हो या यह किसी और तरह पिता हुआ हो, बुद्धि में नहीं आता ना। तो जैसे यह संतान अनादि है इसी प्रकार यह जीव और कर्म का सम्बन्ध भी अनादि है।

**द्रव्यकर्म व भावकर्म के अनादि सम्बन्ध होने पर भी विविक्ता** – भैया ! जीव और कर्म का बन्धन अनादि फिर भी ये दोनों तत्व भिन्न भिन्न हैं, और ऐसा उपयोग बन जाय सही तो कर्म जुदा हो सकते हैं। और आत्मा केवल विविक्त हो सकता है। जैसे खान में जो सोने की खान है वहाँ स्वर्ण पाषाण निकलता है उसमें वह स्वर्ण किस समय से बना हुआ है? ऐसा तो नहीं है कि पल्ले वहाँ अन्य किस्म का कोरा पत्थर था, पीछे स्वर्ण उसमें जड़ाया गया हो? वह पाषाण तो ऐसा ही स्वर्णपाषाण रहा आया है, उस पाषाण में स्वर्ण का सम्बन्ध चिरकाल से है, जबसे पाषाण है तब से ही है, लेकिन उसे तपाया जाय या जो

प्रक्रिया की जाती है वह की जाय तो वह स्वर्ण उस पाषाण से अलग हो जाता है। जैसे तिल में तैल बतावो किस दिन से आया है, क्या कोई नियम बना सकते हो कि कबसे आया? वह तो व्यक्तरूप से जब से तिलका दाना शुरू हुआ है, बना है तबसे ही उसमें तैल है। तो जब से तिल है तबसे उस दाने में तैल है। रहे आवो शुरू से दोनो एकमेंक, लेकिन कोल्हू में पेले जाने के निमित्त से तिल अलग नजर आता है और तैल अलग नजर आता है, ऐसे ही ये जीव और कर्म दोनो अनादि से बद्ध है लेकिन सम्यदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के प्रताप से यह जीव विविक्त हो जाता है और ये सब कर्म और नोकर्म जुदे हो जाते हैं। जब यह जीव द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनो से मुक्त हो जाता है, फिर कभी भी कर्मों से नहीं बँधता।

**परिस्थिति और कर्तव्यशिक्षा** – यहां यह बतला रहे हैं कि जब यह कहा गया था कि ये सुख केवल वासना मात्र है, ये हैं नहीं, परमार्थतः तो स्वभाव ही अपना है। तो फिर यह जीव इस परमार्थ भूत स्वभाव को क्यों नहीं प्राप्त कर लेता है, इस आंशका के समाधान में यह बताया गया है कि मोह के उदय से यह आत्मा अपने स्वरूप से च्युत हो जाता है, विवेक फिर नहीं रहता। विवेक न रहने के कारण पदार्थ का स्वरूप यथार्थ परिज्ञान नहीं हो पाता है। जब अपना अंतस्तत्व न जान पया जो यह बाह्य उपयोगी रहा, बहिरात्मा रहा, वहाँ य परपदार्थ में यह मेरा है, यह मैं हूँ, ऐसी विधि से कल्पना बनाता रहा। अज्ञान दशा में यह बहिरात्मा दशा जब तक रहती है तब तक यह ज्ञानी अंतस्तत्व का ज्ञान नहीं कर पाता, इस कारण मिथ्यात्व त्यागकर ज्ञानी होकर परमात्मपद का साधन करना चाहिए। इससे इस मिथ्या सुख दुःख से परे शुद्ध आनन्द प्रकट हो जायेगा।

**वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।**

**सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥ ४ ॥**

**मूढमान्यता** – मोह से मूर्च्छित हुआ यह अज्ञानी प्राणी कैसा बाह्य में भटकता है कि जो जो पदार्थ सर्वथा अपने से भिन्न स्वभाव वाले हैं उन परपदार्थों को यह मैं हूँ इस प्रकार मानता फिरता है। शरीर घर, धन, स्त्री, पुत्र मित्र और कहां तक कहा जाय, शत्रु को भी मोही जीव अपना मानता है। कहते हैं कि यह मेरा शत्रु है, उसे अपना माना है।

**शरीर क्या** – जो शीर्ण हो, जीर्ण हो, गले उसका नाम शरीर है, यह तो सस्कृत का शब्द है, उर्द में भी शरीर कहते हैं। जिसका प्रतिकूल शब्द शरीफ का है अर्थ सज्जन जिससे उल्टे शरीर का दुर्जन, बदमाश। तो यह शरीर शरीर है, दुर्जन है, बदमाश है, इससे कितना ही प्रेम करो, कितना ही खिलावो, कितना ही तेल फुलेल लगावो, कितनी ही सेवा करो, यह जब फल देता है। तो बदबू पसीना आदि ऐब देता है। ये जितनी मूर्तियाँ दिखती हैं हम आपको ये सब बड़ी अच्छी देवतासी साफ सुथरी दिख रही हैं, सिर में तेल लगा है, बड़ा श्रंगार है, कपडे भी चमकीले हैं, किसी का चदर श्रंगार है, किसी का कोट। सजे-धजे देवता से सब बैठे हैं, पर ये सब भरे पूरे किस चीज से हैं उसका भी दर्शन कर

लो। अपनी ग्लानि अपने को जल्दी मालूम हो सकती है और दूसरे की भी। मोही जीव इस शरीर को अपना मानते हैं।

**शरीर सेवा का कारण** – जो बुद्धिमान पुरुष होते हैं वे भी इस शरीर की सेवा करते हैं, वे भी स्वस्थ रहने के उपाय बनाते हैं, सयंत भोजन करते, संयमित दिनचर्या करते, सब कुछ स्वास्थ्य ठीक रखने का प्रोग्राम रखते हैं लेकिन शरीर की यह सेवा अपना मोह पुष्ट करने के लिए नहीं करते किन्तु इस शरीर को सेवक समझ कर इस शरीर से कुछ अपने आत्मा की नौकरी लेना है, कुछ आत्मा का हित करना है, केवल इस हितभाव से शरीर की सेवा करते हैं।

**शरीर की अस्वस्थता** – यह शरीर ममत्व के लायक नहीं है, यह अपने से अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाला है। मैं चेतन हूँ, यह शरीर अचेतन है, इसको जो आपा मानता है उसी को तो बहिरात्मा कहते हैं। जो पुरुष इस शरीर को और आत्मा को एक मानता है वह अज्ञानी है। कितने शरीर पाये इस जीव ने ? अनन्त। सबको छोड़कर आना पड़ा। उसी तरह का तो यह शरीर हैं। कितने समय तक रहेगा शरीर? आखिर इसे भी छोड़कर जाना होगा। जिसका इतना मोह कर रहे हैं यह शरीर कुटुम्बियों द्वारा, मित्रजनों द्वारा जला दिया जायगा। इसको क्या अपना मानना? क्या इस शरीर की सेवा करना? अपने अंतर में सावधानी बनाये रहो कि मैं शरीर नहीं हूँ यह मूढ जीव ही इस शरीर को अपना बनाए फिरता है।

**मूढ का गृह** – घर का नाम है गृह । गृह उसे कहते हैं जो ग्रह ले, पकड़ले या जो ग्रहा जाय पकड़ा जाये। यह मोही जीव जिसको पकड़कर रहे उसका नाम गृह है। आप जिस घर के हैं कुछ कामवश घर छोड़कर 10 साल भी बाहर रहे तो भी जब सुध आती है तो आप फिर अपने घर आ जायेंगे उसी का नाम घर है। ऐसे ही गृहणी है। गृह और गृहणी ये दानो जकड़ी जाने वाली चीजें हैं। प्रयोजनवश कितना भी दूर रह जायें पर गृह और गृहणी ये दोनो नहीं छूटते हैं। किन्तु विरक्त ज्ञानी हो तो ये छूटते हैं, इस जीव का ज्ञानानन्दस्वरूप है, किन्तु मोही जीव विकट जकड़ा हुआ है इस गृह से। इस गृह को मूर्ख जीव मानते हैं कि यह मेरा है। घर तो इस आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही भी नहीं है घर तो प्रकट अचेतन घर को भी यह मोही जीव अपना मानता है। कभी यह जिज्ञासा हो सकती है तो फिर क्या करे। क्या घर छोड़ दे। अरे भैया। छोडो अथवा न छोडा – छोड दो तो भी कुछ संकट नहीं है और न छोड़ सको कुछ काल तो भी कुछ मिथ्यात्व नहीं आ गया है, लेकिन सत्य बात जो है उसका प्रकाश तो रहना चाहिए। यह घर मेरा कुछ नहीं है।

**धन** – धन की भी निराली बात है। धन में परिजन को छोड़कर सब कुछ आ गये। सोना चाँदी, रूपया पैसा, गाय-भैस सभी चीजें आ गयी। ये सब भी प्रकट जुदे हैं। लेकिन कल्पना में ऐसे बसे हुए हैं कि ज्ञानप्रकाश के लिए भी कुछ ख्याल नहीं आता । छोडने की बात तो दूर रहो, पर किसी समय कुछ हिचकता भी नहीं धन की कल्पना करने में, इस धन से भिन्न अपने को यह मोही नहीं मान पाता है।

**स्त्री** – यह भी एक भिन्न जीव है, सबके अपने-अपने कर्म हैं सबके अपने-अपने कषाय हैं! कषाय से कषाय मिल रही है इस कारण परस्पर में प्रेम है। जिस घर को पुरुष आबाद रखना चाहता है उस ही घर को स्त्री भी आबाद रखना चाहती है, एक सी कषाय मिल गयी और उसके प्रसंग में प्रत्येक बात में भी प्रायः एक सी कषाय मिल गयी है। जब दोनो उद्देश्य एक हो जाते हैं तो कषाय अनुकूल हो ही जाती है। किसी एक काम को मिलजुल कर करने की धुन बन जाय 5 आदमियों की भी तो उन पाँचों की इच्छा कषाय एक सी अनुकूल हो जायगी और फिर उस अनुकूलता में एक दूसरे के लिए श्रम करते रहेंगे।

**दार, भार्या, कलत्र** – यहाँ स्त्री को दारा शब्द से कहा गया है। हिंदी में लोग दारीदारी कहा करते हैं। गाली के रूप में यह शब्द बोला जाता है। यह रिवाज यहाँ चाहे न हो पर देहातो में अधिक है। दारा का अर्थ है दारयति भ्रातृन् इति दारा, जो भाई-भाई को लड़ाकर जुदा कर दे। स्त्री का नाम दारा भी है। उस शब्द में ही यह अर्थ भरा है। यद्यपि यह रिवाज हो गया है कि बड़े हो गए तो अब जुदे-जुदे होना चाहिए, मगर बड़े हो जाने से जुदा कोई नहीं होता। विवाह होने से स्त्री होने से फिर जुदेपन की बात मन में आती है तो उस जुदेपन के होने का कारण स्त्री है ना इसलिए उसका नाम दारा रक्खा गया है। स्त्री का भार्या भी नाम है। जो अपनी जिम्मेदारी समझकर घर को निभाये उसे भार्या कहते हैं। कलत्र भी कहते हैं। कल कहते हैं शरीर को और त्र मायने है रक्षा करने वाला। पति के शरीर की रक्षा करे, पुत्र के शरीर की रक्षा करे और खाना देकर सभी के शरीर की रक्षा करती है इसलिए उसका नाम कलत्र है, इसे यह मूढ जीव अपना मानता है।

**स्त्री की पति से विविक्ता** – स्त्रीजन पुरुषों के विषय में सोच लें कि वे पति को अपना समझती हैं व्यवहार में चूँकि एक उद्देश्य बना है और कषायें मिल रही हैं इस कारण मिल जुलकर रहा करती हैं तिस पर भी ऐसा नहीं है कि पुरुष की इच्छा से स्त्री काम करती हो, स्त्री की इच्छा से पुरुष काम करता हो, यह त्रिकाल हो ही नहीं सकता है। सब अपनी-अपनी अच्छाव से अपना अपना काम करते हैं। मिलजुल गयी इच्छा और कषाय, पर प्रेरणा सबको अपनी-अपनी इच्छा की ही मिली हुई है, ये मोही जीव ऐसे परजनो को अपना मानते हैं।

**पुत्र** – व्यामोही पुरुष को अपना मानते हैं। पुत्र किसे कहते हैं? जो कुल को बढ़ाये पवित्र करे। इस आत्मा का वंश है चैतन्यस्वरूप। इस चैतन्यस्वरूप को पवित्र करने वाला, वृद्धिगंत करने वाला तो यह ज्ञानपरिणत स्वयं का आत्मा है इसलिए यह मेरा तत्त्व ज्ञान ही वस्तु: मेरा पुत्र है जो चैतन्य कुल को पवित्र करे। यहाँ कौन सा कुल अपना है? आज इस घर में पैदा हुए हैं तो इस घर के उत्तरोत्तर अधिकारी बनते जायें ऐसा कुल मान लेते हैं पर यहाँ के मरे कहाँ पहुँचे 343 घनराजू प्रमाण लोक में न जाने कहाँ-कहाँ जन्म हो जाय, क्या रहा फिर यहाँ का समागम? सब मोह की बातें हैं। पुत्र का दूसरा नाम है सुत। सुत उसे कहते हैं जो उत्पन्न हो, इसी से सूतक शब्द बना है। कही ऐसी प्रथा है कि जन्म के

10 दिनों को सौर कहते हैं और मरे के 12 दिनों को सूतक के दिन कहते हैं, मगर सूतक नाम उत्पन्न होने का है, जन्म में कहते हैं सूतक और मरने में कहते पातक। किसी के यहाँ बच्चा पैदा हुआ हो और जाकर कह दो कि अभी इनके यहाँ सूतक है तो वह बुरा मान जाता है, वह सोचेगा कि हमारे घर में किसी का मरना सोचते हैं क्योंकि मरे पर सूतक कहने का रिवाज हो गया है। पर ऐसा नहीं मरे को पातक और पैदा होने को सूतक कहते हैं। चाहे कुपूत हो, चाहे सुपूत हो सब सुत कहलाते हैं।

**लौकिक मित्र** – संसार के दोस्तों की बात देख लो – एक कहावत है कि आप डूबते पाड़े तो डूबें जजमान। गिरते हुए को एक धक्का लगा देते हैं ऐसी परिभाषा है दोस्तों की। कोई यह घटाते हैं कि जो दोस्त होते हैं वे अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दोस्त होते हैं, ठीक है, यह भी अर्थ है पर अध्यात्म में यह अर्थ लेना कि जो जिगड़ी मित्र है, हार्दिक मित्र है, निष्कपट है, संसार की दृष्टि में वह बिल्कुल स्वच्छ हृदय का है तो भी सिवाय मोहर्गत में गिराने के और करेगा क्या वह? मित्र लोग विषयो के साधन जुटाने के लिए, संसार के गुड्डों में गिराने के लिए, संसार के संकटों में भटकाने के लिए होते हैं। परमात्मा से तो अपने मित्र हैं देव शास्त्र और गुरु। देव, शास्त्र, गुरु के सिवाय दुनिया में कुछ मित्र नहीं है। जैसे मित्र जन प्रसन्न हो गए तो क्या करा देगे? ज्यादा से ज्यादा दुकान करा देगे, विवाह करा देगें, तृष्णा की बातें लगा देगे। चाहिए तो वही पाव डेढ पाव अन्न और दो मोटे कपड़े और तृष्णा ऐसी बढ़ जायगी कि जिसका अंत ही नहीं आता। कितने ही मकान बन जाये, कितना ही धन जुड़ जाय, कितने ही धन आने के जरिये ठीक हो जाये तिसपर भी तृष्णा का अंत नहीं आता। कभी यह नहीं ख्याल आता कि जो भी मिला है वही आवश्यकता से अधिक है। तो मोह में मित्र जन क्या करेगे; तृष्णा बढ़ाने का काम करते हैं और संसार के गड्ढे में गिराते हैं। यह मूढ जीव मित्र को भी अपना मानता है।

**शत्रु** – यह व्यामोही शत्रु को भी अपना मानता है। देखिये विचित्रता कि यह अज्ञानी प्राणी शत्रु का ध्वंस करना चाहता है। शत्रु इसके लिये अनिष्ट बन रहा है, किन्तु मिथ्यात्व भाव की परिणति कैसी है कि शत्रु के प्रति भी यह मेरा शत्रु है, इस प्रकार अपनत्व को जोड़ता है। शत्रु को मिटाने के लिये अपनत्व को जोड़ रहा है। हद हो गई मिथ्यात्व की। यह मोही जीव मोह की बेहोशी में यह मेरा शत्रु है ऐसा मानता है।

**मोह में भूल** – भैया ! मोह के उदय में यही होता है। अपने स्वरूप को भूलकर अपने भले बुरे का कुछ भी विवेक न रखकर बाहरी पदार्थों में अपनी तलाश करते हैं, मैं कौन हूँ, मेरा क्या स्वरूप है, मुझे क्या करना चाहिए? जिन समागमों में पड़े हुए हो उन समागमों से, परपदार्थों से तुम्हारा कुछ सम्बंध भी है क्या? किसी की भी चिंता नहीं करता है। ये सभी पदार्थ मेरी आत्मा से भिन्न हैं। इन पदार्थों में से किस पदार्थ में झुककर शान्ति हासिल कर ली तो बतावो? पर के झुकाव में शान्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि परकी और झुकाव होना यह साक्षात् अशान्ति का कारण है। ये सर्व भिन्न स्वभाव वाले हैं फिर इन्हे मैं क्यों अपना मान रहा हूँ ऐसी चित्त में ठेस इस जीव के मोह में हो नहीं पाती है। क्योंकि

इसने अपने इस शरीर पर्याय को ही आपा मान लिया है। जब मूल में ही भूल हो गयी तो अब जितना भी यह अपने गुजारे का विस्तार बनायेगा वह सब उल्टा ही विस्तार बनेगा।

**भूल पर भूल** – देह को ही जीव आत्मा समझते हैं, उनके उपयोग का जितना विस्तार बढ़ेगा वह सब कुमार्ग का विस्तार बढ़ेगा। घर में रसोई में चावल शाक आदि बनाने की जो भगोनी है, पतेली है वे किसी कोने में दस पाँच इकट्ठी लगानी है तो चूँकि जगह कम घिरे इसलिए एक के ऊपर एक क्रम से लगाते हैं। तो नीचे की पतेली यदि औंधी कर दी है तो ऊपर जितनी भी पतेली रखी जावेगी वे सब औंधी ही रखी जा सकेगी, सीधी नहीं, और नीचे की पतेली यदि सीधी रखी है तो ऊपर की सभी पतेली सीधी ही रखी जा सकेगी, औंधी नहीं। यो ही प्रारम्भ में उपयोग यदि सही है तो विकार विस्तार भी सही रहेगा और मेल में ही यदि भूल कर दी तो अब जितने भी विकार होंगे, श्रम होंगे वे सब उल्टे ही उल्टे हो जायेंगे। यह मूढ पर्याय व्यामोह के वश हुआ इन समस्त पदार्थों को अपना मानता है। ये सब विडम्बनाएँ इस निज आत्मास्वरूप को न जानने के कारण हैं।

**दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे।**

**स्वस्वकार्यं वशाद्याति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे।११।।**

**क्षण संयोग का पक्षियों के दृष्टान्तपूर्वक समर्थन** – जैसे पक्षीगण नाना देशों से उड़ करके शाम के समय पेड़ पर बैठ जाते हैं, रात्रिभर वहाँ बसते हैं, फिर वे अपने-अपने कार्य के वश से अपने कार्य के लिए प्रभात होते ही चले जाते हैं इस ही प्रकार ये संसार के प्राणी, हम और आप अपने-अपने कर्मोदय के वश से नाना गतियों से आकर एक स्थान पर, एक स्थान पर, एक घर में इकट्ठे हुए हैं, कुछ समय को इकट्ठे होकर रहते हैं, पश्चात् जैसी करनी है, जैसा उदय है उसके अनुसार भिन्न भिन्न गतियों में चले जाते हैं।

**क्षण संयोग पर यात्रियों पर यात्रियों का दृष्टान्त** – ऐसी स्थिति है इस संसार की जैसे यात्रीगण किसी चौराहे पर को किसी दिशा से आकर कोई किसी दिशा से आकर मेलें हो जायें तो वे कितने समय को मेलें रहते हैं। बस थोड़ी कुशल-क्षेम पूछी, राम-राम किया, फिर तुरन्त ही अपना रास्ता नाप लेते हैं। ऐसे ही भिन्न भिन्न गतियों से हम और आप आये हैं, एक महल में जुड़ गये हैं, कोई कहीं से आया कोई कहीं से, कुछ समय को इकट्ठे हैं जितने समय का संयोग है उतना समय भी क्या समय है? इस अतन्तकाल के सामने इतना समय न कुछ समय है। ऐसे कुछ समय रहकर फिर बिछुड़ जाना है फिर किसी से राग करने में क्या हित है?

**क्षण भंगुर जीवन में वास्तविक कर्तव्य** – भैया ! थोड़े अपने जीवन में भी देख लो। जो समय अब तक गुजर गया है सुख में, मौज में वह समय आज भी ऐसा लग रहा कि कैसे गुजर गया? सारा समय यों निकल गया कि कुछ पता ही नहीं पड़ा। तो रही सही जिन्दगी यों ही निकल जायगी कि कुछ पता ही न रहेगा। ऐसी परिस्थिति में हम औश्र आपका कर्तव्य क्या है? क्या धन के मोह में, परिवार के मोह में पड़े रहना ही अपने मोह रखत है कि यह बहुत जुड़ जाय तो हम दुनिया के बीच में कुछ बड़े कहलाएँ। अरे पर

वस्तु के संघय कोई बड़ा नहीं कहलाता है। मान लो क इस अज्ञानमय दुनिया ने थोड़ा बड़ा कह दिया, पर करनी है खोटी कर्म बंध होता है खोटा, तो मरने के बाद एकदम कीड़ा हो गया, पेड़ बन गया तो अब कहां बड़प्पन रहा अथवा बड़प्पन तो इस जीवन में भी नहीं है। काहे के लिए धन का मोह करना, उससे शान्ति और संतोष नहीं मिलता और किसलिए परिजन से मोह करना? कौन सा पुरुष अथवा स्त्री कुटुम्बी हमारा सहायक हो सकता है? सबका अपना अपना भाग्य है, सबकी अपनी अपनी करनी है, जुदी जुदी कषाये है, सब अपने ही सुख तन्मय रहते हैं। परिजन में भी क्या मोह करना? ठीक स्वरूप का भान करलें यही वास्तविक कर्तव्य है।

**संसार में संयोग वियोग की रीति** – गृहस्थी में जो कर्तव्य है ऐसे गृहस्थी के कार्य करे, पर ज्ञानप्रकाश तो यथार्थ होना चाहिए। यह दुनिया ऐसी आनी-जानी की चीज है। जैसा एक अंलकार में कथन है जब पत्ता पेड़ से टूटता है तो उस समय पत्ता पेड़ से कहता है – **पत्ता पूछे वृक्ष से कहो वृक्ष बनराय। अबके बिछुड़े कब मिले दूर पड़ेगे जाये।।** पत्ता पूछता है कि है वृक्षराज! अब हम आपसे बिछुड रहे है अब कब मिलेगे? तब वृक्ष यो **बोलियो सुन पत्ता एक बात। या घर याही रीति है इक आवत इक जात।।** पेड़ कहता है कि ऐ पत्ते! इस संसार की यही रीति है कि एक आता है और एक जाता है। तुम गिर रहे हो तो नये पत्ते आ जायेगें। ऐसा ही यहाँ का संयोग है, कोई आता है कोई बिछुडता है। जो आता है वह अवश्य बिछुडता है।

**तृष्णा का गोरखधंधा** – भैया ! बड़ा गोरखधंधा है यहाँ का रहना। मन नहीं मानता है, इस दुनिया मे अपनी पोजीशन बढ़ाना, और बाह्य में दृष्टि देना, इससे तो आत्मा का सारा बिगाड़ हो रहा है, न धर्म रहे, न संतोष से रहे, न सुख रहे। तृष्णा के वश होकर जो सम्पदा पास में है उसका भी सुख नहीं लूट सकते। जो कुछ उसमें अच्छी प्रकार से तो गुजारा चला जा रहा है, सब ठीक है, पर अपने चित्त मे यदि तृष्ण हो जाए तो वर्तमान में जो कुछ है उसका भी सुख नहीं मिल पाता। इस संसार के समागम में कहीं भी सार नहीं है।

**सचेतन संग का कड़ा उत्तर** – और भी देखो कि अचेतन पदार्थ कितने ही सुहावने हो, किन्तु अचेतन पदार्थ कुछ उसे मोह पैदा कराने की चेष्टा नहीं करते है, क्योंकि वे न बोलना जानते है, न उनमें कोई ऐसा कार्य होता है जो उसके मोह की वृद्धि के कारण बने। ये चेतन पदार्थ मित्र, स्त्री आदि ऐसी चेष्टा दिखाते है, ऐसा स्नेह जताते है कि कोई विरक्त भी हो रहा हो तो भी आत्मकार्य से विमुख होकर उनके स्नेह में आ जाता है। तब जानो कि ये चेतन परिग्रह एक विकट परिग्रह है, ये सब जीव नाना दिशावो से आये है, नाना गतियों से चले जायेगे। इन पाये हुए समागमों में हित का विश्वास नहीं करना है। मेरा हित हो सकता है तो यथार्थ ज्ञान से ही हो सकता है। सम्यग्ज्ञान के बिना कितने भी यत्न कर लो संतोष व शान्ति प्रकट न हो सकेगीं। यहाँ रहकर जो इष्ट पदार्थ मिले है उनमें हर्ष मत मानो, और कभी अनिष्ट पदार्थ मिलते है तो उनमें द्वेष मत मानो।



**अपने बचाव का कर्तव्य** – भैया ! ये इष्ट अनिष्ट पदार्थ तो न रहें साथ, किन्तु जो हर्ष और विषाद किया है उसका संस्कार इसके साथ रहेगा, अभी और परभव में क्लेश पैदा करेगा। इस कारण इष्ट वस्तु पर राग मत करो और जो कोई अनिष्ट पदार्थ है उनसे व जो प्राणी विराधक है, अपमान करने वाले है या अपना घात करने वाले है, बरबादी करने वाले है, ऐसे प्राणियों से भी अन्तर में द्वेष मत करो। बचाव करना भले ही किन्ही परिस्थितियों में आवश्यक हो, पर अंतरंग में द्वेष मत लावो। मेरे लिए कोई जीव मुझे बुरा नहीं करता है क्योंकि कोई कुछ मुझे कर ही नहीं सकता है। कोई दुष्ट भी हो तो वह अपन परिणाम भर ही तो बनायेगा, मेरा क्या करेगा ? मैं ही अपने परिणामों से जब खोटा बनता हूँ तो मेरे को मुझसे ही नुकसान पहुँचता है तो इष्ट पदार्थ में न राग करो और न अनिष्ट पदार्थ में द्वेष करो।

**विराधकः कथं हन्त्रे जनाय परिकुप्यति ।**

**त्रयंगुलं पातयन् पद्भ्यां स्वयं दण्डेन पात्यते ॥१०॥**

**प्रत्ययकारी पर क्रोध करने की व्यर्थता** – कोई पुरुष किसी दूसरे का घात करना चाहता हो, सताता हो या घात किया हो तो वह जीव भी किसी न किसी समय सतायेगा, बदला लेगा। जब कोई सता रहा हो तब यह सोचना चाहिए मैंने इसे सताया होगा, क्लेश पहुँचाया होगा पहिले तो यह प्रतिकार कर रहा है, इस पर क्या क्रोध करना? जैसा मैंने किया तैसा इसके द्वारा मुझे मिल रहा है। जैसे कोई पुरुष भूसा काठ या लोहे के बने हुए तिरंगुल से समेटते है, उसमे तीन अंगुलियां सी बनी होती है? उसके चलाने पर चलाने वाला आदमी भी झुक जाता है। वह तिरंगुल चलाने वाला जब भुस समेटता है तो जमीन पर वह अपने पैर भी चलाता जाता है। यदि वह दोनो पैरो से चलावे तो एकदम लट्टकी तरह गिर जावेगा। उदाहरण में यह बात कही गयी है। कि जो दूसरे को मारता है वह भी उस दूसरे के द्वारा कभी मारा जाता है, जो दूसरे को सताता है वह भी कभी उस दूसरे के द्वारा सताया जाता है। जब कोई सताये तो यह सोचना चाहिए कि इस पर क्या क्रोध करना, मैंने ही किसी समय में इसका बुरा किया है। कर्म बंध किया है उसके हृदय में यह घटना आ गयी है। इसमें दूसरे पर क्या क्रोध करना है?

**रोष और द्वेष भावनामें बरबादी** – इस दृष्टान्त में दूसरी बात यह भी जानना कि भुस को समटने वाला तो तिरंगुल होता है, उसे चलाते है और साथ ही पैर घसीटते है ताकि भुस आसानी से इकट्ठा हो जाय। कोई पुरुष एक पैर से तिरंगुल ढकेलता है और कोई पुरुष दोनो पैरों से ढकेले तो वह पुरुष ही गिर जायगा, ऐसे ही जो पुरुष तीव्र कषाय करके किसी दूसरे पुरुष का घात करता है, अपमान करता है, सताता है तो वह पुरुष ही स्वयं अपमानित होगा और कभी विशेष क्लेश पायगा। इस कारण अपने मन बिल्कुल स्वच्छ रखने चाहिए। किसी का बुरा न सोचा जाय, सब सुखी रहे। जो पुरुष सबके सुखी होनेकी भावना करेगा वह सुख रहेगा और जो पुरुष दूसरे की दुःखी होने की भावना करता है वह चूँकि संक्लेश परिणाम बिना कोई दूसरेके दुःखी होने की सोच नहीं

सकता, सो जिस समय दूसरे को दूखी होना सोचेगा वह दूसरो के प्रति सोचकर अपने व्यग्रता बढ़ा रहा है।

**अपकार में प्रत्ययकार की प्राकृतिकता** – लोक में जो पुरुष दूसरे को सुख पहुँचाता है दूसरे भी उसे सुख पहुँचाते हैं। अभी यहाँ ही देख लो— किसी से विनय के वचन बोलो तो दूसरे से भी इज्जत मिलेगी और खुद टेढ़े कठोर वचन बोलेंगे, तो दूसरो से भी वैसे ही वचन सुनने को मिलते हैं, वैसे ही व्यवहार देखने को मिलता है। तो जब यह सुनिश्चित है कि हम जैसा दूसरे के प्रति सोचेंगे, वैसे ही मुझे होगा, तब अपकार करने वाले मनुष्य का बदले में कोई में कोई दूसरा अपकार कर रहा है तो उस पर क्रोध करना व्यर्थ है। जो किया है सो भोगा जा रहा है। अब यदि उस पर क्रोध करते हैं तो एक भूल और बढ़ाते हैं। पूर्व काल में भूल किया था उसका फल तो आज भोग रहे हैं और उसी भूल को अब फिर दुहरायेगे तो भविष्य में फिर दुःख भोगना पड़ेगा। अब कोई पुरुष अपकार करता हो, अपनी किसी प्रकार की बरबादी में कारण बन रहा हो तो यह सोचना चाहिए कि यह पुरुष जो मेरा उपकार कर रहा है बुरा कर रहा है, अथवा मेरी किसी विपत्ति के ढोने में सहायक हो रहा है तो उसने जो कुछ इसके बुरा किया था उसका यह बदला दे रहा है। उसे इस पर रूष्ट होने की क्या आवश्यकता है?

**करणीय विवेक** – भैया! तत्त्वज्ञानमें अपूर्व आनन्द है, अपूर्व शान्ति है। कोई तत्त्व ज्ञान के ढिग न जाये और शान्ति चाहे तो यह कभी हो नहीं सकता कि शान्ति प्राप्त हो। इससे जो अपना बुरा कर रहा हो उसके प्रति यही सोचना चाहिए या हिम्मत हो ऐसी तो ऐसा काम करें जिससे ऐसा बदला लिया जा सके जो वह जीवन भर भी श्रम करता रहे, वह बदला है भलाई करनेका, कोई पुरुष अपना अपकार करता है तो हम उसकी भलाई करें, वह पुरुष स्वयं लज्जित होगा और आपकी सेवा जीवन भर करेगा, ऐहसान मानेगा। बुरा करने वाले के प्रति हम भी बुराई की बात करने लगे, कोई अपने पर किसी तरह विपदा ढाता है तो हम भी उसपर विपदा ढाने लगे तो इससे शांति का समय न मिल सकेगा, विरोध ही बढ़ेगा, अशान्ति ही बढ़ेगी। इससे अपकार करने वाले का बहुत तगड़ा बदला यह है कि उसका भला कर दे तो वह जीवनभर अनुरागी रहेगा और किसी समय बहुत काम आयेगा।

**मानवता के अपरित्याग में कल्याण** – भैया ! बुरा करने वाले के प्रति खुद बुरा करने लगे तो उसमें लाभ नहीं है सज्जनता भी नहीं है, बड़प्पन भी नहीं है। वहाँ तो ऐसी स्थिति हो जायगी, जैसे पुराणों में एक घटना आयी है कि कोई साधु जंगल में नदी के किनारे किसी शिलापर रोज तपस्या किया जाता था। साधु चर्याविधि से आहार के समय किसी निकट के गाँव चला जाता था और आहार लेकर लौटने पर उसी शिलापर तपस्या करता था। वह शिला बहुत अच्छी थी। एक दिन साधु के आने के पहिले एक धोबी आकर उसपर कपड़े धोने लगा। साधु ने देखा कि धोबी उस शिलापर कपड़े धो रहा है, सो कहा कि यहाँ से तूम चले जावो, अन्य जगह कपड़े धो लो, यह शिला हमारे तपस्या करने की है। धोबी ने कहा – महाराज तपस्या तो किसी भी जगह बैठकर की जा सकती है, पर कपड़े

धोने के लिए तो यह ही शिला ठीक है। आखिर दोनो में बात बढी। साधु ने धोबी के दो तमाचे मार दिये। धोबी को भी गुस्सा आया तो उसने भी मार दिया। अब वे दोनो बहुत जूझ गये तो धोबी के दो तमाचे मार दिये। धोबी को भी गुस्सा आया तो उसने भी मार दिया। अब वे दोनो बहुत जूझ गये तो धोबी पहिने था तहमद, सो वह छूट गया, अब दोनो नग्न हो गए। अब तो दोना एक से ही लग रहे थे। बहुत विवाद के बाद वह साधु ऊपर को निगाह करके कहने लगा कि अरे देवताओ, तुम्हे कुछ खबर नही है कि साधु के ऊपर संकट आ रहा है? तो आकाश से आवाज आयी की महाराज देवता तो सब धर्मात्मावो की रक्षा करने को उत्सुक है, पर हम सब लोग इस संदेह में पड़ गए है कि इन दोनो में साधु कौन है और धोबी कौन है? एक सी दोनो के कषाय है, एकसी लडाई है, एक एसी गाली-गलौज है तो उसमें कैसे निपटारा हो कि अमुक साधु है और अमुक धोबी है।

**सन्मार्ग का सहारा** – भैया ! बुरा करने वाले का बुरा करने लग जाना यह कोई अच्छा प्रतिकार नही है। सज्जनता तो इसमें है कि कुछ परवाह न करो कि कोई मेरा क्या सोचता है, तुम सबका भला ही सोच लो। एक यही काम करके देख लो। किसी का बुरा करने में तो खुद को भी संक्लेश करना पडेगा। तब बुरा सोच सकते है। जैसे किसी को गाली देना है तो अपने आपमें यह भाव लाना पडेगा कि गाली दे सके। और किसी को सम्मान भरी बात कहना है तो उसमें शान्ति से बात कर सकते हो। इससे यह निर्णय रक्खो कि हमारा कर्तव्य यह है कि हम सब जीवो के प्रति उनके सुखी होने की भावना कर, इसमें ही हमें सन्मार्ग प्राप्त हो सकेगा।

### रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणा कर्मणा

अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥११॥

**रागद्वेषवश मन्थन** – यह जीव रागद्वेषरूपी दोनो लम्बी नेतनियो के आकर्षण के द्वारा संसार समुद्र में अज्ञान से घूम रहा है। दही मथने वाली जो मथानी होती है उसमें जो डोरी लिपटी रहती है तो उस डोरी को नेतनी कहते हैं। उस नेतनी के आकर्षण की क्रिया से, जैसे मथानी मटकी में बहुत घूमती रहती है इसी प्रकार रागद्वेष ये दो तो डोरिया लगी हुई है, इन दो डोरियो के बीच में जीव पड़ा है। यह जीव मथानी की तरह इस संसार सागर में भ्रमण कर रहा है। देहादिक परपदार्थों में अज्ञान के कारण इस जीव को राग और द्वेष होता है, इष्ट पदार्थों में तो प्रेम और अनिष्ट पदार्थों में द्वेष, सो इन रागद्वेषो के कारण चिरकाल तक संसार में घूमता है। जिस राग से दुःख है उस ही राग से यह जीव लिपटा चला जा रहा है।

**रागद्वेष का क्लेश** – भैया! परवस्तु के राग से ही क्लेश है। आखिर ये समस्त परवस्तु यहाँ के यहाँ ही रह जाते है। परका कोई भी अंश इस जीव के साथ नही लगेगा, लेकिन जिस राग से जीवन भर दुःखी हो रहा है और परभव मे भी दुःखी होगा उसी राग को यह जीव अपनाए चला जा रहा है, उसका आकर्षण बना है, कैसा मेरा सुन्दर परिवार, कैसी भली स्त्री, कैसे भले पुत्र, कैसे भले मित्र सबकी और आकर्षण अज्ञान में हुआ करता

है। मिलता कुछ नहीं वहाँ, बल्कि श्रद्धा, चरित्र, शक्ति, ज्ञान सभी की बरबादी है, लेकिन राग बिना इस जीव को चैन ही नहीं पड़ती है। ऐसी ही द्वेष की बात है। जगतके सभी जीव एक समान हैं और सभी जीव केवल अपना ही अपना परिणमन कर पाते हैं तब फिर शत्रुता के लायक तो कोई जीव ही नहीं है। किससे दुश्मनी करनी है? सबका ही अपना जैसा स्वरूप है। कौन शत्रु, लेकिन अज्ञान में अपने कल्पित विषयो में बाधा जिनके निमित्त से हुई है उन्हें यह शत्रु मान लेता है। सो राग और द्वेष इन दोनों से यह जीव खिंचा चला जा रहा है।

**रागद्वेष के चढ़ाव उतार** – जैसे बहुत बड़ी झूलने की पलकियां होती हैं, मेले में उन पर बैठकर लोग झूलते हैं। बम्बई जैसे शहरों में बिजली से चले वाली बहुत बड़ी पलकियाँ होती हैं। बालक लोग शौक से उस पर बैठते हैं। पर जैसे पलकियाँ चढ़ती हैं तो भय लगता है और जब ऊपर चढ़कर गिरती हैं तब और भी अधिक भय लगता है। भय भी सहते जाते हैं और उस पर शौक से बैठते भी जाते हैं। ऐसे ही ये राग और द्वेष के चढ़ाव उतार इस जीव के साथ लगे हैं जिसमें अनेको संकट आते रहते हैं, उन्हें सहते जाते हैं, दुःखी होते जाते हैं, किन्तु उन्हें त्याग नहीं सकते हैं। भरत और बाहुबलि जैसी बात तो एक विचित्र ही घटना है, न यहाँ भरत रहे और न बाहुबलि रहे परन्तु जिस जमाने में उनका युद्ध चला उस जमाने में तो वे भी संकट काटते रहे होंगे। कौरव और पाण्डव का महाभारत देखो। महाभारत का युद्ध हुआ था उस समय तो दुनिया में मानो प्रलय सा छा गया होगा, ऐसा संकट था। न कौरव रहे न पाण्डव। पुराण पुरुषो ने भी बड़े बड़े वैभव भोगे, युद्ध किया, अंत में कोई विरक्त होकर अलग हुए, कोई संक्लेश में मरकर अलग हुए। जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग अवश्य होता है, परन्तु ये मोही जीव अज्ञान में इन बाह्य वस्तुओं को अपना सर्वस्व मानते हैं, जीव राग और द्वेष में व्यग्र रहते हैं वे अनन्तकाल तक जन्म मरण के कष्ट उठाते रहते हैं।

**राग और द्वेष का परस्पर सहयोग** – राग और द्वेष ये दोनों परस्पर सहयोगी हैं। जैसे मंथानी में जो डोर लगी रहती है उनके दोनों छोर परस्पर सहयोगी हैं, एक छोर अपना काम न करे तो दूसरा छोर अपना काम नहीं कर सकता है। एक और खिंचता है तब एक दूसरा छोर मंथानी की ओर खिंच जाता है। जैसे मंथानी की रस्सी में दोनों छोरों का परस्पर सहयोग है ऐसे ही राग और द्वेष का मानो परस्पर सहयोग है। किसी वस्तु का राग है तो उस वस्तु के बाधक के प्रति द्वेष है। किसी बाधक के प्रति द्वेष है तो उसके बाधक के प्रति राग है। ये राग और द्वेष भी परस्पर में एक दूसरे के किसी भी प्रकार का सहयोग दे रहे हैं। द्वेष के बिना राग नहीं रहता है और राग के बिना द्वेष भी नहीं रहता है। किसी वस्तु में राग होगा तभी अन्य किसी से द्वेष होगा। और अध्यात्म में यही देख लो जिसका ज्ञान और वैराग्य से द्वेष है। यों यह तो अध्यात्म की बात है। इस प्रकरणमें तो लौकिक चर्चा है।

**सर्व दोषों का मूल** – यह जीव राग द्वेष के वश होकर इस संसार समुद्र में गोते खा रहा है। जहाँ राग हो वहाँ द्वेष नियम से होता है। जिसे धन वैभव में राग है उसमें

कोई दूसरा बाधक हो गया तो उसको द्वेषी मान लिया। जिसका जो लक्ष्य है उस लक्ष्य में जा बाधक पड़े वही उसका द्वेषी बन जाता है। साधुंसत कही बिहार करते जा रहे हो तो शिकारी उन साधुवो को देखकर साधुवो पर द्वेष करता है, आज तो बड़ा असगुन हुआ, शिकार नहीं मिलने का है। तो जिसका जो लक्ष्य है उस लक्ष्य में बाधक पड़े उसी से लोग द्वेष करने लगते हैं। जहां ये राग और द्वेष दोनों होते हैं वहां यह मन अत्यन्त बेकार हो जाता है। जो मनुष्य यह दावा करता है कि हमारा तो सबसे प्रेम है, किसी से द्वेष नहीं है, यह उनकी भ्रम भरी कल्पना है। प्रेम और द्वेष ये दोनों साथ साथ चलते हैं। किसी में राग नहीं रहा तो द्वेष हो गया। यह मेरा है और यह दूसरे का है ऐसा जहाँ रागद्वेष दोनों रहते हैं वहाँ अन्य दोष तो अनायास आ ही जाते हैं क्योंकि सारे ऐंभो का कारण राग और द्वेष है।

**भ्रमण चक्र** — यह रागद्वेष की परम्परा इस जीव को संसार में भ्रमण करा रही है। जो जीव संसार में घूमता रहता है उसके रागद्वेष की उन्नति होती रहती है और उसके द्वारा शुभ अशुभ कर्मों का आस्रव हातो रहता है। अशुभ कर्म जो करेगा उसे दुर्गति मिलेगी, जो शुभ कर्म करेगा उसे सुगति मिलेगी। देखते जाइए चक्कर। रागद्वेष परिणामो से कर्म बँधे, कर्मों से गति अथवा सुगति मिली, और कोई भी गति मिलेगी उसमें देह मिला, देह से इन्द्रियाँ हुई, और इन्द्रियाँ से विषयो का ग्रहण किया और विषयो के ग्रहण से राग और द्वेष हुआ। उसी जगह आ जाइये। अब रागद्वेष से कर्म बँधा, कर्म से गति सुगति हुई, वहाँ देह मिला, देह से इन्द्रियाँ हुई, इन्द्रियाँ से विषय किया, विषयो से रागद्वेष हुआ यो यह चक्र इस जीव के चलता ही रहता है। जैसे अपने ही जीवन में देख लो— जो कल किया सो आज किया, आज किया सो कल करेगे, इससे विलक्षण अपूर्व काम कुछ नहीं कर पाता यह जीव।

**अपूर्व कार्य** — भैया! इन चिरपरिचित विषयो से विलक्षण आत्मकार्य कर ले कोई तो वह धन्य है। अपनी 24 घंटे की चर्चा देख लो। पंचन्द्रिय के विषयो का सेवन किया और मन के यश अपयश, इज्जत प्रतिष्ठा सम्बंधी कल्पनाएँ बनायी, जो काम कल किया से आज किया, रात भर सोये, सुबह उठे, दिन चढ़ गया, भोजन किया, कुछ इतर फुलेल लगाया, दूकान गए, काम किया, भोजन किया, फिर वही का वही काम। जो चक्र इन्द्रिय और मन सम्बंधी लगा आया है वही लगता जा रहा है, कोई नया काम नहीं किया। यह जीव रागवश इन्ही में अपना काम समझता है, पर नया कुछ नहीं किया। नया तो एक आत्म-कल्याण का काम है, अन्य काम तो और भवो में भी किया। मनुष्य भव में विषय सेवन से अतिरिक्त कौन सा नया काम किया? वही विषयो का सेवन, वही विषयो की बात। यो खावों, यो रहो ऐसा भोगो, ऐसा धन कमावो, सारी वही बातें हैं कुछ भी तो नया काम नहीं हुआ। और सम्भव है कि पहिले आकुलता कम थी अब ज्यादा वैभव हो गया तो ज्यादा आकुलता हो गयी। जब कम वैभव होता तो बड़ा समय मिलता है, संत्सग में भी, पाठ पूजन भक्ति ध्यान भी करने में मन लगता है। और जब वैभव बढ़ता है तो संत्सग भी प्रायः गायब हो जाता है, पूजा भक्ति में भी कम समय लगता है और रातदिन परेशानी रहती है।

**दुर्लभ नरजन्म में विवेक** – अहो, यह जीव मथानी की तरह मथा जा रहा है। कषाय किसे कहते हैं जो आत्मा को कसे। दुःखों में यह जीव मथ जाता है। नाम तो सरल है इसे बड़ा क्लेश है पर जिसे क्लेश है वही जानता है। अपनी दृष्टि शुद्ध कर लो तो क्लेश कुछ भी नहीं है। क्या क्लेश है? सड़को पर देखते हैं भैंसों के कंधे सूजे हैं, उन पर बहुत बड़ा बोझ लदा है फिर भी दमादम चाबुक चलते जा रहे हैं। बेचारे कितना कष्ट करके जुत रहे हैं और जब जुतने लायक न रहा तो कसाई के हाथ बेच दिया। कसाई ने छुरे से काटकर मांस बेच लिया और खाल बेच लिया। क्या ऐसे पशुओं से भी ज्यादा कष्ट है हम आपको? संसार में दुःखी जीवों की और दृष्टि पसार कर देखो तो जरा। अनेक जीवों की अपेक्षा हम और आप सब मनुष्यों का सुखी जीवन है, पर तृष्णा लगी है तो वर्तमान सुख भी नहीं भोगा जा सकता। उस तृष्णा में बहे जा रहे हैं सो वर्तमान सुख भी छूटा जा रहा है। ऐसी विशुद्ध स्थिति पाने से लाभ क्या लिया? यदि विषय कषायों में धन के संचय में परिग्रह की बुद्धि में इनमें ही समय गुजरा तो मनुष्य जन्म पाने का कुछ लाभ न पाया।

**ऐहिक कल्पित पोजीशन से आत्मकार्य का अभाव** – यहाँ के कुछ लोगो ने बढ़ावा कह दिया तो न ये बढ़ावा कहने वाले लोह ही रहेंगे और न यह बढ़ावा कहलाने वाला पुरुष ही रहेगा। ये तो सब मायारूप हैं, परमार्थ तत्व नहीं है। किसलिए अपने बढ़ावा में बहकर अपनी बरबादी करना। जगत में अन्य मूढों की परिस्थितियों को निहार कर अपना निर्णय नहीं करना है। यहाँ की वोटों से काम नहीं चलने का है, जगत के सभी जीव किस और बहे जा रहे हैं कुछ दृष्टि तो दो। अपना काम तो अपने आत्मा का कल्याण करना है। यह दुनिया मोहियों से भरी हुई है। इन मोहियों की सलाह से चलने से काम न बनेगा।

**यथार्थ निर्णय के प्रयोग की आवश्यकता** – भैया ! किसके लिए ये रागद्वेष किए जा रहे हैं कुछ यथार्थ निर्णय तो करिये। किसी एक को मान लिया कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरा अमुक है, यह सुखी रहे, ठीक है। प्रथम तो यह बात है कि किसी को सुखी करना यह किसी के हाथ की बात नहीं है। उसका उदय होगा तो वह सुखी हो सकेगा, उदय भला नहीं है तो सुखी नहीं हो सकता है। प्रथम तो यह बात है फिर भी दूसरी बात यह है कि संसार के सभी जीव मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। हमारे आत्मा में हमारे घर का भी पुत्र क्या परिवर्तन कर देगा? किसके लिए कल्पना में डूब रहे हैं? यह बहुत समृद्धिशाली हो जाय और उस एक को छोड़कर बाकी जो अनन्त जीव हैं वे तुम्हारी निगाह में कुछ हैं क्या? वही एक तुम्हारा प्रभु बन गया जिसको रात दिन कल्पना में बैठाये लिए जा रहे हो। कौन पुरुष अथवा कौन जीव ऐसा है जिससे राग अथवा द्वेष करना चाहिए? अरे शुद्ध तत्व के ज्ञाता बनो और जिस पदवी में है उस पदवी में जो करना पड़ रहा है करें किन्तु यथार्थ ज्ञान तो अन्तर में रहना ही चाहिए।

**कल्याण साधिका दृष्टि** – मैं सर्व परपदार्थों से जुदा हूँ, अपने आप में अपने स्वरूप मात्र हूँ। मेरा सब कुछ मेरे करने से ही होगा, मैं किसी भी प्रकार की हो भावना ही बनाता हूँ, भावना से ही संसार है और भावना से ही मुक्ति है, भावना के सिवाय मैं अन्य कुछ करने में समर्थ नहीं हूँ ऐसी अपनी भावात्मक दृष्टि हो, रागद्वेष का परित्याग हो,

आत्मकल्याण की धुन हो तो इस वृत्ति से अपने आपको मार्ग मिलेगा। विषयकषायो मे बहे जाएँ, अपने जीवन को यों ही गवां दे, यह तो कोई कल्याण की बात नहीं है। ऐसे जीवन में और पशु जीवन में अन्तर कुछ नहीं है। वे भी सभी विषयो की साधना करते है और यहाँ भी विषयो की साधना की तो कौन सा लाभ लूट लिया? ये तो सभी मिट जायेगे, और संस्कार खोटा बनाया तो इसके फल मे आगे भी दुःख होगा। इससे मोह मेंटे, रागद्वेष में न बहें, अपने आत्मा की कुछ दृष्टि बनाएँ, निष्कपट प्रभुभक्ति करें और सभी जीवों में एक समान दृष्टि का उद्देश्य करे तो यह उन्नति का साधन है।

### विपद्भवपदावते पदिकेवाति वाह्यते।

यावत्तावद्भवन्त्यन्याः विपदाः प्रचुराः पुरा ॥१२॥

**संसार में विपदावो का तांता** – यह संसार एक चक्र लगाने वाले यंत्र की तरह है। जैसे रहट में घटिया चक्र लगाती रहती है, उसमें एक घटी भर गयी, वह रीत गयी, फिर दूसरी घटी आयी वह रीत गई। जिस तरह उसी घटीयंत्र में एक घटी भरते है तो थोड़ी देर में रीत जाती है अथवा पैर से चलने वाले यन्त्र में जिसमें दो घटिका लगी है, यह रीत जाती है तो दूसरी रीतने के लिये आ जाती है। ऐसे ही इस दुनिया में एक विपत्ति को मेटकर कुछ राहत ली तो दूसरी विपदा आ जाती है। यह बात संसार के सभी जीवों पर घटित हो जाती है। आप विपत्तियों का निपटारा हो ही नहीं पाता है। सोचते है कि धन कमाने लगे तो फिर कोई विपदा न रहेगी अथवा एक संतान हुआ, दूसरा तीसरा हुआ, लो उनमें से एक मर गया। एक न एक विपदा सबको लगी रहती है।

**विपदा का आधार कल्पना** – भैया! लगी कुछ नहीं रहती है विपदा कल्पना से एक न एक विपदा मान लेते है। है किसी को कुछ नहीं। अभी ही बतावो कहाँ क्या दुःख है? न मानो किसी को कोई तो कुछ दुःख ही नहीं रहा। जैसा पदार्थ है वैसा समझ लो फिर कोई क्लेश ही नहीं रहा। जिस सम्पदा को आप अपना समझते है वही अब दूसरे के पास है तो उसे आप नहीं मानते है कि यह मेरा हे। जैसे दूसरे के पास रहने वाला वैभव भी अपना नहीं है ऐसे ही अपने पास रहने वाला वैभव भी अपना नहीं है। ऐसा मान लो तो कोई क्लेश कल्पना में भिन्न-भिन्न गुनगुनाहट है, वही विपदा है। तो जैसे रहट यंत्र के एक घड़े के खाली हो जाने पर दूसरा घड़ा सामने आ जाता है, ठीक इसी तरह इस संसार में एक विपदा दूर होती है तो दूसरी विपदा सामने आ जाती है। इस तरह देखिये तो इस संसार मे कभी साता है तो कभी असाता है। एक क्षण भी यह जीव इन कल्पनावों से मुक्त नहीं होता है, न असातावो से मुक्त होता है।

**अन्तर्दाह** – अहो, कितनी कठिन चाह दाह की भीषण ज्वालाएँ इस संसार में बस रही है, जल रहा है खुद यह विषादवन्धि में, किन्तु पक्षपात की बुद्धि को नहीं छोड़ता है। ये मरे है, इनके लिए तो तन, मन, धन, वचन सब हाजिर है। यह मोह का अंधकार सब जीवो को सता रहा है, विकल होता हुआ उनमें ही लिप्त हो रहा है। जिनके सम्बंध से क्लेश होता हे उस ही क्लेश को मिटाने के लिए उनमें ही लिप्त हो रहा है। यही है एक जाल।

कोई जाल यह ऐसा नहीं है जैसे लोहे के जाल हो, सूत के जाल हो, किसी भी प्रकार का जाल नहीं है इस जीव पर, मकड़ी के जाल बराबर भी सूक्ष्म कमजोर भी जाल नहीं है, कोई जाल नाम की बात ही नहीं है किन्तु यह मोही जीव अपनी कल्पना में मोह का ऐसा जाल पूरता है कि उससे परेशान हो जाता है, तब उसे संसार में आधि व्याधि उपाधि सब लगी रहती है। आधि नाम तो है मानसिक दुःख का, व्याधि नाम है शारीरिक दुःख का और उपाधि नाम है परका, पुछल्ला लपेटे रहने का। यों यह जीव आधि व्याधि और उपाधि से दुःखी रहा करता है। उपाधि का अर्थ है जो आधि के समीप ले जाय। उसका अर्थ है समीप और आधि का अर्थ है मानसिक दुःख। जो मानसिक दुःख के समीप ले जाये। उसका अर्थ है समीप और आधि का अर्थ है मानसिक दुःख। जो मानसिक दुःख के समीप ले जाय उसे उपाधि कहते हैं। जैसे पोजीशन डिग्री आदि मिलाना यें सब उपाधि है। तो यो यह जीव भ्रम में कल्पनाजाल में बसकर आधि व्याधि और उपाधि से ग्रस्त रहता है।

**काल्पनिक मौज से शुद्ध आनन्द का विघात** – भैया! शुद्ध आनन्द तो आत्मा के चैतन्यस्वरूप में है, किन्तु विकल्प-जालों की एसी पुरिया पूर ली कि जिससे सुलझ नहीं पाते हैं और अपना आनन्द समुद्र जो निज संयोग में सुख की कल्पना करने लगते हैं। परपदार्थों के सम्पर्क में सुख की कल्पना भले ही मोही करे, किन्तु इसका तो काम पूरा हो नहीं पाता है। जो पुरुष जिस स्थिति में है उस स्थिति में चैन नहीं मानता है, क्योंकि उससे बड़ी स्थिति पर दृष्टि लगा दी है। कोई हजारपति है। उसकी दृष्टि लखपति पर है तो वर्तमान में प्राप्त वैभव का भी आनन्द नहीं ले सकता है। यो धनी हो कोई तो दुःखी है, निर्धन हो तो दुःखी है। किसे सुख कहा जाय? मोहियों ने केवल कल्पना से मौज मान रक्खा है।

**विडम्बनाओं का संन्यास** – यदि संसार भ्रमण करते हुए भी वास्तविक सुख मिलता होता तो बड़े बड़े तीर्थकर चक्रवर्ती ऐसे महापुरुष इसा वैभव को कभी न छोड़ते। ये मनुष्य इसी बात पर तो हैरान है कि संचित किया हुआ वैभव उनके साथ नहीं जाता। कोई पदार्थ इस जीव का बन जाता या मरने पर साथ जाता तो कितना उपद्रव संसार में मच जाता? जब इस जीवन में भी कोई वैभव साथी नहीं है इतने पर तो इतनी विडम्बनाएँ हैं, यदि कुछ पैसा इस जीव के साथ जाता होता मरने पर, तब तो कितना अन्याय और कितनी विडम्बना इस संसार में बन जाती? कंजूस लोग तो बड़े दुःखी हैं, वे इसी कल्पना में मरे जा रहे हैं कि यह वैभव मेरे साथ न जायगा। बड़े बड़े महापुराण पुरुष इस वैभव को असार जानकर उससे विरक्त हुए थे। केवल एक ज्ञानमात्र निज स्वरूप का ही उन्होंने अनुभवन किया था। यदि यह वैभव कुछ भी सारभूत होता तो ये महापुरुषों क्यों इसे त्याग देते? धन वैभव समस्त परपदार्थ है, परपदार्थों में दृष्टि जाने से ही क्लेश होने लगता है क्योंकि किसी भी परपदार्थों को किसी भी रूप परिणमाना यह अपने आप के हाथ की बात नहीं है, पर मिथ्या श्रद्धा में इस जीव ने यह माना कि जिस पदार्थ को मैं जिस तरह राखूँ उस प्रकार रख सकता हूँ किन्तु बात ऐसी है नहीं, हो नहीं सकती, तब क्लेश ही तो आयगा। इसी कारण



तो ये महापुरुष इस वैभव को असार दुःख का कारण जानकर सबको त्यागकर दिगम्बर साधु हुए।

**विकट संकट और उनका विजय** – कल्पनाजाल एक विकट संकट है। जिनके कोई दिल की बीमारी, घबड़ाहट या हार्ट फेल होता है उसका मुख्य कारण पर का ही चिंतन है। कोई विकल्पजाल बनाया, उसमें परेशान हुआ कि ये सब व्याधियां उत्पन्न हो जाती है। वीर पुरुषो ने इन सब विकल्पजालो का परित्याग कर तपश्चरण धारण किया। जो पुरुषार्थ कायर पुरुषो से नहीं किया जाता वह अलौकिक पुरुषार्थ साधु संतो ने किया। कोई साधु आत्मध्यान में मग्न है उस ही समय कोई सिंह या अन्य कोई हिसंक जानवर आ जाय और उनके शरीर को खाने लगे तो वे विकल्प नहीं करते है। वे तो जानते है कि ऐसे विकल्प मैने अनेक बार किए, जन्म मरण भी अनन्त बार भोगा, पर एक ज्ञान का अनुभव और ज्ञान की स्थिरता में लगना यह काम अब तक नहीं किया। ज्ञानी पुरुष संसार, शरीर और भोगो से उदासीन रहा करते है, वे अपने आपको ही अपने ज्ञान और आनन्द का कारण मानते है। जो पुरुष यह जानते है कि ये सर्व समागम बाह्य तत्व है। सर्व समागम मिट जाने वाले है, ये समागम सदा न रहेगें, ये दुःख के कारण है। कोई चीज भिन्न है उसे अपना मानना यही दुःख का कारण है।

**परमार्थ सम्पदा और विपदा** – भैया ! यह जीव स्वभाव से सुखी है। इस पर एक भी क्लेश नहीं है, पर जहाँ परपदार्थ के प्रति विचार बनाया वहाँ क्लेश हो गया। ये पंचेन्द्रिय के विषय भोग ये कदाचित् भी आनन्द के कारण नहीं हो सकते है। यो तो जैसे दाद और खाज जिसके होता है वह उसको ही खुजाता हुआ सोचता है कि सर्वोत्कृष्ट आनन्द तो यही है। इससे बढ़कर और आनन्द क्या होगा योंकि उसके इतनी ही बुद्धि है पर भोग साधनो के बराबर विपत्ति ही और कुछ नहीं है। जो ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानस्वरूप को अपने ज्ञान में बसाये हुए है वे निराकुल रहते है। कोई अपराध न करे तो आकुलता नहीं हो सकती है। जब कोई भी आकुलता होती है तो यह निर्णय करना चाहिए कि हमने ही अपराध किया है यह जगत विपत्तियो से घिरा है। वस्तु स्वरूप के विपरीत जो श्रद्धान रखे उसे चैन नहीं मिल सकती है। ज्ञाता द्रष्टा रहे तभी आनन्द है। प्रभु का स्वरूप ऐसा ही है इस कारण प्रभु आनन्दमग्न है। सारा विश्व तीन लोक के समस्त पदार्थ उनके ज्ञान में आते है पर वे ज्ञाता द्रष्टा ही रहते है। वे जगत् साक्षी है इस कारण उनको रंच भी क्लेश नहीं होता।

**संसार में विपदाओ की प्राकृतिक देन** – देखो संसार में हम और आप सब एक विपदा को मिटाने का यत्न करते है कि दूसरी विपदा आ जाती है अर्थात् कल्पना से पदार्थ के किसी भी परिणमन में यह विपदा मानने लगात है। श्री राम भगवान कुछ बचपन में लौकिक नाते से भले ही सुखी रहे है गृहस्थावस्था मे, पर उसके बाद देखो तो सारा जीवन क्लेश ही क्लेश में गुजरा, किन्तु उनमें धैर्य था, विवेक था सो अंतिम स्थिति उनकी उत्तम रही और आत्मध्यानमग्न हुए, निर्वाणपद प्राप्त किया, पर सरसरी निगाह से देखो तो राज्यभिषेक होने को था, यहाँ तक तो खुशी थी, पर आदेशज्ञ हुआ कि भरत को राज्य

होगा। श्री राम ने सज्जनता निभाई कि भरत राजा होगा, होना चाहिए, ठीक है किन्तु जब तक हम रहेंगे घर में तब तक भरत की प्रतिष्ठा न बढ़ेगी, लोगो की दृष्टि हम पर रहेगी, तो भरत राजा होकर भी कुछ राज्य सत्कार न पा सकेगा, सो उन्होने वन जाना स्वीकार किया।

**विपदा पर विपदा** – श्री राम अब वनवासी बन गए। छोटी-छोटी विपदाएं तो उन्हे रोज-रोज आती होगी। भयानक वन, कोई साधन पास नहीं, चले जा रहे है। कितनी ही जगह तो मिट्टी के बर्तन बनाकर साक पत्र भाजी को जोड़ कर भोजन बनाया गया और किसी जगह बड़े बड़े राजा लोग भी आकर उनका सत्कार करते थे। वन की विपदाएँ उन्होने प्रसन्नता से सही। लो थोड़ी ही देर बाद एक भयानक विपदा और आयी, सीता का हरण हुआ। कोई भी विपदा हो, लगातार बनी रहे तो वह विपदा सहन हो जाती है और कल्पना में अब यह विपदा नहीं रही ऐसा भान कर लेते है। वियोग का दुःख रहा, पर जैसे ही कुछ पता चला कि सीता लंका में है, तो इस वृत्तान्त को सुनकर कुछ विपत्ति में हल्कापन अनुभव किया, लो अब युद्ध की तैयारी हो गयी। अब युद्ध को चले, युद्ध होने लगा।

**उत्तरोत्तर महती विपदा** – एक विपदा पूर्ण भी न हुई कि लो दूसरी विपदा सामने आयी। लक्ष्मण को रावण की शक्ति लग गयी। लक्ष्मण बेहोश हो गया। उस समय राम ने जो विलाप किया वह कवि की कल्पना में बड़ा करुणाजनक था। एक भाई निष्कपट भाव तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर करता है, बड़ी भक्ति से सहयोगी रहे और उस पर कोई विपदा आ जाए तो वह बहुत खलती है। किसी निष्कपट मित्र पर कोई विपदा आ जाए तो उसमें बहुत क्लेश अनुभूत होता है, क्योंकि उस निष्कपट मित्र का आभार मानता है ना वह। जब लक्ष्मण के शक्ति लगी तो कितनी विपदा श्री राम ने मानी होगी? किसी प्रकार शक्ति दूर हो गयी तो अब पुनः युद्ध की तैयारी हुई। युद्ध में कितने ही सहयोगियों पर विपदा आते देखकर कितने दुःख वे रहे होंगे।

**विपदा के सीमा के परे विपदा का अन्त**– लो युद्ध भी जीत गए, सीता भी घर ले आये, अब एक विपदा धोबिन के अपवाद की आई। यह कितनी कठिन विपदा लग गयी? सीता को फिर किसी बहाने जंगल में छोड़वा दिया। विपदा आयी। लव कुश जन्मे, लव कुश से युद्ध हुआ, सीता को फिर घर ले आए। लोकापवाद की बात मन में खलती रही। यह जानते हुए भी कि सीता निर्दोष है, अग्निकुण्ड में गिरने का आदेश दिया। जब अग्निकुण्ड में सीता कूद रही थी उस समय राम कितने विपन्न रहे होंगे, अनुमान कर लो। बाद में लक्ष्मण न रहे इस वियोग का संताप सहा, उनके ऐसी घटनाएँ आती रही कि नई-नई विपदाएँ होती गयी। श्रीराम तब तृप्त हुए जब वे सकल विकल्प त्यागकर एक ब्रह्मा के अनुभव में रत हुए।

**कल्पनोद्भूत विपदाये व उनका विनाश** – यह संसार विपदावों का घर है। विपदा भी कुछ नहीं, केवल कल्पना है। सो सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करके उन कल्पनावो को मिटाएँ तो इसमें ही अपने को शान्ति का मार्ग मिल सकता है। विपदा तो कल्पनाजाल से उद्भूत है।

जो भी विपदा मानी जाती है अनुभवी जाती है उसका प्रभाव तो जीव में ही होता है। फिर विपदा बाहर कहाँ रही? विपदा तो स्वरूप विरुद्ध कल्पना बनाना मात्र है। जो जैसा नहीं है, उसे वैसा समझना इसी में संकट का अनुभव है। अंतः संसार के संकटों से मुक्त होने के लिये वस्तुस्वरूप का यथार्थ अवगम करना ही अमोघ उपाय है। इस ज्ञानार्जन के उपाय से समस्त संकटों को मेट ले।

### दुरर्ज्यनासुरक्षेण नश्वरेण धनादिना।

स्वरथं मन्यः जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषाः॥13॥

**मोहियों की एक जिज्ञासा** – इससे पहिले श्लोक में यह कहा गया था कि इस घटी यंत्र की तरह परिवर्तनशील संसार में ये विपत्तियाँ घटी की तरह रीति भरी रहती हैं, अथवा यों कहों कि एक घटी तो रीत नहीं पाती है, दूसरी घटी रीतने लगती है। यों एक विपदा का तो अंत हो नहीं पाता कि दूसरी विपदा सामने आ जाती है, ऐसा सबको अनुभव भी होगा। जब जन समागम में है और परपदार्थों का कुछ आश्रय भी लिया जा रहा है तो ऐसी स्थिति में यह बहुत कुछ अनुभव किया जा रहा होगा कि एक विपदा तो खत्म नहीं हुई कि लो अब यह दूसरी विपदा आ गई। किसी भी किस्म की विपदा हो। सब अपने आप में अर्थ लगा सकते हैं। इस प्रसंग को सुनकर यह शंका हो सकती है कि जो निर्धन होंगे उनके ही विपदा आया करती है। एक विपदा पूरी नहीं हुई कि दूसरी विपदा आ गयी। इसमें तो निर्धनता ही एक कारण है। इष्ट समागम जुटा न सके तो वहाँ विपदा पर विपदा आती है, पर श्रीमतों को क्या क्या विपदा होगी? ऐसी कोई आशंका करे तो मानो उसके उत्तर में यह श्लोक कहा जा रहा है।

**जीता जागता भ्रम** – ये धन आदि के वैभव कठनाई से उपार्जन किए जाने योग्य है और प्राणों की तरह इनकी रक्षा करे तो इनकी रक्षा होती है, तिस पर भी ये सब नश्वर हैं, किसी दिन अवश्य ही नष्ट होंगे, बेकार होंगे। ऐसे धन वैभव से यदि कोई पुरुष अपने को स्वस्थ मानता है तो वह ऐसा बावला है जैसे कि कोई ज्वर वाला पुरुष घी पीकर अपने को स्वस्थ माने। ज्वर का और घी का परस्पर विरोध है। ज्वर वाला घी पीकर ज्वर में फंसता ही जायगा, तो कोई ज्वर वाला रोगी घी पीकर अपने को स्वस्थ माने तो वह उसका बावलापन है, उसका तो थोड़े ही समय में प्राणांत हो जायगा। ऐसे ही धन वैभव के संग के कारण अपने को कोई स्वस्थ माने तो यह अत्यन्त विपरीत बात है।

**जीव अस्वस्थता** – भैया! पहिले तो स्वस्थ शब्द का ही अर्थ लगावो। स्वस्थ का अर्थ है स्व में स्थित होना। जो धन वैभव से अपने को सुरक्षित मानता है उसकी दृष्टि निज पर है या वरपर है, स्वपर है या अस्वपर है उसकी दृष्टि बाह्य में है। अस्व कहो, पर कहो, बाह्य कहो, एक ही अर्थ है। जो स्व न हो सो अस्व है। सो वह जीव अस्वस्थ है या स्वस्थ है जिसकी दृष्टि वैभव में फंसी है वह स्व में स्थित है या पर में स्थित है? वह तो अस्वस्थ है। हो तो कोई अस्वस्थ और माने अपने का स्वस्थ तो यह उन्मत्त चेष्टा है। ज्वरवान पुरुष न अभी स्वस्थ है और न घृत खाने से पीने से स्वस्थ होगा, उल्टा दुःखी ही होगा, इसी

प्रकार यह अज्ञानी जीव एक तो स्वयं ही स्वस्थ नहीं है, उसे आनन्द का साधन निज तत्व मिल नहीं पाया है जिससे वह निज में स्थित हो सके। मिथ्यादृष्टि जीव को इस निज परम तत्व का परिचय नहीं है सो यह स्वयं ही अज्ञानी होने से अस्वस्थ है और फिर धन वैभव का योग पाये, उसकी और दृष्टि लगे तो उस दृष्टि के कारण भी यह और अस्वस्थ बढ़ गया। जो अस्वस्थ है वह शान्त नहीं रह सकता। उसे आकुलता हे तब तो बाह्य की और उसने बुद्धि भ्रमाई है। और बुद्धि भ्रमाई है तो इस स्थिति का रूपक आकुलता रूप ही होगा, अनाकुलता नहीं हो सकती है।

**धन प्रसंग की कठिनाइयाँ** – जिस धन वैभव के कारण यह मोही जीव अपने को स्वस्थ मानता है वह वैभव कैसा है? प्रथम तो वह बड़ी कठिनाई से उत्पन्न होता है, इस धन के चाहने वाले सभी हैं ना, ग्राहक है वे भी चाहते हैं कि मेरे पास धन आ जाय और दूकानदार चाहते हैं कि ग्राहको से निकलकर मेरे पास धन अधिक आ जाय, तो अब दुकानदार और ग्राहक दोनों में जब होड़ मच जाती है, सभी अपने को अधिक चाहते हैं तो ऐसी स्थिति में फिर पैसे को उपार्जन कर लेना कितना कठिन हो जाता है अथवा अन्य प्रकार की आजीविका से सभी धन कमाते हैं उनको कितना श्रम लगाना पड़ता है, कितना उपयोग और समय देना पड़ता है तब धन का संचय होता है। यह धन बड़ी कठिनता से उपार्जित किया जाता है।

**धन सुरक्षा की कठिनाई** – धन का उपार्जन भी हो जाए तो उसका संरक्षण करना बड़ा कठिन हो जाता है। आज के समय में तो यह कष्ट और भी बढ़ा हुआ है। धन का उपार्जन रखें तो शंका, बैंक में रखें तो शंका, कहाँ रखें, रख भी लें तो उसका उपयोग करना भी एक किसी कानून में एलाऊ नहीं हो रहा है। तब जैसे उसकी रक्षा की जाय? तो रक्षा करना भी कठिन हो रहा है।

**धन की अन्तगति** – धन कमा भी ले, और उसकी रक्षा कर भी ले तो आखिर धन छूट ही तो जायगा। जिनके लिए धन छूट जायगा वे लोग तुम्हारी मदद कर देंगे क्या? मिथ्यात्व में ही तो यह एक उपाय बन गया है कि मरे हुए आदमी की श्राद्ध की जाती है। किसी पांडे को चारपाई चढ़ा दो तो वह उसके बाप दादा को मिल जायगी, पांडे को गाय भैंस दे दो तो गाय भैंस का दूध उसके पास पहुंच जायगा। कैसी मान्ताएँ बसा दी गई है। इससे जिन्दा रहने वालों का मिथ्यात्वा भी बढ़ता जा रहा है। हम मरेंगे तो हमारे लड़के श्राद्ध करेंगे, धर्मात्मा बने हैं, ठेकैदार बने हैं उनके भी इसमें स्वार्थ है। ऐसी करने पुत्रों को भी स्वार्थ है और भ्रम में पड़ा हुआ यह बड़ा बूढ़ा आदमी भी स्वार्थ से ही इस परम्परा को बनाए है।

**मिथ्यात्वग्रास** – यह समस्त धन विनाशीक है, छूट जायगा। कुछ न रहेगा साथ, पर संचय करने में जिना उपयोग फसाया, जितना समय लगाया, कितना अमूल्य समय था यह मनुष्य जीवन का। इन जीवन के क्षणों में से स्वाध्याय के लिए, धर्मचर्चा के लिए, ज्ञानार्जन के लिए समय कुछ भी नहीं निकाल सकते और जो व्यर्थ की बातें हैं, उनके लिए रात दिन जुटे रहते हैं। यह सब क्या है? मिथ्यात्व ग्रह से ही तो डसे हुए हैं। ऐसा यह कठिन धन

वैभव है जिसके कारण यह अपने को स्वस्थ श्रेष्ठ और उत्तम मानता है। वास्तविक बात यह कि धन वैभव न सुख का उत्पन्न करने वाला है और दुःख का उत्पन्न करने वाला है। ये सब सुख दुःख कल्पनावो से उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार की कल्पनाएँ यह जीव करता है उस ही प्रकार की परिणति इस जीव की हो जाती है। वास्तव में सुखी तो वास्तविक त्यागी संत जन ही है, ऐसा त्याग उनके ही प्रकट होता है जा अपने स्वरूप को त्यागमय पहिचान रहे हैं। यह मेरा, मेरे सत्व के कारण मेरे ही रूप, यह मैं स्वरूप, सबसे न्यारा हूँ, केवल चिन्मात्र हूँ, प्रकाशमय हूँ। इसका जीवन उस चित्प्रकाश की वृत्ति से होता है। इस जीवन को ने पहिचान सके तो ऐसी विडम्बना बनती है कि अन्य पदार्थ के संयोग से भोजन पान से अपना जीवन माना जा रहा है।

**आत्मजीवन की स्वतंत्रता** – इस आत्मा का जीवन आत्मा के गुणों की वर्तना से है। है यह आकाशवत् अमूर्त निर्लेप पदार्थ, उसकी वृत्तियाँ जो उत्पन्न होती हैं उनसे ही यह जीता रहता है। इसका जीवन अपने आपके परिणमन से है। ज्ञानी पुरुष कही चिंतातुर नहीं हो सकता। अज्ञानी जन बड़े-बड़े ऐश्वर्य सम्पदा में भी पड़े हुए हो तो भी चिंतातुर रहते हैं। ज्ञानी जानता है कि यह मे तो पूरा केवल चिन्मात्र हूँ। इसका न ही कही कुछ बिगाड़ हो सकता है और न किसी दूसरे के द्वारा इसमें सुधार हो सकता है। यह तो जो है सो है, अपने आपके परिणमन से ही इसका सुधार बिगाड़ है। ज्ञानी की दृष्टि धन वैभव आदि में सुख दुःख मानने की नहीं हाती है। वे जानते हैं कि केवल उनकी तृष्णा ही दुःख को उत्पन्न करने वाली रहै। यह चिन्मात्र मूर्ति आत्म स्वरसतः सुख को उत्पन्न काने वाला है।

**स्वयं का स्वयं में कार्य और फल** – भैया! जो पर पदार्थ है वे अपना ही कुछ करेंगे या मेरा कुछ कर देंगे। वस्तुस्वरूप पर दृष्टि दो, जितने भी अचेतन पदार्थ है वे निरन्तर रूप, रस, गंध, स्पर्श गुण में परिणमते रहते हैं, यही उनका काम है और यही उनका भोग है। इससे बाहर उनकी कुछ कला नहीं है, फिर उनसे इस आत्मा में कैसे सुख और कैसे दुःख आ सकेगा? ये वैभव सुख दुःख के जनक नहीं हैं, कल्पना ही सुख दुःख की जनक है न्यायग्रन्थों में उदाहरण देते हुए एक जगह लिखा है कि कोई पुरुष कारागार में पड़ा हुआ है जहाँ इतना गहरा अंधकार है कि सूर्य का भी प्रवेश नहीं हो सकता याने सूर्य के द्वारा भी भेदा नहीं जा सकता, ऐसे गहन अंधकार में पड़ा हुआ कामी पुरुष जिसे अपने हाथ की अंगुली भी नहीं नजर आती, किन्तु उसे अपनी स्त्री का रूप मुखाकार बिल्कुल स्पष्ट सामने झलकाता है। कहाँ है कौन? पर उसके चित्त में ऐसी ही वासना बनी हुई है कि कल्पनावश वह कुछ चिन्तन करता है अथवा विचार माफिक सुख को भोगता है अथवा कुछ कल्पना करके सुख दुःख पाता है।

**सुख दुःख का कल्पना पर अवलम्बन** – कोई पुरुष बड़े आराम से कमरे में बैठा हुआ है, सुहवाने कोमल गद्दे तकिये पर पड़ा हुआ है, पंखा भी चल रहा है और वातनुकूलित साधन भी मिल गये हैं, इतने पर भी वह चिन्तामग्न है। पोजीशन, धन, कितनी ही प्रकार की बातें उसके उपयोग में पड़ी हैं। तृष्णा का तो कही अंत ही नहीं है। तृष्णा मे पीड़ित

हुआ वह मन की छलांगे मार रहा है और उनका प्रतिकूल परिणमन देखकर व्यग्र हो रहा है। तो किसे सुख कहते और किसे दुःख कहते? ये सब कल्पना पर अवलम्बित है। यह धन तो दुःख का पात्र है जिसके उपार्जन में दुःख है? जिसकी रक्षा में दुःख है, जिसके खर्च करने में दुःख है, सो यह धन तो इस जीव को कष्ट पहुँचाने के ही काम में आ रहा है। बाह्य पदार्थ संग में है तो उनसे कुछ न कुछ ऐसी ही कल्पना जगेंगी जो असाता उत्पन्न करेगी। कभी इच्छानुसार धन का संचय भी हो जाय तो तृष्णा और बढ़ जाती है।

**मायामय रोग, वेदना व इलाज** – अहो, भैया, यहाँ सभी इस संसार के जीव इस रोग के रोगी हैं। जब जब कुछ न था तब ऐसा सोचते थे कि इतना हो जाये फिर तो जीवन चैन से निकलेगा, फिर कुछ नहीं करना है, जब उतना हो गया जितना सोचते थे तो वे सब बातें विस्मृत हो गयीं। अब आगे की पुरिया पूरने में लग जाते हैं इतना और कैसे हों? इतने से तो गुजारा ही नहीं चलता है जब इतना न था, इसका चौथाई भी न था तब कैसे गाड़ी चलती थी, पर चैन कहाँ है? लगे रहेंगे, अंत में छोड़ जायेंगे। इस समय जो मिला है वह धर्म सेवन में लगाया जाता तो अच्छा था। स्वप्न में मिले हुए राज्य की क्या कीमत? स्वप्न में मिले हुए समागम पोजीशन बढ़ रही हो तो उसकी क्या कीमत है? ऐसे ही इस अविवेक में इस मोह नींद में जो कुछ इन चर्म चक्षुषों से दिख रहा है वह सब केवल स्वप्नवत् है, कल्पनाजन्य है इसी प्रकार यहाँ आँखों से जगती हुई हालत में भी जो कुछ निरखा जा रहा है वह सब मायास्वरूप है।

**बिना सिर पैर की विडम्बना** – तृष्णा का आक्रमण बहुत बुरा आक्रमण है। ये मोही जन जिनमें आशा लगाये हुए हैं, इस संसार में जो अज्ञानियों का समूह पड़ा हुआ है, देहातों में, नगरों में, शहरों में विषय लिप्सा पड़े हुए अज्ञानी जनों का जो समूह पड़ा हुआ है उनमें नाम चाहा जा रहा है। किन में नाम चाहा जा रहा है पहिले तो वहाँ ही पोल निरखो और फिर जो चाहा जा रहा है उसकी भी असारता देखो। नाम का क्या अर्थ? स्वर 16 है, व्यञ्जन 33 है, अक्षरों को कही का कही रख दिया गया और उनको पढ़ लिया गया, सुन लिया गया तो इसमें तुम्हारा स्वरूप कहाँ आया? शब्द है, जिसका जो भी नाम है उस नाम के शब्दों को थोड़ा उलट करके कही का कही रख दिया, फिर तो उस पर इस तृष्णावी पुरुष का कुछ भी आकर्षण नहीं है। जो कल्पना में, व्यवहार में मान लिया गया है कि यह मैं हूँ उन अक्षरों से कितनी प्रीति है? कुछ नाम भी कर जायेंगे और कुछ अक्षर भी कही लिख जायेंगे तो उनसे इस मर जाने वाले का क्या सम्बंध है। और जीवित अवस्था में भी उस नाम से क्या सम्बंध है ? संसार अनादि निधन है। इस मनुष्य भव की प्राप्ति से पहिले भी हम कुछ थे अब उसका पता नहीं है। हम क्या थे, कहाँ थे, कैसे थे उसका अब कुछ आभास नहीं है। यो ही कुछ समय बाद इस भव से चले जाने पर यहाँ का भी कुछ आभास न रहेगा। फिर किसलिए यह चौबीस घंटे का समय व्यर्थ की कल्पनावों में ही गँवाया जा रहा है।

**स्वस्थता और अस्वस्थता** – ये अज्ञानी जीव धन वैभव से अपने को स्वस्थ मानते हैं वे ऐसे बावले हैं कि जैसे कोई ज्वर वाला घी पीकर अपने को स्वस्थ अनुभव करे, वह तो

विडम्बना की निशानी है। इस जीव की विपदा का कोई रूपक भी है क्या, कि इसका नाम विपदा है। अरे कल्पना में यह जीव अत्यन्त व्याकुल है। कुछ लोग ऐसे भी देखे जाते हैं कि जिनका मात्र एक पुत्र है और आगे किसी पुत्र की उम्मीद नहीं है, स्त्री गुजर गयी है उसका वह इकलौता बच्चा मर जाय तो भी कुछ बिरले लोग ऐसे देखने और सुनने में आए हैं कि उनको तब भी कुछ चिन्ता नहीं होती। वे सब जानते हैं कि यह सब मायारूप है, इसमें मेरा तो कुछ भी न था। अज्ञानी जीव कल्पना करके किसी भी बात में विपदा समझ बैठते हैं और वे दुःखी होते हैं किन्तु ज्ञानी संत विवेकबल से स्वस्थ बने रहते हैं।

**विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते ।**

**दहामानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत् ॥14॥**

**आत्मविपत्ति के अदर्शन का कारण** – पूर्व श्लोक में यह बताया गया था कि सम्पदा का समागम भी मनुष्य को महाकष्ट उत्पन्न करता है, ऐसी बात सुनकर यह जिज्ञासा होनी प्राकृतिक है कि सम्पदा का समागम आपत्ति का ही करने वाला है तो फिर लोग इसे छोड़ क्यों नहीं देते हैं ? क्यों रात दिन सम्पदा के समागम के चक्कर में ही यत्र तत्र घूमा करते हैं ? इसकी जिज्ञासा का समाधान इस श्लोक में है। यह मूर्ख पुरुष दूसरो की विपत्ति को तो देख लेता है, जान लेता है कि यह विपदा है, यह मनुष्य व्यर्थ ही झंझट में पड़ा है, किन्तु अपने आप पर भी वही विपदा है वह विपदा नहीं मालूम होती है क्योंकि इस प्रकार का राग है मोह है कि अपने आपको विषयों के साधन रुचिकर और इष्ट मालूम होते हैं, दूसरे के प्रति यह भाव जल्दी पहुंच जाता है कि लोग क्यों व्यर्थ में कष्ट भोग रहे हैं ? क्यों विपदा में हैं ?

**आत्मविपत्ति के एक अदर्शक का दृष्टान्त** – अपनी भूल समझ में न आये, इसके लिए यह दृष्टान्त दिया गया है कि कोई वन जल रहा है जिसमें बहुत मृग रहते हैं, उस जलते हुए वन के बीच में कोई पुरुष फंस गया तो वह झट किसी पेड़ के ऊपर चढ़ जाता है पर चढ़ा हुआ वह पुरुष एक और दृष्टि पसारकर देख रहा है कि वह देखो हिरण मर गया, वह देखो खरगोश तड़फकर जल रहा है, चारो ओर जानवरो की विपदा को देख रहा है पर उस मूढ पुरुष के ख्याल में यह नहीं है कि जो दशा इन जानवरो की हो रही है, कुछ ही समय बाद यही दशा हमारी होने वाली है, यह चारो तरफ की लगी हुई आग हमें भी भस्म कर देगी और मेरा भी कुछ पता न रहेगा। वह पुरुष वृक्ष के ऊपर बैठा हुआ दूसरो की विपदा को तो देख रहा है पर अपनी विपदा को नहीं नजर में ला पाता है। उसे तो यह ध्यान में है कि मैं ऐसे ऊँचे वृक्ष पर बैठा हूँ, यह आग नीचे लगी है, बाहर लगी है, यह अग्नि मेरा क्या बिगाड़ कर सकती है? उसे यह पता नहीं होता कि जिस प्रकार ये जंगल के जीव मेरे देखते हुए जल रहे हैं इसी प्रकार थोड़ी ही देर में मैं भी भस्म हो जाऊँगा।

**आत्मविपत्ति के अदर्शक की परिस्थिति** – दहामान वन में वृक्ष पर चढ़े हुए जन की भांति यह अज्ञानी पुरुष धन वैभव से अन्य मनुष्यों पर आयी हुई विपदा को तो स्मरण कर

लेता है कि देखो उसका माल पकड़ा गया, उसका माल जप्त हो गया, यह मरने वाला है, यह मर गया, किसी पर कुछ विपदा आयी, इस तरह पकड़ा गया, उसका माल जप्त हो गया, यह मरने वाला है, यह मर गया, किसी पर कुछ विपदा आयी, इस तरह औरो की विपदा को तो निरखता रहता है, परंतु अपने धन वैभव के उपार्जन में जो विपदा सह रहा है उसे विपदा नहीं मालूम करता है। धन संचय में रंच भी विश्राम नहीं ले पाता है। हो रही है बहुत सी विपदाएँ और विडम्बनाएँ, पर अपने आपके लिए कुछ विडम्बना नहीं दिखती है। मोही जीव को कैसे हटे यह परिग्रह लालच तृष्णा से? इसे तो यह दोष भी नहीं मालूम होता है कि मैं कुछ अपराध कर रहा हूँ।

**अज्ञानी को स्वकीय अपराध का अपरिचय** – ज्ञानी संत जानता है कि मेरा स्वरूप शुद्ध ज्ञानानन्द है, ज्ञान और आनन्द की विशुद्ध वर्तना के अतिरिक्त अन्य जो कुछ प्रवृत्ति होती है, मन से प्रवृत्ति हुई, वचनों से हुई अथवा कायसे हुई तो ये सब प्रवृत्तियाँ अपराध है। अज्ञानी को वे प्रवृत्तियाँ अपराध नहीं मालूम देती, वह तो इन प्रवृत्तियों को करता हुआ अपना गुण समझता है। मुझे मे ऐसी चतुराई है, ऐसी कला है कि मैं अल्प समय में ही धन संचित कर लेता हूँ। ज्ञानी पुरुष जब कि यह समझता है कि एक ज्ञानस्वभावके आश्रयको छोड़कर अन्य किन्ही भी पदार्थोंका जो आश्रय लिया जाता है वे सब अपराध है उससे मुझे लाभ नहीं है, हानि ही है। कर्मबंध हो, आकुलता हो और कुछ सार बात भी नहीं है। ऐसा यह ज्ञानी पुरुष जानता है। न तो अज्ञानी को धनसंचय में होने वाली विपदाका विपत्तिरूप अनुभव होता है और न जो धनोपार्जन होता है उसमें भी जो अन्य विपदाएँ आती हैं उनका ही स्मरण हो पाता है।

**मोहीके विवके अभाव** – विवेक यह बताता है कि धन आदि के कारण यदि कोई विपदा आती देख तो उसे धनको भी छोड़ देना चाहिए। फंसनेपर लोग ऐसा करते भी हैं। कोई कानूनविरुद्ध चीज पकड़ ली जाय, जैसे कि मानो आजकल शुद्ध स्वर्ण कुछ तोलोसे ज्यादा नहीं रख सकते हैं और रखा हुआ हो तो उस सोनेका भी परित्याग कर देते हैं, जाँच करने वालेकी जेब में ही डाल देते हैं कि ले जावो यह तुम्हारा है। कितनी जल्दी धन विपदा के समय छोड़ देते हैं, किन्तु वास्तव में उसका छोड़ता नहीं है। उस समय की सिरपर आयी हुई विपदासे बचनेका कदम है। चित्तमें तो यह भरा है कि इससे कई गुण और खरीदकर यह घाटा पूरा करना पड़ेगा। धन वैभवके कारण भी अनेक विपदा आती है। कुछ बड़े लोग अथवा उनके संतान तो कभी कभी इस धनके कारण ही प्राण गंवा देते हैं। ऐसे होते भी हैं। कितने ही अनर्थ जिन्हे बहुतसे लोग जानते हैं। ये डाकू धन भी हर ले जाये और जानसे भी मार जाएँ क्योंकि उनके मनमें यह शंका है कि धन तो लिए जा रहे हैं, कदाचित्त इसने पकड़वा दिया तो हम लोग मारे जायेंगे, इससे जान भी ले लेते हैं। आजकल किसी की जान ले लेना एक खेलसा बन गया है। छुद्र लोग तो कुछ पैसो के हिसाब पर ही दूसरो की जान ले डालते हैं। इस धन के कारण कितनी विपदा आती है,



कितना ही टैक्स देना कितना ही अधिकारियोंको मनाने में खर्चा करना कितना श्रम, कितनी विपदाएँ ये सब धन आदि के वैभवके पीछे ही तो होती है।

**ज्ञानीका परिवर्तन** – कल्याणार्थी गृहस्थकी चर्या इस प्रकार रहती है कि आवश्यकतानुसार धन का उर्पाजन करना और अपने जीवनको धर्मपालनके लिए ही लगाना। ऐसा भाव बनाना चाहिए कि हम धनी बनने के लिए मनुष्य नहीं हुए हैं, किन्तु ज्ञानानन्दनिजपरमात्म प्रभुके दर्शन के लिए हम मनुष्य हुए हैं। ये बाहरी पोजीशन गुजारे की बातें ये तो जिस किसी भी प्रकार हो सकती हैं, किन्तु संसार के संकटोसे मुक्ति का उपाय एक ही ढंगसे है, और वह ढंग इस मनुष्यजीवन में बन पाता है, इस कारण ज्ञानी पुरुषका लक्ष्य तो धर्मपालनका रहता है, किन्तु अज्ञानी पुरुषका लक्ष्य विषयसाधनोके संचय और विषयोंके भोगनेमें ही रहता है। यद्यपि धन आदि के कारण आयी हुई विपदा देखें तो धनकी आशा सर्वथा छोड़ देना चाहिए क्योंकि आशा न करनेसे ही आने वाली विपदासे अपनी रक्षा हो सकती है। लेकिन यह धन वैभवकी आशा छोड़ नहीं पाता है। यही अज्ञान है और यही दुःखका जनक है।

**अनर्थ आवश्यकतावोकी वृद्धिमें बरबादी** – यद्यपि वर्तमानमें श्रावक की गृहस्थवस्था है, दूकान करना होता है, आजीविका व्यापार करना पड़ता है, परन्तु ज्ञानीका तो इस सम्बन्ध में यह ध्यान रहता है कि यह वैभव साधारण श्रम करने पर जितना आना हो आये, हममें तो वह कला है कि उसके अन्दर ही अपना गुजारा और निबटारा कर सकते हैं। अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाकर धनकी आय के लिए श्रम करना यह उचित नहीं है, किन्तु सहज ही जो धन आये उसे ही ढंगसे विभाग करते गुजारा कर लेना चाहिए। अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाकर फिर उनकी पूर्ति के लिए धन संचय करना, श्रम करना, नटखट करना यह सज्जन पुरुष नहीं किया करते हैं। कितनी ही अनेक वाहियात बातें हैं, बीड़ी पीना, सिनेमा देखना, पान खाते रहना और बाजारू चाट चटपटी आदि छोटी छोटी चीजें खाना— ये सब व्यर्थकी बातें हैं, इन्हे न करें तो इस मनुष्यका क्या बिगड़ता है, बल्कि इनके करनेसे मनुष्य बिगड़ता है। बीड़ी पीने से कलेजा जल जाता है और उससे कितने ही असाध्य रोगो का आवास हो जाता है, सिनेमा देखने से दिल में कुछ चालाकी, ठगी, दगाबाजी अथवा काम वासनाकी बातें इन सबकी शिक्षा मिल जाती है। लाभ कुछ नहीं देखा जाता है। इन व्यर्थ की बातों को न करें उसे कितना आराम मिले।

**व्यामोहमें अविवेक और विनाश** – भैया! धनसंचयकी तीव्र इच्छा न रहे, एक या दो टाइम खा पी लिया, तुष्ट हो गए, फिर फिर की कुछ बात भी है क्या? लेकिन तृष्णवश यह पुरुष अप्राप्त वस्तुकी आशा करके प्राप्त वस्तुका भी सुख नहीं लूट सकते हैं। वे तो मद्यके नशेमें उन्मत्त हुए प्राणियोंके समान अपने स्वरूप को भूल जाते हैं। अपने हितका मोहमें कुछ ध्यान नहीं रहता है। मत्त होने में बेचैनी पागलपन चढ़ता है, शरीरबल जैसे

क्षीण हो जाता है ऐसे ही परव्यामोहमें ज्ञानबल क्षीण हो जाता है। पागल पुरुष नशे में उन्मत्त होकर अपने स्वरूपको भूल जाते हैं, अपने हितका ध्यान नहीं रख सकते हैं। ऐसे ही धनी पुरुष भी दूसरो की सम्पदा, घर आदिको विनष्ट होते हुए देखकर कभी विचार नहीं करते कि यह काल अग्नि इस तरह मुझे भी न छोड़ेगी, अतः शीघ्र ही आत्महित कर लेना श्रेष्ठ है।

**गलती को भी मानने का व्यामोह** – इस जीव में ज्ञान भी प्रकाशमान है और रागादिकके रंग भी चढ़े हुए हैं जिससे ज्ञान का तो उपयोग दूसरो के लिए करते हैं और कषायका उपयोग अपने लिए करते हैं। दूसरोकी रंच भी गलती ज्ञानमें आ जाती है और उसे वे पहाड़ बराबर मान लेते हैं। अपनी अपनी बड़ी गलती भी इन्हे मालूम ही नहीं होती है, ये तो निरन्तर अपने को चतुर समझते हैं। कुछ भी कार्य करे कोई, ललाका कार्य करे अथवा किसी प्रकार का हठ करे तो उसमें यें अपनी चतुराई मानते हैं। मैं बहुत चतुर हूं। खुद अपने मुँह मियामिट्टू बनते हैं। अपने को कलावान, विद्यावान, चतुर मान लेने से तो कार्य सिद्धि न हो जायगी। अपनी तुच्छ बातों पर चतुराई मनाने में यह जीव अपने आपको बड़ा विद्वान समझ रहा है। उपदेश देने भी बड़ा कुशल हो जाता है। शास्त्र लेकर बाँचने बैठा या शास्त्र सभा करने बैठा तो राग द्वेष नहीं करने योग्य है। और आत्मध्यान करने योग्य है— इस विषयका बड़ी कला और खूबीसे वर्णन कर लेता है पर खुद भी उस सब हितमयी वार्ताको कितना अपने में उतारता है सो उस और भावना ही नहीं है।

**अज्ञानीकी समझमें अपनी भूल भी फूल** – भैया ! दूसरो की विपत्ति तो बहुत शीघ्र पकड़ में आ जाती है, किन्तु अपने आपकी बड़ी भूल भी समझ में नहीं आती। कभी किसी जीव पर क्रोध किया जा रहा है और उससे लड़ाई की जा रही है तो बीच बिचौनिया करने वाला पुरुष मूढ जंचता है इस क्रोधको। इसे कुछ पता नहीं है कि मैं कितना सहनशील हूं। और यह दूसरा कितना दुष्ट व्यवहार करने वाला है? उसे क्रोध करते हुए भी अपनी चतुराई मालूम हो रही है, परन्तु दूसरे पुरुष जानते हैं, मजाक करते हैं कि न कुछ बात पर बिना प्रयोजनके यह मनुष्य कितना उल्टा चल रहा है, क्रोध कर रहा है। विषयकषायोकी रुचि होने से इस जीवपर बड़ी विपदा है। बाहरी पौद्गलिक विपदा मिलनेपर भी यह जीव कितना अपने मन में विषयकषायोको पकड़े हुए है इन विषयो`स जुदा हो पा रहे हैं या नहीं, अपने पर कुछ हमने काबू किया या नहीं, इस और दृष्टि नहीं देते हैं ये अज्ञानी पुरुष। वे तो प्रत्येक परिस्थिति में अपने को चतुर मानते हैं।

**विभाव विपदा** – मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ – इन 6 जातियोंके जो विभाव परिणाम है यह ही जीवपर वास्तविक विपदा है। जीवोपर विपदा कोई अन्य पदार्थ नहीं ढा सकते हैं। ये अपनी कल्पना में आप से ही विपदा उत्पन्न कर रहे हैं। क्या है विपत्ति इस जीवपर? मोह अज्ञान कामवासना का भाव। क्रोध मान, माया, लोभ आदि के कषायो के

परिणमन ये सब है विपदा। इन सब विपदावोको विपदारूप से अपनी नजरमें रखना है। इन सब विपदावो से छूटने का उपाय केवल भेदविज्ञान है। जितने भी अब तक साधु हुए है वे भेदविज्ञानके प्रतापसे हुए है, और जो अबतक जीव बंधे पड़े है व इस संसार में रूलते चले जा रहे है वे इस भेदविज्ञानसे अभावसे ऐसी दुर्गति पा रहे है। यथार्थ विपदा तो जीवपर मोहकी, भ्रमकी है। भ्रमी पुरुष अपनेको भ्रमी नहीं समझ सकता। यदि अपनी करतूत को भ्रमपूर्ण मान ले तो फिर भ्रम ही क्या रहा? भ्रम वह कहलाता है जिसमें भ्रम भ्रम न मालूम होकर यथार्थ बात विदित होती है भ्रमका ही नाम मोह है। लोग विशेष अनुरागको मोह कह देते है किन्तु विशेष अनुरागका नाम मोह नहीं है, भ्रम का नाम मोह है। रागके साथ साथ जो एक भ्रम लगा हुआ है, यह मेरा है, यह मेरा हितकारी है, ऐसा जो भ्रम है उसका तो नाम मोह है और सुहावना जो लग रहा है उसका नाम राग है।

**भ्रमकी चोट** – राग से भी बड़ी विपदा, बड़ी चोट मोहकी होती है। इस मोहमें यह जीव दूसरे की विपदाको तो संकट मान लेता है। अमुक बीमार है, यह मर सकता है इसका मरण निकट आ गया है, ये लोग विपदा पा सकते है। सबकी विपदावोको निरखता जायगा, सोचता जायगा किन्तु खुद भी इस विपदा में ग्रस्त है ऐसा ध्यान न कर सकेगा। इस भ्रमके कारण, बाह्यदृष्टिके कारण यह जीव सम्पदासे 'क्लेश पा रहा है और उस ही सम्पदामें यह अपनी मौज ढूँँ रहा है। ज्ञानी पुरुष न सम्पदामें हर्ष करता है और न विपदा में विषाद मानता है।

**आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमम्।**

**वाञ्छतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम् ॥15॥**

**लोभीके जीवनसे भी अधिक धन से प्रेम** – जिस वैभव के कारण मनुष्यपर संकट आते है उस वैभव के प्रति इस मनुष्यका प्रेम इतना अधिक है कि उसके सामने जीवन का भी उतना प्रेम नहीं करता हे। इसके प्रमाणरूपमें एक बात यह रखी जा रही है जिससे यह प्रमाणित हो कि धनी पुरुषोको जीवन से भी प्यारा धन है। बैंकर्स लोग ऐसा करते है ना कि बहुत रकम होने पर ब्याज से रकम दे दिया करते है। व्याज कब आयगा, जब महीना 6 महीना, वर्षभर व्यतीत होगा। किसीको 2 हजार रूप्या व्याज पर दे दिया और उसका 10 रूप्या महीना ब्याज आता है तो एक वर्ष व्यतीत हो तो 120 रूप्या आयगा। तो ब्याज से आजीविका करने वाले पुरुष इसकी प्रतीक्षा करते है कि जल्दी 12 महीने व्यतीत हो जावें। समयके व्यतीत होने की ही बाट जोहते है तभी तो धन मिलेगा। अब देखो कि एक वर्ष व्यतीत हो जायगा तो क्या मिलेगा? ब्याज धन और यहाँ क्या हो जायगा एक सालका मरण। जिसको 50 साल ही जीवित रहना है तो एक वर्ष व्यतीत हो जायगा तो अब 49 वर्ष ही जियेगा।

**जीवनसे भी अधिक धन से प्रेम होनेका विवरण** – भैया! समयका व्यतीत होना दो बातों का कारण है— एक तो आयु के विनाशका कारण है और दूसरे धनप्राप्तिका कारण है। वर्ष भर व्यतीत हो गया इसके मायने यह है कि एक वर्ष की आयुका क्षय हो गया और तब व्याजकी प्राप्ति हुई। यो कालका व्यतीत होना, समयका गजर जाना दो बातों का कारण है— एक तो आयुके क्षयका कारण है और दूसरे धनकी वृद्धिका कारण है। जैसे ही काल गुजरता है तैसे ही तैसे जीवकी आयु कम होती जाती है और वैसे ही व्यापार आदिके साधनोसे धनकी बरबादी होती है। तो धनीलोग अथवा जो धनी अधिक बनना चाहते हैं वे लोग कालके व्यतीत होने को अच्छा समझते हैं, तो इससे यह सिद्ध हुआ कि इन धनिक पुरुषों को धन जीवन से भी अधिक प्यारा है। वर्ष भरका समय गुजरनेपर धन तो जरूर मिल जायगा पर यहाँ उसकी आयु भी कम हो जायेगी। ऐसे धनका जो लोभी पुरुष है अथवा धन जिसको प्यारा है और समय गुजरनेकी बाट जोहता है उसका अर्थ यह है कि उसे धन तो प्यारा हुआ, पर जीवन प्यारा नहीं हुआ।

**लोभसंस्कार** – अनादिकाल से इस जीवन पर लोभका संस्कार छाया हुआ है। किया क्या इस जीवने? जिस पर्याय में गया उस पर्याय के शरीर से इसने प्रीति की, लोभ किया, उसे ही आत्मसर्वस्व माना। अनादिकालसे लोभ कषायके ही संस्कार लगे हैं इसके कारण यह जीव धनको अपने जीवन से भी अधिक प्यारा समझता है। देखो ना समय के गुजरने से आयुका तो विनाश होता है और धन की बढ़वारी हाती है। ऐसी स्थिति में जो पुरुष धनको चाहते हैं, काल के गुजरनेको चाहते हैं इसका अर्थ यह है कि उन्हें जीवन की तो परवाह नहीं है और धनवृद्धि की इच्छा से कालके गुजरनेको हितकारी मानते हैं। ऐसे ही अन्य कारण भी समझ लो जिससे यह सिद्ध है कि धन सम्पदा के इच्छुक पुरुष धन आदि से उत्पन्न हुए विपदाका कुछ भी विचार नहीं करते। लोभकषायमें यह ही होता है। लोभ में विचार होता है तो केवल धनसंचयका और धनसंरक्षणका। मैं आत्मा कैसे सुखी रहूँ शुद्ध आनन्द कैसे प्रकट हो, मेरा परमार्थ हित किस कर्तव्य में है, ऐसी कुछ भी अपने ज्ञान विवेकी बात इसे नहीं रूचती है। कितनी ही विपदाएँ भोगता जाय पर जिसकी धुन लगी हुई है। उसकी सिद्धि होनी चाहिए, इस टेकपर अड़ा है यह मोही। यह सब मोहका ही एक प्रसाद है।

**धनविषयक जिज्ञासा व समाधान** – यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि धनको इतना बुरा क्यों कहा गया है? धनके बिना पुण्य नहीं किया जा सकता, पात्रदान, देवपूजा, वैयावृत्य, गरीबोंका उपकार ये सब धनके बिना कैसे सम्भव हैं? तब धन पुण्योदयका कारण हुआ ना। इसे निंद्य कैसे कहा? वह धन तो प्रशंसाके योग्य है जिस धनके कारण परोपकार किया जा सकता है। तब यह करना चाहिए कि खूब धन कमावो और अच्छेकार्य में लगावो, पुण्य पैदा करो। धन सम्पदा वैभवको क्यों विपदा कहा जा रहा है, क्यों इतनी निन्दा की

जा रही है? इसके उत्तर में संक्षेपतः इतनी बात समझ लो कि ये दान पूजा जो किए जाते हैं वह धन कमानेके कारण जो पाप होता है, अन्याय होता है अथवा पाप होते हे उनका दोष कम करने के लिए प्रायश्चित्त स्वरूप ये सब दान आदिक किए जाते हैं, और फिर कोई मैं त्याग करूँगा, दान करूँगा इस ख्याल से यदि धनका संचय करता है। तो उसका केवल बकवाद मात्र है। जिसके त्याग की बुद्धि है। वह संचय क्यों करना चाहता है? संचय हो जाता है तो विवके में उस संचित धनको अच्छी जगह लगाने के लिए प्रेरणा करता है, पर कोई पुरुष जान जानकर धन उपार्जित करे और यह ख्याल बनाये कि मैं अच्छी जगह लगाने के लिए धन कमा रहा हूँ तो यह धर्मकी परिपाटी नहीं है। ऐसा परिणाम निर्मल गृहस्थका नहीं होता है कि मैं दान करने के लिए ही धन कमाऊँ। यदि ऐसा कोई सोचता भी है तो उसमें यश नामकी भी लिप्सा साथ में लगी होती है, फिर उसका त्याग नाम नहीं रहता है, इस ही बात को अब इस श्लोक में कह रहे हैं

**त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।**

**स्वशरीरं स पड.केन स्नास्यामीति विलिम्पति।।16।।**

**धनार्जनका उपहास्य बनावटी ध्येय—** जों धनहीन मनुष्य दान पूजा आदिकार्यों के ध्येय से अथवा पुण्य—प्राप्ति के ध्येय से या पापोका नाश करूँगा इस ख्याल से धनोपार्जन करता है— सेवा करे, खेती करे, व्यापार करे, इन कार्यों से धनको इकट्ठा करता है वह पुरुष मानो इस प्रकारका कार्य कर रहा है जैसे कोई पुरुष “मैं नहाऊँगा” यह ख्याल करके, यह आशा रखकर कीचड़ लपेटता है। मैं नहाऊँगा सो कीचड़ लपेटना चाहिए ऐसा कौन सोचता है? संसार के अधिकांश जीवों की यह धारणा रहती है कि धनकी प्राप्ति के लिए यदि निन्द्य से निन्द्य भी कार्य करने पड़े तो भी उनको करके धनका संचय कर लें और उस धनसंचय में, उस अन्याय कर लेने में जो पाप लगेंगे उन पापोको धोने के लिए या उसके बदले में धनका दान देकर, देवपूजा करके, गुरुभक्ति करके, सेवा करके, परोपकार करके पुण्य प्राप्त कर लेंगे परन्तु ऐसा ख्याल करना ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि जो कुमार्ग से धनसंचय करता है वह तो अज्ञानी पुरुष है।

**दृष्टान्त विवरण सहित अनाड़ी के अविवेक का प्रदर्शन —** भैया ! जिसको कुछ भी विवके जगा है वह कुमार्गों से धनका संचय न करेगा। जैसे कोई पुरुष मैं नहा लूँगा, मैं नहा लूँगा ऐसा अभिप्राय करके शरीर में कीचड़ को लपेटता है तो उसे दुनियाके लोग विवेकी न कहेंगे। कीचड़ लपेटे और नहाये तो उससे क्या लाभ है? ऐसे ही पाप करके धनसंचय करे और वह मनमें यह समझे कि मैं इस धनको दान, परोपकार, सेवा आदिके अच्छे कार्यों में खर्च कर दूँगा और करे खोटे मार्ग से धनका संचय, तो वह तो अज्ञान अंधकार से घिरा हुआ है, और वह जो अच्छे कार्यों में लगाने की बात सोच रहा है सो

उसकी दृष्टि अच्छे कार्यों का ख्याल ही नहीं है। वहाँ भी केवल मानपोषण लोभ पुष्टि आदि ही लगे हुए हैं। कदाचित् भाग्यवश धन भी मिल जाय तो खोटे रास्तो से कुमार्गोसे छल करके, अन्याय करके, दगा देकर किसी भी प्रकार धनसंचय करता है तो उसका धन पाप कार्यों में ही लग सकता है, अच्छे कार्यों में लगने की अत्यन्त कम सम्भावना है। लोग भी प्रायः इस प्रकार देखते हैं कि जिनकी कमाई खोटी होती है, खोटी कमाई से धनका संचय होता है तो वह वैसा पाप कार्यों में लगकर खर्च हो जायगा। अथवा किन्ही झंझटो से किन्ही प्रकारो से किन्ही प्रकारो से लूट पिटकर नष्ट हो जायगा, अच्छे कार्यों में वह नहीं लग पायगा।

**शुद्ध अर्जन से धनकी अटूट वृद्धि की अशक्यता** – नीतिकार कहते हैं कि सज्जनो की सम्पत्ति शुद्ध धन से नहीं बढ़ पाती है। जैसे समुद्र स्वच्छ जलकी नदियोसे नहीं भरा जाता है, गंदा पानी मटीला मैला पानी से समुद्र भरा करता है। स्वच्छ निर्मल जल से नदियोकी भरमार नहीं होती है। गंदले मलिन जलसे ही नदियाँ भरी होती है और उन नदियो से ही समुद्र भरा जाता है। यो ही समझिये कि सज्जन पुरुष भी हो उस तक के भी सम्पदा एकदम बढ़ेगी तो शुद्ध मार्ग से न बढ़ेगी। धनसंचय में कुमार्गोका आश्रय लेना ही पड़ता है। ठीक है। अध्यात्मदृष्टिसे तो आत्मतत्त्वकी दृष्टि को छोड़कर कि किन्ही भी बाह्य पदार्थो दृष्टि लगाये, उनकी आशा करें तो वे सब अनीतिके मार्ग हैं, कुमार्ग हैं लेकिन जिस पदमें संचयके बिना गुजारा नहीं हो सकता ऐसे गृहस्थ की अवस्थामें कोई और उपाय नहीं है। उसे धनका संचय अथवा उपार्जन करना ही पड़ता है। ठीक है, लेकिन इतना विवके तो होना चाहिये कि लोक में जो अनिहित मार्ग है, कुमार्ग है उनसे धन संचय र करे। विशुद्ध नीति मार्ग से ही धनका उपार्जन करे।

**यथार्थ सच्चाईके बिना ऐहिक कठिन समस्या** – आज के समय में आजीविकाकी कठिन समस्या सामने है। लोग जैसे कि कहते हैं कि ब्लेक किए बिना, टैक्स चुराये बिना दो तरहकी कापियाँ लिखे बिना काई धन कमा ही नहीं सकता है, वह सुखसे रोटी भी नहीं खा सकता है, उस पर टैक्स का अनुचित बोझ लद जाता है। इस सम्बन्ध में प्रथम तो बात यह है कि यह व्यापारी ईमानदार है, सच्चा है यह प्रमाण नहीं है, इस कारण अनाम सनाप टैक्स लगा दिया जाता है जिन पुरुषोके सम्बन्ध में यह निर्णय भली प्रकार हो जाता है और जिनकी सच्चाई के साथ सारे कागजात पाये जाते हैं तो कुछ वर्षों में उसकी सच्चाई का ऐसा ढिंढोरा हो जाता है कि लोग उसे समझते हैं कि यहाँ सत्य बात होती है। तो उसके व्यापार में कमी नहीं आती है और न फिर अधिकारी उसे सताते हैं। लेकिन जब अधिकचरे ढंगसे कुछ सच्चाई काम करे कुछ संदेह है सो कभी कभी कुछ डिग जाये सो ऐसे उगमग पग से सच्चाई की व्यवस्था की जाती है उससे पूरा नहीं पड़ता हे तो कमसे

कम अंतरंग में तो सच्चाई रखे। जैसे कि वस्तुपर जितना लाभ लेना है उसपर उतना ही लाभ रखे। यह मनमें भावना न करे कि मैं किसी का नीतिसीमा से भी अधिक धन ले लूँ।

**व्यापारिक सच्चाईका आधुनिक एक उदाहरण** – जो सर्वथा सत्यव्यवहार करते हैं व जो निर्णयमें सत्य व्यवहार करते हैं, बहुत जगह मिलेंगे इस तरह के मनुष्य। पहिले प्रकार का मनुष्य मुजफ्फरनगर में जाना गया था। सलेखचंद स्टेशनरीकी दूकान कितनी बड़ी है? तो वकील थे। राजभूषण, जो अब भी है। बोले कि तीन चार फुट चौड़ी और 4.5 फुट लम्बी है सलेखचंद बोले कि साहब इसके पीछे एक हाल भी है जज सुन बड़ा हैरान हो गया, कही दुकानदारको ऐसा करना चाहिए ? फिर जज पूछता है कि राज कितने की बिक्री होती है? तो वकील कहता है कि कभी 20रु की, कभी 30रु की और कभी 50रु की। जब जजने सलेखचंद की ओद देखा तो सलेखचंद कहते हैं – हाँ साहब कभी 20रु की बिक्री होती है कभी 30 की होती है कभी 50, की होती है और कभी 500रु तक की भी हो जाती है। और भी जजने एक दो प्रश्न किया। तो जज कहता है कि वकील साहब! तुम कितना ही भरमावो, पर यह धनी तो अपनी सच्चाई पर ही कायम है। धनीका ही वकील था। तो उस जजने उसी हिसाब से टैक्स लगाया जो सलेखचंदकी बहीमें था और यह नोट कर दिया कि हमने ऐसा सत्य पुरुष अभी तक नहीं देखा।

**लेनदेनके समय की सच्चाईका एक आधुनिक उदाहरण** – दूसरी बात यह है कि भले ही ग्राहको से कुछ भाव तावकी बात करे पर जब तय हो जाय और माल दिया जाने लगे तो ज्यादा दाम अगर आ रहे हो तो उसके दाम वापिस कर दे। ऐसे भी कई होते हैं, अभी भादोंमें जो बाबूलाल हरपालपुरके आये थे। उनके ऐसा नियम है। कोई कपड़ा दो रूपया गजका पड़ा हो और सवा दो रूपया गज देना हो तो भाव ताव करने पर यदि 2।।रु0 गज ठहर गया तो देते समय 2।।रु गज के दाम रखकर फिर 4 आने गजके दाम वापिस कर देते हैं। ग्राहक कुछ कहता है तो वह कहते हैं कि हमारा नियम है हम इतने से ज्यादा नहीं ले सकते। यदि ग्राहकने कहा कि ठहराया तो इतनेका ही था ना, तो वह कहते कि सभी दूकानदार भाव ठहराते, हम न ठहराये तो ग्राहक न आये, सो भाव ठहराना पड़ता है, पर हम अपने नियम से ज्यादा नहीं ले सकते। तो दूसरे नम्बरकी यह भी सच्चाई है।

**ज्ञानीका चिन्तन** – जो अंतरंग में केवल धनसंचय करना, किसी भी प्रकार हो, अधिक से अधिक दूसरों का धन आना ही आना चाहिए ऐसा परिणाम हो तो वहां सन्मार्ग तो अपनाया ही नहीं जा सकता। ज्ञानी संत तो यो विचारता है कि जो धन चाहते हैं वे धनकी अप्राप्ति में दुःखी होते हैं। जो धनी हैं उन्हें तृप्ति नहीं होती है इस कारण दुःखी हैं। सुखी तो केवल आकिञ्चन्य आत्मस्वरूपको अपनाने वाले योगी जन होते हैं। सम्पत्ति और विपत्ति ये दोनो ही ज्ञानी पुरुषो के लिए एक समान है। विपत्तिको भी वे औपाधिक चीज

मानते हैं और क्लेश का कारण मानते हैं। इस धन को पुण्य का उत्पादक समझना भ्रम है यदि यह धन पुण्यका उत्पादक होता तो बड़े बड़े महाराज चक्री आदि क्यों इसका परित्याग कर देते? विवश होकर धन कमाना पड़ता है तो विवेकी जन उस अपराधके प्रायश्चितमें अथवा उस अपराध से निवृत्त होने की टोहमें ऐसा परिणाम रखते हैं। जिससे दान और उपकार में धन लगता रहता है।

**आनन्दसमृद्धि का उपाय** – हे आत्मन्! यदि तुझे आनन्दकी इच्छा हो तो परपदार्थों में इष्ट अनिष्ट बुद्धिका परित्याग कर और शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप निज तत्त्वका परिचय कर। शुद्ध अनादि अनन्त स्वभाव आत्माके आश्रयसे ही प्रकट होता है। आनन्दमयय आत्मतत्त्वको रखनेवाले उपयोग में ऐसी पद्धति बनती है जिससे आनन्द ही प्रकट होता है वहाँ क्लेशके अनुभवका अवकाश ही नहीं है। जो पुरुषार्थी जीव सत्य साहस करके निर्विकल्पज्ञानप्रकाशकी आस्था रखते हैं उन्हीका जीवन सफल है। आनन्द आनन्दमय परमब्रह्म की उपासनामें है। आनन्द वास्तविक समृद्धि में है। समृद्धिसम्पन्नता होनेका नाम ही आनन्द है। परमार्थसमृद्धिसम्पन्नता में निराकुलता होती ही है। यह सम्पन्नता त्यागमय स्वरसपरिपूर्ण आत्मतत्त्वके अवलम्बनसे प्रसिद्ध होती है।

**आरम्भे तापकान् प्राप्तावत्प्रतिपादकान्।**

**अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः॥17॥**

**भोगके उद्यममें हैरानिया** – ये विषयोके साधन प्रारम्भमें, मध्यमें, अंत में सदा दुख के ही कारण होते हैं, फिर भी मोही जीव दुःखो को भोगते जाते हैं और उन भोगसाधनोसे ही रति करते रहते हैं। ये भोग आरम्भमें संतोष उत्पन्न करते हैं। भोगो के साधन जुटाने के लिए कितना उद्यम करना पड़ता है? कमाई करे, रक्षा करे, चीजे जोड़े, कितने क्लेश करते हैं, एक बढ़िया भोजन खाने के लिए 24 घंटे पहिले से ही तैयारियाँ करते हैं और फल कितना है, उस भोजन का स्वाद कितनी देरको मिलता है, जितनी देर मुखमें कौर है। वह कौर गले के नीचे चला गया, फिर उसका कुछ स्वाद नहीं। पेट में पड़े हुए भोजन का स्वाद कोई नहीं ले सकता है। और फिर उनके साधन जुटाने में कितना श्रम करना पड़ता है? आज बड़े-बड़े लोग हैरानी का अनुभव कर रहे हैं कि बड़े विचित्र कानून बन रहे हैं, टैक्स लगा रहे हैं, मुनाफा नहीं रहा, पर उनकी और दृष्टि नहीं है जो 40-45 रूपया माह पर दिनभर जुटे रहते हैं। कैसे दृष्टि हो, दृष्टि तो विषयसाधनो के भोगने की है। ये भोगो के साधन आरम्भ में संताप उत्पन्न करके शरीर, इन्द्रिय और मन को क्लेश के कारण होते हैं। सेवा, वाणिज्य कितनी ही प्रकार के उद्यम करने पड़ते हैं तब भोगो के साधन मिल पाते हैं।



**भोग से अतृप्ति व समय की बरबादी** – जब ये भोग प्राप्त हो जाते हैं तब भोगते भी तृप्ति नहीं होती है। कोई सा भी भोग आज खूब भोग लो, कल से विकल्प न करना, कोई कर सके ऐसा तो खूब भोग भोगो, पर ये भोग ऐसे बुरे हैं कि ज्यो भोगो त्यों अतृप्ति होती है। तृप्ति नहीं होती है। भोग भोगने में भोग नहीं भोगे गये, यह भोगने वाला खुद भुग गया। भोग का क्या बिगडा? वह पदार्थ तो जो था सो है। अथवा किसी भी प्रकार का उनमें परिणमन हो वे पुद्गल के विकार हैं उनका क्या बिगाडा? बिगड़ा तो इस भोगने वाले का। जीवन गया, समय गुजरा, मनुष्यभव खोया, जिस मनुष्यभव में ज्ञान की लौ लगायी जाती तो जरा जानने का हिसाब लगावो, दस दस अक्षर ही रोज सीखते तो साल भर में मान लो। 3। हजार अक्षर सीख लेते और समझ की उम्र कितनी निकल गयी, मान लो 40 वर्ष निकल गयी तो 40 वर्ष में कितने अक्षर सीखते इसका अंदाज तो लगावो। बड़े-बड़े साधु संत अपनी बड़ी बुद्धि वैभव से जो कुछ उन्होंने पाया, सीखा, अनुभव किया उसका निचोड़ लिख गये हैं, पर उनके इस सारभूत उपदेश को सुनने, बांचने देखने तक की भी हिम्मत नहीं चलती। क्या किया मनुष्य जन्म पाकर?

**भोग से अतृप्ति की वृद्धि** – ये भोग जब भोगे जा रहे हो तो ये असंतोष को ही उत्पन्न करते हैं। उनके भोगने की फिर बार-बार इच्छा हो जाती है। किसी देहाती पर आपको यदि क्रोध आ रहा हो उसके किसी असद्व्यवहार के कारण, तो उसको बरबाद करने की मन में आती है ना, तो उसको बिल्कुल बरबाद आप कर दे, उसका उपाय तो यह है कि कुछ मिलने लगे तो बस वह अपने जीवन को बरबाद कर डालेगा। उसे बरबाद ही करना है तो यह है उपाय। उसे चखा दो कोई भोग तो वह विषयसाधनो में बरबाद हो जायेगा। लोग विषय भोगकर अपनी बड़ी चतुराई मानते हैं, मैंने ऐसा भोगा, ऐसा खाया बहुत रसीली चीजें खाने वाले व्यक्ति अंत में बहुत बुरी तरह से रोगी हो सकते हैं। और रूखा सूखा संतोष भर खाने वाले पुरुष कहो चंगें रह सकते हैं।

**भोग में व्यग्रता** – भैया ! काहे का भोग भोगा, कौन सी चतुराई पा ली ? ये भोग असन्तोष को ही उत्पन्न करते हैं। भोग भोगते समय शान्ति नहीं रहती है। कोई सा भी भोग हो, वह शान्ति के साथ नहीं भोगा जाता है। चाहे खाने का भोग हो, चाहे सूघने का भोग हो, चाहे किसी रमणीक वस्तु को देखने को भोग हो, चाहे कोई राग रागिनी भरे शब्दों के सुनने का भोग हो, चाहे कामवासना का भोग हो, कोई भी भोग शान्ति के साथ नहीं भोगा जा सकता है। भोगते समय व्यग्रता और आकुलता नियम से होती है। भोगने का संकल्प बने तब व्यग्रता, भोग भोगो तब व्यग्रता और भोग भोगने के बाद भी व्यग्रता। आदि से अंत तक उन भोगों के प्रसंग में क्लेश ही क्लेश होते हैं।

**भोग से अतृप्ति का दृष्टान्तपूर्वक समर्थन** – भोग भोगने से तृप्ति नहीं होती है। जैसे अग्नि कभी ईंधन को खा-खाकर तृप्त नहीं हो सकती है, जितना ईंधन बढे उतना ही

आग की ज्वाला बढेगी, ऐसे ही इन दन्द्रिय के विषयो के भोगो से भी कभी तृप्ति नही होती ज्यो ज्यो विषय मिले त्यो त्यो अतृप्ति होती है। संसार में सब जीव एक से दुःखी है, गरीब और अमीर दोनो एक से दुःखी है। उनके दुःख की जाति में थोड़ा अन्तर है, पर दुःख का काम क्या है? विहल बना देना। सो यह बात गरीब और अमीर दोनो में एक समान होती है। गरीब भूख के माने तड़फ पर विहल होता है तो अमीर लोग मानसिक वेदनावो में, ईर्ष्या तृष्णा की ज्वालावो में जलकर दुःखी रहते है। बल्कि गरीब के दुःख से अमीर के दुःख बड़े है। गरीब हार्ट फेल होने से मर जायें ऐसे कम उदाहरण मिलते है और हार्ट फेल होकर मर जाने वाले धनिको के उदाहरण अधिक मिलते है।

**देवोके भी भोग से तृप्ति का अभाव** – कहाँ है सुख, सब एक तरह के दुःख है। मनुष्यो की बात तो दूर जाने दो, देवता लोग जिनको भूख प्यास का संकट नही, जिन्हे खेती दुकान आदि का आरम्भ नही करना पड़ता है, मनमाने श्रृंगार, वस्त्र, आभूषण उन्हे मिले हुए है। जो चाहें वह वस्तु उनको तुरन्त हाजिर है, फिर भी वे दूसरो की ऋद्धियाँ देखकर, सम्पदा देखकर, वैभव देखकर दुःखी होते है। कोई हुकुम देकर दुःखी होता है तो कोई हुकुम मानकर दुःखी मानकर दुःखी होता है। दुःखी दोनो समान है। उन देवो में जो देव हुकुम दिया करते है वे हुकुम देकर दुःखी रहते है और हुकुम मानने वाला भी अपनी कल्पना से दुःखी रहा करता है। ये भोग भोगते समय अतृप्ति उत्पन्न करते है।

**भोगवियोग में विक्षोभ** – भोग भोग भी लिये जोये, पर जब इनका अंत होता है तो उस समय यह छोड़ना नही चाहता भोगों को और भोग छूटे जा ही रहे है। यह खुद मरता है तो सारा का सारा एकदम छूट रहा है। यह छोड़ना नही चाहता कोई क्या एक दमड़ी भी साथ ले जा सकता है, कहाँ ले जाता है? मनुष्य कमीज पहिने मर गया तो कमीज यही रह गयी जीव चला जाता है। कोई गद्दा तक्की पर पड़ा हुआ मर गया तो सब गद्दा तक्की यही धरे रह जाते है, जीव यो ही चला गया। सब चीजें यो ही छूट जाती है। देखने में सब आता है, पर इस मोही जीव को इन भोगो के छोड़ने को साहस नही होता है। ज्ञानी पुरुष ही यह साहस कर सकता है कि सब कुछ जाता है तो जावो, ये मुझसे गये हुए तो पहिले ही थे। पहिले मै इनमें मिला ही कहाँ था? आदि, मध्य अंत तीनो ही अवस्थावों से किसी एक अवस्था में ही अगर भोगो से सुख मिलता होता तो चलो तब भी भोगो को अच्छा मान लिया जाय पर यहाँ तो सर्वत्र क्लेश ही क्लेश है सुख का तो नाम ही नही है। आरम्भ मे क्लेश, खेती करना, दुकान करना, शरीर का श्रम करना, इन्द्रिय और मन का कष्ट सहना वहाँ भी क्लेश ही है।

**भोग से तृष्णा का प्रसार** – जब भोग भोगे जाते है, इष्ट भोगो की प्राप्ति होती है तो यह तृष्णा सर्पिणी की तरह चंचल होकर भोक्ता को अशान्त बनाए रहती है। जैसे-जैसे भोग भोगे जाते है यह तृष्णा शान्त हो जायगी, बढती जाती है तृप्ति नही होती है।

कदाचित् कोई सोचे कि इस इष्ट के भोगने से तृष्णा शान्त हो जायगी, तृष्णा शान्त होने से मैं संतुष्ट हो जाऊंगा सो यह सम्भव नहीं है। कोई पुरुष ऐसा सोचे कि इस समय विषयो को भोगा, वेदना, पीड़ा, कषाय, शान्त हो जायगी, फिर आगे उपद्रव न रहेगा उसका सोचना झूठ है। अरे इसी समय भोगो से विरक्त हो तो शान्ति का मार्ग निकालोगे अन्यथा नहीं। ये भोग आखिर छूट ही तो जाते हैं, फिर भी इन भोगो से तृप्ति नहीं मानी जा पाती, संतोष नहीं हो पाता। आग में कितना ही काठ डालो तृण डालो, पर वह तृप्त नहीं हो सकती। कदाचित् अग्नि तृप्त हो जाय, पर यह मोही प्राणी भोगों से कभी तृप्त नहीं हो सकता। सैकड़ों नदियां मिल जाये तो भी समुद्र तृप्त नहीं होता, बल्कि वह बड़ा होता जायगा। समुद्र नदियों से तृप्त नहीं होता है। कदाचित् समुद्र भी तृप्त हो जाय लेकिन यह मनुष्य भोगो से तो कभी भी तृप्त नहीं हो सकता।

**विवेकी जनो की भोगो से उपेक्षा**— जो मनुष्य मूढ़ है, हित अहित का जिनके विवेक नहीं है वे भोगो के भोगने के समय भोगो को सुखकारी मानते हैं और भोगो में ही प्रीति बढ़ाते हैं लेकिन जो निर्मल चित्त है, विवेकी है, परीक्षक है वे इन क्लेशकारी विनाशिक भोगो की ओर नहीं भागते किन्तु आत्महितकारी रत्नत्रय मार्ग की ओर ही प्रगति करते हैं कोइ यहाँ प्रश्न करने लगे कि बड़े बड़े विद्वान बुद्धिमान भी तो विषयों को भोगते हुए देखे जाते हैं। यहाँ विषय शब्द से सभी इन्द्रियों का विषय होना है। भोजन भी आ गया, सुगन्धित चीजें भी आ गयी, रागरागिनी सुनना, सभी विषयो की बात है। कोई जिज्ञासा करे कि बड़े बड़े विद्वान लोग भी भोगो को भोगते रहे। पुराणों में भी भोगो के भोगने की कथा सुनी जाती है, फिर तुम्हारा यह उपदेश कैसे संगत होगा? ठीक है लिखा है पुराणों में। तो भी भोगो का तजना शूरो का काम है, आखिर उन महापुरुषों में भी अनेको ने आखिर भोगो को तज भी तो दिया है। और जब ये भोग भी रहे थे तो वे विवेकी सम्यग्दृष्टि संत पुरुष उस काल में यद्यपि गृहस्थावस्था में चारित्र मोहनीय के उदयवश भोगो को छोड़ने में असमर्थ रहे लेकिन तब भी उनके अंतरंग से राग न था। जिनके सम्यग्ज्ञान हो गया है, भ्रम नष्ट हो गया है उनको फिर भ्रान्ति नहीं होती।

**ज्ञानी के भोग से विरक्ति** — अज्ञानी पुरुष ही इन भोगो को हितकारी समझते हैं और आसक्ति से सेवते हैं। ज्ञानी पुरुष भोगो को विपदा मानते हैं, भोगना पड़ता है भोग, फिर भी अन्तर में यह चाह रहती है कि कब इनसे निपट जाये, छुट्टी मिले। जैसे कैदी जेलखाने में चक्की पीसता है, किन्तु उसको चक्की पीसने में अनुराग है क्या? रंच भी अनुराग नहीं है। जैसे घर में महिलाएँ चक्की पीसने के लिए जगती हैं और गाकर चक्की पीसती हैं तो उनको चक्की पीसने में अनुराग है पर कैदी को रंच भी अनुराग नहीं है। उसे तो चक्की पीसनी पड़ती है। वह तो जानता है कि यह एक आपदा है, इससे मुझे कब छुट्टी मिले। इसी प्रकार ये भोग विषय चक्की पीसने की तरह है। यह जीव इस समय कैदी हुआ

है, शरीर और कर्म के बन्धन में पड़ा है। वह जानता है कि ये आपदामय भोग मुझे भोगने पड़ रहे हैं किन्तु इनसे छुटकारा कब मिले, कैसे मिले, इस यत्न में भी वह बना रहता है।

**विवेकी और अविवेकी की दृष्टि का सुख** – भैया ! विवेकी और अविवेकी में बड़ा अन्तर है। दाल में कभी नमक ज्यादा पड़ जाय तो लोग क्या कहते हैं कि दाल खारी है। अरे यह तो बतलावो कि दाल खारी है कि नमक खारी है। जरा सी दृष्टि के फेर में कितने अर्थ का अन्तर हो गया है। समझदार जानते हैं कि इसमें जो खारापन है वह नमक का है । कही मूंग, उड़द आदि नमकीन नहीं होते हैं। ऐसे ही यह ज्ञानी जानता है कि ये जितने रागद्वेष विषय हैं ये सब कल्पना के सुख हैं, ये मेरे रस नहीं हैं, मेरे स्वाद नहीं हैं। ये कर्मो दयजन्य विभाव हैं। इनमें वह शक्ति नहीं होती है।

**भोग के त्याग की भावना का परिणाम** – भैया ! पुराणों में जो चरित्र आए हैं भोग भोगने के, उनमें अंत में त्याग की भी तो कहानी है। उससे यह शिक्षा लेनी चाहिए कि ऐसे बड़े भोग भोगने वाले भी इन भोगों को छोड़कर शान्त हो सके हैं। जो विशिष्ट विवेकी पुरुष होते हैं वे आरम्भ से ही विषयों को बिना भोगे ही जीर्ण तृण के समान असार जानकर छोड़ देते हैं। जैसे कपड़े में कोई जीर्ण तृण लगा आया हो, त्यागियों के पास आप बैठे हो और आपके कोट में कोई तिनका आ गया हो, चलते हुए रास्ते में आपको अपने कोट पर पड़ा हुआ तिनका दिख जाय तो आप उसे कैसा बेरहमी से बेकार जानकर फेंक देते हैं। तो जैसे जीर्ण तृण को इस तरह लोग फेंक दिया करते हैं ऐसे ही अनेक विवेकियों ने इस वैभव को भी जीर्ण तृण के समान जानकर शीघ्र ही अलग किया है। जो भोग तज देते हैं और आनन्दमय अपने आत्मस्वरूप में अपने को निरखते हैं उनका ही जीवन सफल है। भोग भोगने वाले का जीवन तो निष्फल गया समझना चाहिए।

**तीन प्रकार के त्याग में जघन्य त्याग** – इन भोगों को कोई पुरुष भोगकर अंत में लाचार होकर त्यागते हैं और कोई पुरुष वर्तमान भोगों को भी त्याग देते हैं और कोई ऐसे उत्कृष्ट होते हैं जो भोगने से पहिले ही उन्हें त्याग देते हैं। एक ऐसा कथानक चला आया है कि तीन मित्र थे। वे एक साथ स्वाध्याय करतें थे, उनमें एक बूढ़ा था, एक जवान था और एक बालक किशोर अवस्था का था। तीनों में यह सलाह हुई कि अपने में से जो कोई विरक्त हो वह दूसरे को आग्रह करता हुआ जाये और उन्हें भी सम्बोधे। उनमें से जो वृद्ध महाराज थे उनके मन में आया कि थोड़ा सा ही जीवन रहा है, अब विषय कषायों का त्याग कर धर्म सेना चाहिए। तो उस वृद्ध ने एक साल तक इस बात का यत्न किया, जो सम्पदा थी, बहिन को, बुवा को, धर्मकाज में, भाइयों में, लड़कों को जो कुछ बाँटना था उस बंटवारे में 6-7 महीना समय लगाया। बाद में फिर उनकी व्यवस्था देखी कि हाँ सब लोग ठीक काम करने लगें, तब वह विरक्त होकर चलता है।

**मध्यम त्याग**— वृद्ध विरक्त जा रहा है, रास्ते में उस जवान की दुकान मिलती थी। वह दुकान पर बैठा हुआ था, खुली दुकान चल रही थी। दुकान में जब वह वृद्ध पहुँचा तो बोला कि हम तो विरक्त हो गए हैं इसलिए अब नगर छोड़कर जा रहे हैं। तो वह युवक बोला कि हम भी साथ चलते हैं। सो दुकान छोड़कर साथ चलने लगा तो वह वृद्ध कहता है कि अरे लड़को को बला तो, इस दुकान का हिसाब किताब समझा दो, क्या लेना है, क्या देना है तब चलो,। तो युवक बोला कि जिस चीज को छोड़ना ही है तो उसे फिर क्या संभलवाये? वह वृद्ध बोला कि हम सब संभलवाकर आये हैं। जवान बिना संभलवाए दुकान से उठकर चल दिया।

**उत्कृष्ट त्याग** — वृद्ध और युवक दोनों विरक्त होकर जा रहे हैं। वह 20 वर्ष का बालक कहीं बड़े खेल में शामिल हो रहा था। उस खेलते हुए बालक से ये दोनों कहते हैं कि अब तो हम विरक्त हो गए हैं, जा रहे हैं। तो वह हाकी डंडा जो कुछ था वही फेंककर बोला कि हम भी चलते हैं। दोनों बोले कि अभी तुम्हारी कल परसों सगाई हुई है और 10-15 दिन तुम्हारी शादी के रह गए हैं, तुम अभी रहो, फिर सोच समझकर आना। तो लड़का बोलता है कि जो चीज छोड़ने लायक है उस चीज में पहिले हम फँसे और फिर छोड़े तो इससे क्या लाभ है? वह वही से चल दिया। तो ये तीन प्रकार के लोग हैं। सबसे बढिया कौन रहा? उसके बाद जवान और तीसरा विरक्त तो हुआ मगर उन दोनों में सबसे हल्का कौन रहा? बुढ़ा।

**उत्तरोत्तर त्याग की महत्ता** — जो भी त्यागी जन हुए हैं उनमें से किसी ने तो इन विषयभोगों की तृण के समान तजकर अपनी लक्ष्मी अर्थीजनो को दे दी, जो चाहने वाले थे या जहाँ लगाना चाहिए वहाँ लगाकर, देकर चल दिया। और कुछ पुरुष ऐसे हुए कि इस धन सम्पदा को पापरूप तथा दूसरों को भी न देने के योग्य समझकर किसी को न दिया, यो ही छोड़ छोड़कर चल दिया, अब जिसके बंटवारे में जो होता है हौ जायगा। कोई पुरुष घर में रहता हुआ अचानक ही मर जाय, कुछ समझा भी न पाये तो उसकी गृहस्थी का क्या होता है? जो होना है वह हो जाता है। कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि उस वैभव को दुःखदायी जानकर पहिले से ही ग्रहण नहीं करते हैं। इन तीनों प्रकार के त्यागी पुरुषों में उत्तरोत्तर के त्यागी श्रेष्ठ हैं।

**वज्रदन्त चक्री के वैराग्य का निमित्त** — एक कथानक प्रसिद्ध है — एक बार बज्रदन्त चक्रवर्ती सभा में बैठे हुए थे, एक माली एक कमल का फूल लाया। उस फूल के अन्दर मरा हुआ भंवरा पड़ा हुआ था। ये कमल के फूल दिन में तो फूले रहा करते हैं और फूले हुए वे कमल रात्रि को बंद हो जाते हैं, फिर जब दिन होता है तो फिर वे फूल जाते हैं। कोई कमल बहुत दिनों का फूला हुआ हो, बूढा हो गया हो वह तो फिर बंद नहीं होता, मगर जो दो एक दिन के ही फूले कमल हो वे रात्रि के समय बंद हो जाते हैं कोई भंवरा

शाम से पहिले उस कमल में बैठ गया, उसकी सुगंध में आसक्त होकर वह उड़ न सका, कमल बंद हो गया। वही कमल माली तोड़कर सुबह लाया और राजा को भेट किया। राजा ने, चक्रवर्ती ने उस कमल को थोड़ा हाथ से खोलकर देखा तो मरे हुए उस भंवरे को देखा। उस भंवरे को देखकर वज्रदंत को वैराग्य जगा।

**वज्रदन्त चक्री का वैराग्य** – अहो यह भंवरा घ्राण इन्द्रिय के विषय में क्षुब्ध होकर अपने प्राण गवां चुका है और – और भी चिंतन किया। मछली रसना इन्द्रिय के विषय में लोभ में आकर प्राण गवां देती है, हाथी स्पर्शन इन्द्रिय के लोभ में आकर प्राण गवां देता है, ये पतंगे नेत्र इन्द्रिय के विषय में लुब्ध होकर अपने प्राण गवां देते हैं। हिरन, साप आदि संगीत प्रिय पशु कर्ण इन्द्रिय के लाभ में आकर जान गवां देते हैं। ये जीव केवल एक-एक विषय के लोभी हैं, एक-एक विषय में अपने प्राण नष्ट कर देते हैं, किन्तु यह मनुष्य पंचेन्द्रिय के विषयो का लोभी है। इसकी सभी इन्द्रियाँ प्रबल हैं। राग सुनने, रूप देखने, इत्र सुगंध सूंघने, स्वादिष्ट भोजन करने आदि का बड़ा इच्छुक है, कामवासना के साधन भी यह चाहता है, और इन इन्द्रियो के अतिरिक्त मन का विषय तो इसके बहुत प्रबल लगा हुआ है। मन और पंचेन्द्रिया के विषयो का लोभी यह मनुष्य है, इसका क्या ठिकाना है? यो विचारते हुए वज्रदन्त चक्रवती विरक्त हो गए।

**वज्रदन्त चक्री के पुत्रो का वैराग्य** – वज्रदंत चक्रवर्ती के हजार पुत्र थे। बड़े पुत्र से कहा कि तुम इस राज्य को संभालो, हम तुम्हें तिलक करेंगे। बड़ा पुत्र बोला कि मिता जी आप मुझे क्यो राज्य सम्पदा दे रहे हैं? आप बड़े हैं आप ही इसे संभाले, हम तो आपके सेवक हैं। वज्रदन्त बोले कि नहीं मुझे राज्य सम्पदा से मोह नहीं रहा। मैं आत्म कल्याण के लिए वन में जाऊंगा, यह राज्य सम्पदा अब मुझे रूचिकर नहीं हो रही है, यह अनर्थ करने वाली है। तो पुत्र बोला कि जो सम्पदा अनर्थ करने वाली है फिर उसे आप मुझे क्यो दे रहे हैं ? आप छोड़कर जायेंगे तो हम भी आप के साथ जायेंगे। मुझे इस राज्य सम्पदा से प्रयोजन नहीं है। दूसरे तीसरे सभी लड़को से कहा। उन लड़को में से किसी ने भी स्वीकार न किया और वे सबके सब वज्रदन्त के ही साथ दिगम्बरी दीक्षा लेने के लिए उत्सुक हुए। वज्रदन्त ने बहुत समझाया देखो तुम्हारी छोटी उमर है, अभी तुमने भोगो को नहीं भोगो है, कुछ दिन को रह जाओ जंगल में बहुत कठिन दुःख होंगे, ठंडी, गर्मी, क्षुधा, तृषा आदि की अनेक वेदनाएं तुम कैसे सहोगे, तो पुत्र बोलते हैं कि पिता जी तुम तो साधानण राजा के लड़के हो और हम चक्रवती के पुत्र हैं, आपसे भी अधिक साहस हम रख सकते हैं। चक्रवर्ती जो होता है वह चक्रवर्ती का लड़का नहीं होता। सामान्य राजा का पुत्र हुआ करता है फिर वह अपने पौरुष से चक्रवर्ती होता है। तों चक्रवर्ती का लड़का लड़के यो कहते हैं और अपने पिता जी के साथ जंगल को चल देते हैं। उस समय बालक पौत्र को तिलक करके चल दिये थे।

**परिग्रहण की कलुषता** – भैया ! खूब भोग-भागकर बाद में उनके विभाग बनाकर त्यागे, वह भी ठीक है। अनेक लोग तो ऐसे होते हैं कि मरते-मरते भी नहीं त्याग सकते हैं। जुलाहा कपड़े बुनता है तो वह भी पूरा नहीं बुन सकता है, अंत में दो चार अंगुल छारी उसे छोड़ना पड़ता है किन्तु यह मोही मनुष्य अपने जीवन के पूरे क्षण पूरता ही रहता है। मरते जा रहा है और कहता जाता है कि मेरे लल्ला को दिखा दो। और कदाचित् मर न रहा हो, कुछ रोग ऐसा आ गया हो कि दम न निकल रही हो, भीतर ही भीतर भीचा जा रहा है, बोल नहीं सकता। ऐसी स्थिति में कदाचित् बाहर से बेटा बेटा आ जाये और उसी समय संयोगवश उसका दम निकल लाय क्योंकि बहुत दिनों से ऐसा दम घुटी हुई तो हो ही रही थी उसी समय बेटा बेटा आ जाये तो लोग कहते हैं कि इसका बेटा बेटा में दिल था इसीलिए अभी तक नहीं मर रहा था। अगर ऐसी बात हो तो बेटा बेटा को कभी न आना चाहिए ताकि उसकी जान न निकले, कभी न मरे। ठंडी आत्मा हो गयी तब यह मरा ऐसा अनेक लोग कहते हैं। चलो, वे भी अच्छे हैं जो भोगों को भोगकर, भोगों की असारता समझकर एक ज्ञाननिधि आत्मतत्त्व की ओर लौ लगाते हैं।

**वैराग्य का तात्कालिक प्रभाव** – भोग चुकने के बाद छोड़ने वालों से भी बढ़कर वे त्यागी हैं जो पाये हुए समागम में भी राग नहीं रखते हैं और त्याग देते हैं। वे बाल ब्रह्मचारी तो विशेष के पात्र हैं जो भोगों में फंसते ही नहीं हैं। पत्नी से ही त्याग देते हैं। वे जानते हैं कि ये भोग साधन आरम्भ में दुःख दे, प्राप्त होने पर दुःख दे और अंत समय में दुःख दे।

**ज्ञानदृष्टि बिना कल्याण अंशभावना** – कोई भी जीव अपनी ज्ञानदृष्टि किए बिना शान्त सुखी नहीं हो सकता। ईंट पत्थर सोना चांदी इनमें कहाँ आनन्द भरा हुआ है जो वहाँ से आनन्द भरा करे। धन्य है वे पुरुष जिनका चित्त निर्मल है, जिन्होंने अपने सहज ज्ञानस्वरूप का परिचय पाया है और ज्ञानानुभव का आनन्द ले करके बैठे हैं। गृहस्थ जनो में भी अनेक महापुरुष ऐसे हुआ करते हैं जिन्हें कर्मोदय से बरजोरी भोग भोगना पड़ रहा है। परन्तु अंतरंग में अत्यन्त उदासीन रहते हैं ऐसे भी महापुरुष होते हैं। वे अपने गृहस्थ में भी आन्तरिक योग्य तपस्या बनाये हुए हैं। जीव, कर्म और कर्म फल – इन तीन तत्वों का जिनको यथार्थ विश्वास नहीं है वे भोगों का परित्याग कर ही नहीं सकते हैं। वे पूजा करें तो धन भोग बढ़ाने के खातिर करेंगे, वे धर्म साधन करे तो इसी लक्ष्य से करेंगे कि मेरे सम्पदा बढ़े, परिजन सुखी रहे, मौज बनी रहे, मौज बनी रहे, किन्तु यह समस्त मौज भी विपदा है।

**समागम की विपदा** – भैया! यह सम्पदा का समागम भी क्लेश है। यह जीव तो सबसे न्यारा स्वतंत्र एक शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है, यह जब जन्मा तब क्या लाया और जब मरेगा तब क्या ले जायगा? इस जन्म मरण के बीच के कुछ दिन क्या मूल्य रखते हैं ?

जैसे 50- 60 वर्ष की उम्र में किसी दिन कोई स्वप्न आ जाय तो वह जो स्वप्न एक मिनट का है। उस सारी जिन्दगी में एक मिनट का दृश्य क्या मूल्य रखता है काल्पनिक है। उस एक मिनट का तो हिसाब बन सकता है किन्तु अनन्तकाल के सामने यह 50-60 वर्ष का जीवन कुछ भी हिसाब में नहीं आता है। यह कर्मों का फल है, यह करतूत है इस करतूत का यह फल होता है। वर्तमान में उसकी यह दशा है, उसका जो अशुद्ध परिणाम है, अन्याय का भाव है यही मुझ पर विपदा है।

**प्रत्येक परिस्थिति स्वयं की करनी का परिणाम** – सब न्याय इस अंतरंग प्रभु के द्वारा हो रहा है। खोटा परिणाम किया तो तुरन्त संक्लेश हुआ, कर्मबंध हुआ और उसके फल में नियम से दुर्गति भोगनी पड़ेगी। शुद्ध परिणाम यदि है तो चाहे कितनी भी विपदा आये, विपदा का सत्कार करे, क्या विपदा है? बाह्य पदार्थों का परिणामन है। मुझमें बिगाड़ तब होगा जब मैं उन परिणामनों के कारण अपने आप ही अपने सिर मोल ले लिया करते हैं। विपदा किस वस्तुका नाम है? किसी भी वस्तुका नाम विपदा नहीं है, कल्पना बनायी, लो विपदा बन गयी। आज 50 हजार का कोई धनी है और कदाचित् 50000 की ही पूंजी होती तो क्या ऐसा हो नहीं सकता था। अनेक पुरुष ऐसे गरीब पड़े हुए हैं, क्या ऐसी स्थिति हो नहीं सकती थी।

**समागमका उपकार में उपयोग करनेका अनुरोध** – भैया ! ऐसा निर्णय करे कि जो मिला है वह मेरे मौजके लिए नहीं मिला है। उसका ये सदुपयोग करे कि अपनी भूख प्यास ठंड गर्मी मिटाने के लिए साधारण व्यय करके यह समझे कि जो कुछ आया है यह परोपकार के लिए आया है। दसलक्षणीमें बोलते हैं ना – खाया खोया बह गया, कल्पना के विषयो में जितना धन लगाया है वह खाया खोया बह गया की तरह है और जिन उपायोसे लोकमें ज्ञान बढ़े, धर्म बढ़े, शान्ति मिले, मोक्षमार्गका प्रकाश मिले उन उपायोमें धन का व्यय किया तो उसको कहा करते हैं, निज हाथ दीजे साथ लीजे। ये भोग शुरुमें भी, मध्यमें भी और अन्तमें भी केवल क्लेशको ही उत्पन्न करने वाले हैं। यह जानकर ज्ञानी पुरुष भोगोको हेय समझकर भोगते हुए भी नहीं भोगतें हुए के समान रहते हैं।

**विषयविषमें अनास्था** – जब चारित्र मोहनीय कर्मका उदय निर्बल हो जाता है जिनके अर्थात् कर्मोंकी शाक्तक्षीण हो जाती है तो वे भोगोका सर्वथा परित्याग कर सकते हैं। जो पहिलेसे यह भावना भाये कि ये भोग पराधीन है, दुःखकारी भरे हुए हैं, पापके कारण है ऐसे भोगोका क्या आदर करना ? भोगते हुए भी भोगो का अनादर रहे तो वह भोगोसे मुक्त हो सकता है, परन्तु अज्ञानी जीव ऐसा नहीं कर सकते हैं, उनके तो व्यामोह लगा है। उन्होंने तो अपने आनन्दस्वरूपका परिचय ही नहीं पाया है। ये विषय सुख वास्तव में विष ही है, यह अनुभव अज्ञानियोको नहीं होता है। विषयभोग सम्बन्धी यह विष अत्यन्त भयंकर है। जो प्राणी विषयविषका पान करते हैं वे इस विषके द्वारा भव भवमें विषय सुखकी



कल्पनामें रहते हुए विषयोसे उत्पन्न हुए दुःखको सहते रहते है। दुःख सहतें रहते है अज्ञानी, फिर भी कुछ चेत नही लाते है।

**अन्तर्बाह्य सात्विक रहन** – भैया ! मोह को महत्व न दे, अपने आपका यह निर्णय रखे कि धन वैभव प्रशास्त नही होता क्योकि धन होगा तो बिरले ही पुरुषके भले ही वहाँ भोग उपभोगकी आसक्ति न हो सके पर प्रायः करके अज्ञानियोसे ही भरा हुआ यह जगत है। इस कारण वे भोग और उपभोगमें आसक्ति हो जाते है। भोग उपभोगकी लीनता अशुभ कार्यका कारण है और भोग उपभोग को उत्पन्न करने वाला धन है, तो इस धनको कैसे प्रशास्त कहा जा सकता है? हाँ कोई बिरले गृहस्थ जो बड़े विवेकी है अपने आडम्बरको, रहन सहनको सात्विक वृत्तिसे करते है, जिनका लक्ष्य यह है कि मेरे प्रयोजनमें इतना व्यय होगा, शेष सब परोपकारके लिए है।

**महापुरुषोके जीवनका लक्ष्य** – भैया ! हुए भी है कुछ ऐसे राजा जो स्वयं खेती करके जो पायें उसमें अपना और रानीका गुजारा करते थे, और राज्य से जो कर मिला, सम्पदा आयी उसका उपयोग केवल प्रजा जनोके लिए किया करते थे। उनका यह विश्वास था कि जो कुछ प्रजासे आया है वह मेरे भोगनेके लिए नही है वह प्रजा के लिए है। कुछ बिरले संत ऐसे, पर प्रायः करके मोही प्राणी है जगत के सो वे धनका दुरुपयोग ही करतें है। अपने विषय साधनों में, मौजमें, संग्रहमें धनसंचय के कारण मैं बड़ा कहलाऊँगा, लोगोमें मेरी इज्जत रहेगी। इन सब कल्पनावोके आधीन होकर आसक्ति रहा करते है। ऐसे इन विपत्तिजनक भोगोसे कौन पुरुष सन्तोष प्राप्त कर सकेगा ? ज्ञानी पुरुष इन भोगोकी चाहमें नही फंसता है।

**भवन्ति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि ।**

**सं कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥१८॥**

**शरीरका रूपक** – जिस शरीर के सम्बंधको पाकर पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते है ऐसा शरीर और यह निरन्तर विनाश की और जाने वाला है। उस शरीर के आशा, प्रार्थन करना व्यर्थ की बात है। इसका नाम काय है। जो संचित किया जाय उसना नाम काय है। यह शरीर अनेक स्कंधो के मिलने से ऐसी शक्लका बन जाता है। इसका नाम शरीर है, जो जीर्ण हो, शीर्ण हो, गले उसका नाम शरीर है। यदि व्युत्पतिकी दृष्टि से देखा जाय तो जवानी तक तो इसका नाम काय कहो और बुढ़ापे में इसका नाम शरीर कह लो। काय उसे कहते है जो बड़े, शरीर उसे कहते है जो गले। यह काय पुद्गलका पिंड है। यह शरीर जिन परमाणुवोसे बना है वे परमाणु भी स्वयं अपवित्र नही है। फिर उन स्कंधोपर जब इस जीव ने अपना कब्जा किया तब ये परमाणु स्कन्ध शरीर भी अपवित्र होगए। जब तक जीव जन्म नही लेता, गर्भमें नही आता है तब तक ये शरीर के स्कंध यत्र तत्र बिखरे पड़े

पवित्र है। जहाँ इस जीवने उन शरीर स्कंधोपर अपना कब्जा किया कि ये अपवित्र बन जाते हैं।

**शरीर की अशुचिताके परिज्ञानका लाभ** – लोग कहते हैं कि शरीर अपवित्र है, ठीक है, कहना चाहिए क्योंकि शरीर के मोहमें आकर यह जीव अन्याय कर डालता है, खोटी वासनाएँ करता है। जिन वासनाओंमें कुछ तत्व नहीं है, केवल मनकी कल्पनाकी बात है, आत्माकी बरबादी है सो ऐसी खोटी कल्पनाएँ जिसमें शरीर का आकर्षण है, आत्माको संकटी करने के लिए हुआ करती है, इस कारण शरीर को अपवित्र बताना बहुत आवश्यकता बात है। कहना ही चाहिए शरीरको अशुचि, किन्तु कुछ ओर प्रखर दृष्टि से निरखो तो यह शरीर स्वयं कहाँ गंदा है। यह एक पुद्गलका पिण्ड है। जो है। सो है। इस हालत में भी जो है, सो है। इस हालत में भी जो है जो है, और जब इस शरीर को जीवने ग्रहण न किया था उस समय तो ये स्कंध बहुत पवित्र थे। हाड़ मांस रूधिररूप भी न भे लेनिक यह शरीर गंदा किस कारण बन गया है ? यह केवल रागी मोही जीवके सम्बंधका काम है। इस कारण शरीर गंदा ही है, यह रागी द्वेषी मोही जीव गंदा है। शरीर तो एक पुद्गल है। जैसे ये चौकी काठ वगैरह है ये भी पुद्गल यह शरीर भी पुद्गलका है, पर यह और ढंगका पुद्गल है। इस शरीर में गंदगी क्या है? जो है हमको उसके ज्ञाता है रहना है, जान लेना है।

**निर्विचिकित्सा** – भैया ! निर्विचिकित्सा अंग जहाँ बताया जाता है सम्यग्दर्शनके प्रकरणमें वहाँ तीन बातें कही जाती हैं। एक तो अशुचि पदार्थको देखकर घृणाकर भाव न लाना। ज्यादा थूकाथाकी वाली चीजको निरखकर मुंहमें पानी बह आना। जैसे थूकना पड़ता है तो यह भी थूकाथाकी घृणाका रूपक है। साधु संतजन ऐसी थूकाथाकी नहीं किया करते हैं। अन्य अपवित्र पदार्थको निरखकर वे घृणा ग्लानि नहीं करते। व्यवहार जरूर उनसे बचनेका रहता है, क्योंकि स्वाध्याय करना, सामायिक करना ये सब कार्य अपवित्र हालतमें नहीं होते हैं। लेकिन कोई घृणित वस्तु सामने आये तो उसको देखकर ज्ञानी पुरुष नाक भौंहं नहीं सिकोड़ते हैं, योग्य उपेक्षा करते हैं। दूसरी बात यह है कि किसी धर्मात्मा पुरुषकी सेवा करते हुए में तो ग्लानि रंच भी नहीं रहती है। यहाँ उससे भी अधिक निर्जुगुप्सा भाव रहता है। साधु धर्मात्मा जन रोगी हो, मल मूत्र कर दे तो भी घृणा नहीं करते। जैसे माता अपने बच्चे की नाक अपनी साड़ी से ही छिनक लेती है और घृणा नहीं करती है। दूसरे लोग उस बच्चे से घृणा करते हैं, अरे इसके तो नाक निकली आ रही है। इसे सम्हाल लो, पर मां उसे बड़े प्रेमसे पोछं लेती है। माँ ही बच्चों से घृणा करने लगे तो बच्चा कहाँ जाए ? यो ही धर्मात्मा जन धर्मात्माओंके प्रति माताकी तरह व्यवहार रखते हैं। अगर धर्मात्मा पुरुष ही धर्मात्मासे घृणा करने लगे तो वे कहाँ जाए ? उनके कहाँ निर्जुगुप्सा रहेगी, और तीसरी बात यह है कि आत्मामें जो क्षुधा, तृषा, वेदना आदि के कोई

प्रसंग आये तो भी वे ग्लान नहीं होते हैं, दुःखी नहीं होते हैं, किन्तु वहाँ भी अपने आप में प्रकाशमान शुद्ध परमात्मतत्त्वके दर्शनसे तृप्त रहा करते हैं।

**वास्तवमें घृणाके योग्य** – इस प्रकरणसे यह बात जानना चाहिए कि घृणा के योग्य यह शरीर नहीं है किन्तु जिस गंदे जीव के बसने से ये पवित्र स्कंध भी हड्डी, खून आदि रूपमें बन गए हैं वह जीव गंदा है। न आता कोई जीव तो शरीर बन कैसे जाता? शरीर की गंदगीका कारण वह अशुद्ध जीव है। अब जरा जीवमें भी निरखो तो वह जीव अशुद्ध नहीं है किन्तु जीवकी जो निजी विभामय बात है, अशुद्ध प्रकृति है, विभाव परिणति है वह गन्दी है। जीव तो जैसा सिद्ध प्रभु है वैसा है, कोई अन्तर नहीं है, अन्तर मात्र परिणतिका है। तो जीवमे भी जो रागद्वेष मोह की परिणति है वह घृणा के योग्य है, यह शरीर यह पुरुष घृणाके योग्य नहीं है, मूल बात यह है। लेकिन इस प्रकरणमें परमतत्व ज्ञानियों की दृष्टि में आने वाली बातके लिए व्यवहारिक बात कही जा रही है।

**अशुचि एवं अशुचिकर शरीर** – यह शरीर अपवित्र है। इसमें चंदन लगा दो तो वह चंदन भी अपवित्र हो जाता है। दूसरा पुरुष किसी दूसरेके मस्तकपर लगे हुए चंदनको पोंछकर लगाना नहीं चाहता है। तेल लगा लो शरीर में, ज्यादा हो गया औश्र किसीसे कहो कि इस हमारे तैलको पोंछकर आप लगा लो तो कोई लगाना पसंद नहीं करता है। तैल में कोई गंदगी नहीं है, पर शरीर की गंदगी पाकर तैल अपवित्र हो गया। और तो जाने दो। कोई फूल की माला पहिन ले, फिर किसीसे कहे कि लो इसे आप पहिन लो तो कोई उस फूलकी माला को पहिनना पसंद नहीं करता है। जिस शरीर के सम्बंधको पाकर पवित्र पदार्थ भी पवित्र हो जाता है, उस शरीर से क्या प्रार्थना, करना, उस शरीर की क्या आशा रखना?

**रूपकी बुनियाद** – एक कथानक में आया है कि एक राजपुत्र शहरमें जा रहा था तो किसी महलके छज्जेपर खड़ी हुई सेठकी बहू उसकी दृष्टिमें आयी तो राजपुत्र उस सेठकी बहूपर आसक्त हो गया। कामकी वासना, संस्कार इतनी गंदी चीज है कि जो कामी पुरुष होते हैं उन्हें भोजन भी न सुहाये। उसने कुट्टनी को कहा कुट्टनी सेठकी बहूके पास पहुंच गयी, हाल बताया। वह सेठकी बहू बड़ी चतुर थी। उसने कहा ठीक है। 15 दिनके बाद अमुक दिन राजपुत्र आये। उस सेठकी बहूने इस 15 दिनमें क्या किया कि जुलाबकी दवाई खाकर दस्त जो कुछ भी लगे वह सब एक मटकेमें कर दिये। 15 दिन में वह मटका दस्तसे भर गया। वह बहू उन 15 दिनोंमें बड़ी दुर्बल हो गयी। कुछ रूप कांति न रही। राजपुत्र आया, देखकर बड़ा दंग हुआ। तो बहू कहती है कि तुम जिसपर आसक्त थे उसे चलो हम तुम्हे दिखाएँ फिर तुम उससे प्रेम करो। उस राजपुत्र ने उसे जाकर देखा तो सारी दुर्गन्ध छा गयी, झट वह बगल हो गया और उल्टे पैर भागा। तो जिस चीजपर यह

रूप चमक दमक रहती है वह अन्य है क्या ? मल, मूत्र, खून इनका पिंड ही तो है। इनका ही एक संग्रहीत रूप रूप कहलाती है।

**अशुचि अजंगम शरीर** – इस शरीर को पाकर पवित्रसे भी पवित्र वस्तु अपवित्र हो जाती है। किसीकी पहिनी हुई कमीज भी कोई भी दूसरा नहीं पहिनना चाहता। अब बतलावो देहसे सम्बद्ध उपभोग वाली वस्तु भी दूसरे ग्रहण नहीं कर सकते हैं, ऐसा यह अपवित्र शरीर है। यह शरीर अजंगम है, स्वयं नहीं चलता। न जीव हो शरीर में तो क्या शरीर चल देगा? जीव को प्रेरणा नहीं होती शरीर में तो देह तो न चल सकेगा। जैसे अजंगम यंत्र मोटर साइकिल ये किी जंगम ड्राइवरके द्वारा चलाये जाते हैं, स्वयं तो नहीं चलते, ऐसेही यह थूलमथूल शरीर भी स्वयं नहीं चल सकता है। मुर्दा तो कही चल नहीं पाता। जो मुर्देमें है ऐसा ही इसमें है, फर्क यह है कि तैजस और कार्माण सहित जीव इसमें बसा हुआ है इससे इसमें चमकदमद तेज है और चलने फिरनेकी क्रिया होती है। यह शरीर अजंगम है। किसी जंगम शरीरके द्वारा चलाया जा रहा है

**भयानक और संतापक शरीर** – यह शरीर भयानक है। यही शरीर रागी पुरुषको प्रिय लगात है और विरागी पुरुषको यही शरीर यथार्थ स्वरूप को दिखता है और वृद्धावस्था हा जाय तब तो शरीर की स्थिति स्पष्ट भयानक हो जाती है। कोई अंधेरे उजले में बच्चा निरखले बूढ़ेके शरीर को तो वह डर जाय ऐसा भयानक हो जाता है। यो यह अपवित्र शरीर भयानक भी है। कोई कहे कि रहने दो भयानक, रहने दो अपवित्र, फिर भी हमें इस शरीर से प्रीति है। तो भाई यह शरीर प्रीति करने लायक रंच नहीं है क्योंकि यह शरीर संतापको ही उत्पन्न करता है। इसमें स्नेह करना व्यर्थ है।

**मोहियो द्वारा अलौकिक वैभवकी उपेक्षा** – भैया ! सबसे अलौकिक वैभव है शरीर पर भी दृष्टि न रखकर, किसी भी परपदार्थ का विकल्प न करके केवल ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्वको निरखे तो वहाँ जो आनन्द प्रकट होता है वही अद्भुत आनन्द है, उसमें ही कर्मको जलाकर भस्म कर देने की सामर्थ्य है। वह आनन्द जिनकी दृष्टि में आया है उनका मनुष्य होना सार्थक है और जीवको अपने आत्माका शुद्ध आनन्द अनुभव में नहींआया है वे विषयोके प्रार्थी बनते हैं, देहकी प्रार्थन करते हैं, शरीर की आशा रखते हैं और कामादिक विकारोंमें उलझ कर अपना जीवन गंवा देते हैं। इस जीवकी प्रकृति तो आनन्द पाने के लिए उत्सुक रहती है। यह आनन्द पाये, इसे शुद्ध आनन्द मिले तो कल्पित सुख या दुःखकी और कौन झुकेगा? पर जब शुद्ध आनन्द ही नहीं मिलता, सो कल्पित सुखकी और लगना पड़ता है।

**शरीर की अशुचितांका संक्षिप्त विवरण** – छहढालामें कहा है— 'पल रूधिर राधमल थैली, कीकश वसादितै मैली। नवद्वार बहैं घिनकारी, अस दैह करै किम यारी।' मासं,

रुधिर, खून, मल इत्यादि से भरा हुआ यह शरीर एक थैली है जिसमें 9 घिनावने द्वार बहते रहते हैं – कान से कर्णमैल, आंखों से कीचड़, नाक से नाक, मुख से लार, और मलमूत्रके स्थानोसे मलमूत्र, ये जहाँ बहते रहते हैं ऐसा यह घिनावना शरीर है। अरे, इसमें प्राकृतिक बात देखो कि ऊपर से नीचेके द्वारसे बहने वाली वस्तु अधिक घिनावनी है। कान से जो कनेऊ निकलता है उसपर लोग घृणाका अधिक ख्याल नहीं करते। इस कनेऊ को कीचड़ से ज्यादा गंदा नहीं समझा जाता है। लोग अंगुलीसे कर्णमल निकालकर फेंक देते हैं, हाथको कपड़े से नहीं पोछते। अगर आंखसे कीचड़ निकालते हैं तो फिर अपने हाथको कपड़ेसे पोछते हैं, और नाकसे नाक निकाला तो हाथ कपड़े से पोंछ लेते हैं और पानी से भी धो लेते हैं। आंख के मलसे नाक का मल अधिक गंदा है। नाक से ज्यादा थूक और खार आदि गंदे हैं। थूक और खखार से ज्यादा मूल मल गंदे हैं। ऊपर की इन्द्रियोंसे निचे की इन्द्रियाँ अधिक गंदी मानी जाती हैं।

**शरीर की अशुचिता वैराग्यकी प्रयोजिका** – भैया – क्या भरा है इस देहमें, कुछ निगाह तो कीजिए। इसकी निगाह करने से मनुष्यो की खोटी वासना नहीं रह सकती है, पर मोही जीव कहाँ निरखता है इस शरीर की गंदगीको? विधिने मानो इस शरीर को गंदा इसलिए बनाया है कि ये मनुष्य गंदे शरीर को पाकर विरक्त रहा करे, परंतु यह मोह ऐसा प्रबल बना हुआ है कि विरक्ति की बात तो दूर रही, यह नाना कलाओसं इस शरीरसे अनुराग करता है। यह शरीर अपवित्र और भयानक तो है ही साथ ही यह निरन्तर विनाशकी और जा रहा है।

**जीवनका निर्गमन** – बचपन बड़ी अच्छी उम्र है, पर वहाँ अज्ञान छाया है। बचपन कितना निश्चित जीवन है, कितना अधिक बुद्धिका यहाँ बल है, जिस ग्रन्थको पढ़ वह तुरन्त याद हो जाए, कितना सरल व निष्कपट भाव है, निश्चिन्तता है पर वहाँ अज्ञान बसा है सो अपना कल्याण नहीं कर पाते। जवान हुआ तो अब भी इसमें प्रभाव अधिक है, लेकिन कामरत होकर यह जवानी को भी व्यर्थ गवां देता है। अब वृद्धावस्था आयी तो जिसने बचपन में भी कल्याणका काम नहीं किया, जवानी में भी कल्याण का भी काम नहीं किया तो बुढ़ापा में अब क्या करेगा? उसकी स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती है। यह शरीर निरन्तर विनाशकी और है जितनी घड़िया निकलती जा रही है उतना ही आयुका विनाश हो रहा है। लोग कहते हैं कि मेरा लल्ला 8 वर्ष का हो गया, यह बढ़ गया। अरे उसका अर्थ है कि 8 वर्ष उसके मर चुके। 8 वर्ष उसकी उम्र कम हो गयी है। जिसको मानो 70 वर्ष जीना है उसकी अवस्था अब 62 वर्षकी रह गयी है, लोगोकी इस और दृष्टि नहीं है, उसके विनाशके दिन अब निकट आ गए हैं। विनाश के दिन निकट आनेका नाम है बुजुर्ग हो जाना। यह शरीर निरन्तर विनाशकी और है, ऐसे शरीरसे स्नेह करना व्यर्थ है।

**ज्ञानी का चिन्तन** – एक दोहा में कहा है—

**दिपै चाम चादर मढी हाड़ पीजरा देह ।**

**भीतर या सम जगत में और नही घिन गेह ।।**

यह हाड़ मांस का पिंड है। कोई पुरुष अत्यन्त दुर्बल हो तो यह पिंजड़ा बिल्कुल स्पष्ट समझ में आता है। कोई वैद्य लोग अत्यन्त दुर्बल शरीर कर चित्र छपवाते हैं, उसमें देखो तो शरीर का पिंजड़ा स्पष्ट दीखता है। ऐसा ही पिंजड़ा देखने के मिल जायगा, वही संग्रहालय में देखने को मिलेगा या मरघट में वहाँ ऐसा ही पिंजड़ा देखने को मिल जायगा, वही पिंजड़ा हम आपके शरीर में है। फर्क इतना है कि हम आपके शरीर पर चाम चादर मढी हुई है, किन्तु भीतर तो इसमें सभी अपवित्र चीजें हैं। यह शरीर इतना अपवित्र है कि कितना पवित्र पदार्थ हो इसका स्पर्श करने से वह भी अपवित्र हो जाता है, फिर भी इन मोही जीवों ने यह शरीर बड़ा प्रिय माना है, इस शरीर की प्रतिष्ठा से ही निरन्तर संतुष्ट रहते हैं। किन्तु ज्ञानी जीव शरीर के यथार्थ स्वरूप को समझते हैं, उन्हें इस शरीर से अन्तरंग में राग नहीं होता है। अनादि काल से भटकते हुए आज हमें यह दुर्लभ मनुष्य जन्म मिला है, ये जिनेन्द्र वचन मिले हैं तो हम इनका लाभ उठायें, मायामय चीजों में आसक्त होकर आत्मकल्याण करे। इसके लिए ही ज्ञानी अपना जीवन समझते हैं।

**यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम् ।**

**यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ।।19।।**

**जीव के उपकार में देह की अपकारिता व देह के उपकार में जीव की अपकारिता** – जो तत्व जीव के उपकार में लिए होता है वह तत्व देह का अपकार करने वाला होता है, और जो पदार्थ देह के उपकार के लिए होता है वह पदार्थ जीव का अपकार करने वाला होता है। अनशन आदि तप, व्रत, समिति, संयम इन चारित्रिका धारण करना जीव के उपकार के लिए है। यह चारित्र पूर्वकाल में बांधे हुए कर्मों का क्षय करने वाला है और भविष्यकाल में पाप न हो सके, यो कर्मों का आस्रव रोकने वाला है। इस कारण ये तपस्याएँ, चारित्र जीव के उपकार के लिए हैं, तो ये तपस्याएँ शरीर का अपकार करने वाली हैं, शरीर सूख जाता है, काला पड़ जाता है आदि रूप से शरीर का अपकार होने लगता है, और जो धन वैभव सम्पदा देह के उपकार के लिए है जिसके प्रसाद से खूब खाये, पिये, भोग साधन जुटाये, आराम से रहें जिससे देह कोमल, बलिष्ठ, मोटा, स्थूल हो जाय, सो ये वैभव धन आदि परिग्रह जीव के अपकार के लिए हैं।

**पर के आश्रय में आत्मा का अपकार** – इससे पूर्व श्लोक में यह प्रसंग चल रहा था कि धन आदि से शरीर का उपकार नहीं होता है, सो शकाकार कहता है कि मत होवो शरीर का उपकार, किन्तु धन से व्रत, दान आदि लेने के कारण आत्मा का उपकार तो

होता है? तो आत्मा का हित भी होगा, उसके उत्तर में कहा जा रहा है कि धन आदि परपदार्थों से कभी आत्मा का हित नहीं होता है। इस जीव का सबसे बड़ा बैरी मोह है, मोह का आश्रय धन वैभव है। इस मोह में आकर यह देव, शास्त्र, गुरु का विनय भी, इनकी आस्था भी योग्य रीति से करता ही नहीं है। जब परपदार्थों से अपने हित की श्रद्धा है तो मोक्षमार्ग के प्रयोजन भूत अथवा धर्मात्मा साधु संत जनों के प्रति आस्था कैसे हो सकती है? सबसे प्रबल बैरी मोह है। अन्य पदार्थ इस जीव के विराधक नहीं है। जैसे आस्तीन में घुसा हुआ सांप विनाश का कारण है इसी प्रकार आत्माक्षेत्र में बना हुआ यह मोह परिणाम इस आत्मा के ही विनाश का कारण है। जीव की बुद्धि विपरीत हो जाती है मोहभाव के कारण।

**बुद्धि की मलीनता ही वास्तविक विपत्ति** – इस मोह की ही प्रेरणा से विषयो में जीव प्रवृत्त होता है। ये समस्त विषय जीव का विनाश करने के कारण है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति का निधान यह ब्रह्मा परमात्मतत्त्व प्रकट नहीं हो पा रहा है और संसार भ्रमण में लगा हुआ है, इससे बढ़कर बरबादी और किसे कह सकते हैं? इस जीव को इस भव में जो कुछ मिला है यह बरबाद हो जाय तब भी जीव की बरबादी नहीं है, और यह जीव अपने स्वरूप का ज्ञान न कर सके, अपनी बुद्धि को पवित्र न रख सके और कितना ही करोड़ों का वैभव मिल जाये तो भी वहाँ जीव की बरबादी है। कितने ही विषय तो देह का भी अपकार करते हैं और जीव का भी अपकार करते हैं। जैसे स्पर्श-इन्द्रिय का विषय काम मैथुन, व्यभिचार, कुशील ये देह को भी बरबाद करते हैं और जीव को भी बरबाद करते हैं, बुद्धि भी हर लेते हैं। पापों का उसके प्रबल उदय शीघ्र ही आने वाला है जो अपने आचार से गिरा हुआ है, उस मोही की दृष्टि में कहा जा रहा है कि ऐसे काम आचरण को भी यह मोही जीव देह के उपकार के लिए मानता है, पर वही प्रवर्तन इस जीव का विनाश करने का कारण है

**संग समान से जीव का अपकार** –परिजन मे रहना मित्र मंडली मे रहना इनको यह मोही जीव उपकार करने वाला है पर वस्तुतः ये सर्व समागम जीव के अपकार केलिए है, बरबादी के लिए है। इस जीव का केवल अपना स्वरूप ही इसका है। चैतन्य स्वभाव के अतिरिक्त अणु मात्र भी अन्य पदार्थ इस आत्मा का कुछ नहीं लगता। इस आत्मा के लिए जैसे विदेश के लोग भिन्न है अथवा पड़ोस के लोग भिन्न है। उतने ही भिन्न, पूरे ही भिन्न घर में पैदा हुए मनुष्य भी है, अथवा जिनमें यश इज्जत चाहा है वे पुरुष भी उतने ही भिन्न है, फिर भी उनमें से यह छंटनी कर लेगा कि यह मेरा साधक है, यह मेरा बाधक है, उस उन्मत्त दशा है। ये मनचाही बातें, मनको प्रसन्न करने वाली घटनाएँ ये देह का भले ही उपकार करे, देह स्वस्थ रह, प्रसन्न रहे मौज में रहे, परन्तु इन सब बातों से जीव का अपकार है, विनाश है।

**तपश्चरण से जीव काउपकार एवं देह का अपकार** – अपने मन को नियंत्रित रखना, अपने आप में समता परिणाम से रह सकना, ऐसा उपयोग का केन्द्रीकरण करना, तपश्चरण करना, अनशन, ऊनोदर व्रतपरिसंख्यान, विविक्त शय्यासन और नाना कार्य क्लेश – ये सब तपश्चरण पापकर्म के विनाश के कारण भूत हैं। इन प्रवृत्तियों से आत्मा में निर्भयता आती है। ये सब चारित्र जीव के भले के लिए हैं, परन्तु इन तपस्याओं से देह का अपकार होता है। भूख से कम खाये, पूरा रस न खाये, बहुत से अनशन करे तो शरीर का बल भी घटने लगता, इन्द्रियाँ भी दुर्बल हो जाये, आँखों से कम दिखने लगे, अनेक रोग पैदा हो जाते हैं। देह का विनाश हो जात है और अनन्त काल के लिये भी देह का अभाव हो सकता है। दो बातें सामने हैं। एक ऐसी चीज है जो देह की बरबादी करे और आत्मा का भला करे और एक ऐसी दशा है जो देह को अत्यन्त पुष्ट करे और आत्मा की बरबादी करे। कौन सा तत्व उपादेय है? विवेकी तो उस तत्व को उपादेया मानता है जो जीव का उपकार कर सकने वाला है।

**ज्ञानी का विवेकपूर्ण चिन्तन** – भैया ! यह देह न रहेगा। अच्छा सुभग सुडौल सबल पुष्ट हो तो भी न रहेगा, दुर्बल, अपुष्ट हो तो भी न रहेगा, परन्तु जीव का भाव, जीव का संस्कार इस शरीर के छोड़ने पर भी रहेगा। तो जैसे कुटुम्ब के लोग मेहमान में वैसी प्रीति नहीं करते हैं जैसी कि अपने पुत्र में करते हैं। क्योंकि जानते हैं कि यह मेहमान हमारे घर का नहीं है, आया है जायगा और ये पुत्रादिक मेरे उत्तराधिकारी हैं, मेरे हैं, यो समझते हैं इसीलिए मानो मेहमान नाम रखा है महिमान। जिसके प्रति घर वालों की बड़प्पन की बुद्धि नहीं है, प्रियता की बुद्धि नहीं है वे सब महिमान कहलाते हैं। तो जैसे कुछ समय टिकने वाले के प्रति, अपने घर में न रह सकें ऐसे लोगों के प्रति ये स्नेह नहीं बढ़ाते अपना वैभव नहीं सौंप देते, ऐसे ही यह विवेकी कुछ दिन रहने वाले इस शरीर के लिए अपना दुर्भाव नहीं बनता है, खोटा परिणाम नहीं करता है, उसकी ही सेवा किया करें ऐसा संकल्प नहीं होता, अपने उद्धार की चिन्ता होती है उसको जो ऐसा ज्ञानी हो, विवेकी हो।

**आत्मनिधि की रक्षा का विवेक** – जैसे घर की कुटी में आग लग जाय तो जब तक कोई धन बचाया जा सकता है तब तक यह प्रयत्न करता है कि धन वैभव की रक्षा कर ले। जब आग तेज लग गयी, ज्वार निकलने लगी तो फिर वहाँ अपने प्राणों का भी खतरा रहता है, उस समय धन सम्पदा को छोड़ दिया जाता है और अपने प्राणों को बचा लिया जाता है। ऐसे ही यह शरीर जब क्षीण हो रहा है, दुर्बल हो रहा है, रोगी हो रहा है तो कोशिश करें कि यह ठीक हो जाय जिससे हम अपने धर्म पालन में समर्थ हो सकें, पर जब ज्वाला इतनी बढ़ जाय, शरीर की जीर्णता इतनी अधिक हो जाय, रोग बढ़ जाय कि शरीर अब टिकने का नहीं है तो क्या विवेकी उस शरीर के लिए रोये? हाय अब मैं न रहूँगा, अब



मैं मरने वाला हूँ। अरे यह शरीर तो इसीलिए उत्पन्न हुआ है। यह शरीर सदा नहीं रह सकता।

**मोहियो की घुटना टेक हैरानी** – दो बातों पर इस मनुष्य का वश नहीं चल रहा है – एक तो मृत्युदर दूसरे कोई भी चीज मेरे साथ न जायगी इस बात पर। यदि इसकी दोनों बातों पर वश चलता होता तो यह स्वच्छन्द होकर न जाने कितना अनर्थ ढाता? जब देखा कि अब यह शरीर की व्याधि की ज्वाला बढ़ गयी है तो इस शरीर को वह विवेकी छोड़ देता है और अपने ज्ञानस्वरूप को बचाने के लिए शरीर के अनुराग से और प्रवृत्ति से दूर हो जाता है। जो बात जीव का उपकार कर सकती है वह बात देह का विनाश करती है। यह तो लौकिक विनाश की बात है, पर जीव का जिस रत्नत्रय भाव से भला है, वीतराग सर्वज्ञता प्रकट हुई है, परमात्मापद मिलता है, अपने स्वरूप का परिपूर्ण विकास होता है तो उस रत्नत्रय से देखो तो जीव का तो कल्याण हुआ, पर देह का विनाश हुआ कि भविष्य में कभी भी त्रिकाल भी आगे भी अब शरीर न मिल सकेगा। ऐसा शरीर का खातमा हो जाता है।

**अन्य पदार्थ से स्वके श्रेय का अभाव** – भैया! तुम जीव हो या शरीर, अपने आप में निर्णय करो? तुम रंग वाले हो या रंगरहित, अपने आपका निश्चय करिये। तुम ज्ञानस्वरूप हो या ऐसा थूलमथूल शरीर रूप। यदि तुम जड़ शरीररूप हो तो तुझे समझाये ही क्या? जब चेतना ही तुममें नहीं है तो समझाने का सब उद्यम व्यर्थ है फिर बोलना चालना समझना ये सब व्यर्थ के भाव ही तो हुए ना। ..... नहीं नहीं, मैं अचेतन नहीं हूँ, मैं अपने आप में रह रहा हूँ, जान रहा हूँ, समझ रहा हूँ, कोई ऐसा ज्ञानमात्र अपने आपको जो निहारता है ऐसा यह जीव यदि तुम हो तो अपने स्वरूप का विकास करो अर्थात् कल्याण करो। जिन बातों से इस आत्मा का उपकार होगा उन बातों पर दृष्टि दो, उन्हें प्रधान महत्व भूत समझो। देखो भोजन आदि पदार्थों से उपभोगों उपदेश भी देते हैं एक दूसरे को कि इन भोजनादि से शरीर की पुष्टि होती है। होती है पुष्टि पर उन्ही पदार्थों के विकल्प से आत्मा का विनाश होता है, प्रमाद की वृद्धि होती है, कर्मों का आस्रव होता है, मलिन परिणाम होते हैं और मलिन परिणामों से दुर्गति में जन्म लेना होता है। आत्मस्वरूप से अतिरिक्त अन्य पदार्थों से इसका कुछ भी कल्याण नहीं है।

**देहादिक परिग्रह की अपकारिता** – ये धन वैभव आदि आत्मा के उपकारी होते तो महापुरुष इन पदार्थों को त्यागकर अकिञ्चन न बनते, दिगम्बर न बनते, इनका परित्याग न करते। इससे यह समझना चाहिए कि परिग्रह आत्मा का उपकार करने वाला नहीं है। परिग्रह में रह रहे हैं, पर रहते हुए भी बात तो यथार्थ ही जानना चाहिए। अहो ! अनादि काल से इस देह के सम्बन्ध से ही मैं संतप्त रहा । जैसे अग्नि के सम्बन्ध से पानी तप

जाता है, खौल जाता है ऐसे ही इस देह के सम्बन्ध से शान्त स्वभावी होकर भी यह आत्मा यह उपयोग संतप्त बना रहा। कही भी कभी भी विश्राम न ले सका।

**इन्द्रियो की अपकारिता** – यह शरीर मेरे संताप के लिए ही है और शरीर के अंग इन्द्रिय, इन्द्रिय की प्रवृत्ति, कर्म इन्द्रिय और ज्ञान इन्द्रिय अर्थात् द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ये सब मेरे संताप के ही कारण है। इनकी रति से, प्रेम से मेरा आत्मा दुःखी होता है। यह मोही जानता है कि आंखों से यह पहिले कुछ जाना करता है रसना से, कर्ण से इन सभी इन्द्रियो से यह जाना करता है, सो ये इन्द्रियाँ ज्ञान की साधन है। हाथ से छूने पर ठंडा गरम का बोध होता है, रसना के द्वारा खटा-मीठा आदि का ज्ञान किया जाता है। इन इन्द्रियो से ज्ञान बनता है ऐसी भ्रमबुद्धि है अज्ञानी की। सो चूँकि ज्ञान से बढ़कर तो सभी के लिए कुछ वैभव नहीं है, अतः यह अज्ञानी भी ज्ञान का साधन इन्द्रियों को जानकर और इन्द्रियो का आश्रय देह को जानकर इस देह को और इन्द्रिय को पुष्ट करता है। उनकी और ही इसका ध्यान है। परन्तु यह विदित नहीं है कि ये इन्द्रियाँ ज्ञान के कारण नहीं है, किन्तु वास्तव में हमारे ज्ञान में ये बाधक है।

**इन्द्रिय विषयो के मोह मे मूलनिधि का विनाश** – जैसे किसी बालक का पिता मर जाये तो सरकार उसकी जायदाद को नियंत्रित कर लेती है और उस लाख दो लाख की जायदाद के एवज में उस बालक को दो चार सौ रूपया माहवार सरकार बाँध देती है। पहिले तो वह वाबलक सरकार के गुण गाता है, वाह बड़ी दयालु है सरकार, हमें घर बैठे इतना रूपया देती है, पर जब उसे अपनी सम्पत्ति का पता लग जाता है तो वह उन दो चार सौ रूपया माहवार लेने से अपनी प्रीति हटा लेता है। वह उन रूपयो को लेने से मना कर देता है। आगे पुरुषार्थ करता है तो उसकी जायदाद मिल जाती है।

**इन्द्रियविषयो के मोह में मूलनिधि का विलय** – इसी तरह ये इन्द्रियाँ हमारा मूल धन नहीं है, ज्ञान की कारण भूत नहीं है, किन्तु जैसे मकान में खिड़कियाँ खुल जाने से बाहर की चीजें दिखती है, वह पुरुष उन खिड़कियों के गुण गाता है, यह खिड़की बड़ा उपकार करती है, मुझे बाहरी चीजों का ज्ञान करा देती है, सड़क पर कौन आ रहा है, कौन जा रहा है इन सब बातों का ज्ञान यह खिड़की हमें करा देती है। इस तरह के वह खिड़की के गुण गाता है किन्तु जब वह जान जाता है कि अपना ज्ञानबल ही सब कुछ जान रहा है पर यह ज्ञान, इन दीवालो से दबा हुआ है। जानने वाला तो अपने ज्ञान से जान लेता है, इस खिड़की से नहीं जान लेता है। ऐसे ही यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा इस शरीर की भीत में दबा हुआ हूँ। इस भीत में ये चार-पांच खिड़कियाँ मिल गयी है, आँख, कान, नाक, मुँह रसना वगैरह, तो हम इस मलिन कायर अवस्था में इन खिड़कियो से थोड़ा बहुत बोध करते है, पर यहाँ भी बोध कराने वाली ये इन्द्रियाँ नहीं है। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं है।

परतत्व की प्रीति के परिहार का विवेक – इस ज्ञानानन्दमय आत्मनिधि को परखें और इन्द्रियो की प्रीति तजें, आत्महित की साधना है। इससे देह का अपकार होता है, इस पर ध्यान न दे, किन्तु जिन बातों से इस जीव का अपकार होता है उनको मिटाएँ, यो हम विवेकी कहे जा सकते हैं। पुराण मोक्षार्थी पुरुषो ने भी इस धन वैभव का व अन्त में देह का भी परित्याग करके शान्त और निराकुल अवस्था को प्राप्त किया है, उन्होंने निर्वाण का आनन्द पाया है उन पुरुषो के उपदेश में यह बात कही गयी है कि इन्द्रिय भोग चाहे देह के उपकारक है, परन्तु आत्मा का तो अपकार ही करने वाले है। इसलिए आत्मातिरिक्त अन्य पदार्थों का मोह त्यागना ही श्रेयस्कर है।

**इतश्चिन्तामणिर्दिव्यः इतः पिण्याकखण्डकम्।**

**ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्वियन्तां विवेकिनः ॥ 20 ॥**

आनन्दनिधि व संकट विधि का ध्यान से उपलम्भ – जैसे किसी पुरुष के समने एक तरफ तो चिन्तामणि रत्न रखा हो और एक तरफ खल का टुकड़ा रखा हो और उससे कहा जाय कि भाई जो तू चाहता हो उसे मांग ले अथवा उठा ले। इतने पर भी वह पुरुष यदि खली का टुकड़ा ही उठाता है, माँगता है तो उसे आप पागल भी कह सकते हैं, मूर्ख भी कह सकते हैं। कुछ भी कह लो। इसी प्रकार हम आप सबके समक्ष एक और तो अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन का निधान यह आत्मनिधि पड़ी हुई है और एक औश्र अर्थात् बाहर में यह धन वैभव पड़ा हुआ है, और बात यह है कि मनुष्य ध्यान के द्वारा जो चाहे सो पा सकता है। शुद्ध ज्ञान करे और अपने आपके ध्यान की और आए तो आत्मीय आनन्द पा सकता है, बाहर की और झुके तो उसे वहाँ विषय सम्बन्धी सुख दुःख प्राप्त हो सकते हैं। दोनो ही यह ध्यान से पाता है। ध्यान से ही आत्मीय आनन्द पा लेगा और ध्यान से ही वैषयिक सुख और क्लेश पा लेगा।

सुगम लाभ के प्रति अविवेक की पराकाष्ठा – अब वह सत्य आनन्द न चाहे तो उसे क्या कहोगे? मन में कहलो, वस्तुतः न किसी बाह्य पदार्थ से क्लेश मिलता है और न सुख मिलता है। जैसी कल्पना बनायी उस कल्पना के अनुसार इसमें सुख अथवा दुःख रूप परिणमन होता है। सब ध्यान से ही मिल जाता है। तो एक ओर तो है आत्मीय अनन्त ज्ञान दर्शन की निधि जो आनन्द से भरपूर है और एक और विषयो के सुख ओर क्लेश। दोनो को ही यह जीव ध्यान से प्राप्त कर सकता है। किसी से कहा जाय कि भाई तुम कर लो ध्यान, ध्यान से ही तुम पा लोगे जिसकी अन्तर में रुचि करोगे। न इसमें कुछ रकम लगाना है, न वैभव जोड़ना है, न शरीर का श्रम करना है, न व्याख्यान सीखना है। केवल ध्यान से ही प्राप्त किया जा सकता है। चाहे आत्मीय आनन्द पा लो और चाहे सांसारिक सुख-दुःख विपदा पा लो। इतने पर भी यह जीव उन वैषयिक सुखो का ही ध्यान बनाये

तो जितनी बातें लौकिक पागल को कह सकते हो उतनी ही बातें इसको भी कह सकते हो।

यह मोह में पागल हो गया है, अपना ध्यान को ऐसा बौराया है बाहर में कि इस अनन्त निनिध का घात कर डाला है। विवेकी जन तो उस चिन्तामणि रत्न का आदर करेगे, सम्यग्ज्ञानी पुरुष उस आत्मास्वरूप का आदर करेंगे। जैसे किी बुद्धिमान से कहा जाय कि खल का टुकड़ा और यह चिन्तामणि अथवा अन्य जवाहरात रखे है, इनमें से तुम जो चाहे उठा लो तो वह रत्नो को उठायेगा। इसी प्रकार जो जीव धर्म ध्यान, शुक्लध्यान रूप उत्तम ध्यानों का आराधन करते है वे वास्तविक स्वरूप की, सत्य आनन्द की प्राप्ति कर लेते ह।

**अज्ञान का महासंकट** – भैया ! इस पर सबसे बड़ा संकट अज्ञान का बसा हुआ है। अज्ञान अंधकार में पड़ा हुआ यह जीव कुछ समझ ही नहीं पा रहा है कि मेरा क्या कर्तव्य है, कहाँ आनन्द मिलेगा, कैसे सर्व चिन्ताएँ दूर होगी? इसका उसे कुछ भी भान नहीं है। यहाँ के मिले हुए समागम के थोड़े दिनों को इतरा लें, मौज मान ले, कुछ अज्ञानी पूढो के सिरताज बन ले, इन सबसे कुछ बढ़िया पोजीशन वाले कहलाने लगे, तो भला बतलावो कि चंद दिनों की इस चांदनी से क्या पूरा पड़ेगा? जो जीव आर्तध्यान, रौद्रध्यान इन अप्रशस्त ध्यानों का आस्रव करता है उसे खल के टुकड़े के समान इस लोक सम्बन्धी कुछ इन्द्रिय जन्म सुख प्राप्त हो जाता है, पर उन सुखो में दुःख ही भरा हुआ है। तेज लाल मिर्च खाने में बतावो कौनसा सुख हो जाता है, पर कल्पना में यह जीव कहता है कि इसमें बड़ा स्वाद आया, यह तो बड़ी चटपटी मंगौड़ी बनी है। कौन सा स्वाद आया सो बतावो, पर लाल मिर्च के खाने के खाने में कल्पना में स्वाद माना जा रहा है। आंसू गिरते जाते और सुख मानते जाते। जैसी यहाँ हालत है वैसी ही हालत इन इन्द्रियविषयों के भोगो में और धनसंचय से मन की मौज में भी यही हालत है। विपदा अनेक आती रहती है और मौज भी उसी में मान रहे है।

**सद्गृहस्थ की चर्या**— भैया ! सद्गृहस्थ वह है जो अपने रात दिन में कुछ समय तो निर्विकल्प बनने का प्रयत्न करे और आत्मा की सुध ले। यह बैठा हुआ, पड़ा हुआ कभी किसी दिन यों ही सीधे चला जायगा, इस शरीर को छोड़कर अवश्य ही जाना होगा। अभी कुछ अवसर है ज्ञानार्जन करने का। घर्म साधन करके पुण्य कमाये, मोक्षमार्ग बनाए, सच्ची श्रद्धा पैदा करे, संसार से छूटने को उपाय बना ले, जो करना चाहे कर सकते है और विवेकी पुरुष ऐसा करते ही है। अविवेकी पुरुष अवसर से लाभ नहीं उटाते और व्यर्थ के चक्कर में उपयोग रमाकर जीवन गंवा जाते है।

**ज्ञानी विवेक पर एक दृष्टान्त** – जैसे जिस राज्य में यह नियम हो कि यहाँ प्रतिवर्ष राजा का चुनाव होगा और उस राजा के वर्ष की समाप्ति होने पर उसे जंगल में छोड़ दिया जायगा। कौन पेन्शन दे, कौन उसकी सेवा करे? यह नियम हो तो बेवकूफ लोग तो राजा बनेंगे और जंगल में मरेंगे, किन्तु कोई बुद्धिमान तो यह ही करेगा कि हम एक वर्ष को तो हे राजा, जिस वर्ष हम राजा है उस वर्ष तो हम जो चाहे सो कर सकते हैं। वह जंगल में ही अपनी कोठी बना दे, खेती बैल सब कुछ तैयार कर दे, नौकर भी भेज दे, एक पार्क बना ले, कर ले जो करना हो, फिश्र वह फैंक दिया जाय जंगल में तो वहाँ तो वह मौज से रहेगा।

**ज्ञानी का विवेक** – ऐसा ही इस बार संसार राज्य का ऐसा नियम है। इसे 50, 60, 70 वर्ष को मनुष्य बना दो, सब पशुओं का इसे राजा बना दो, सब जीवों में इसे सिरताज बना दो, फिर 60–70 वर्ष के बाद इसे फैंक देना निगोद में, स्थावर में, कीड़े मकोड़ों में, नरको में ऐसा इस सामान्य का नियम है। तो यहां अविवेकी मूढ़ आत्मा तो इस मनुष्य के साम्राज्य में, विषयो में मग्न होकर चैन माना करते हैं, पर मरने पर दुर्गति पायेगे, किन्तु कोई हो बुद्धिमान जीव तो वह तो यही समझेगा कि इस 60–70 वर्ष में जो कुछ करना चाहें कर तो सकते हैं ना, हमारा ज्ञान हमारे पास है, हमारा आत्मस्वरूप हममें ही है, हम जैसा बोध करना चाहे, ज्ञान करना चाहे, उपयोग लगाना चाहें लगा सकते हैं। यहाँ यदि संसार को छोड़ने का उपाय बना लें, सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ले तो अब तो इसे सुगति ही मिलेगी और अति निकट काल में निर्वाण पद पायगा। बुद्धिमान तो यो करते हैं।

**आत्मनिर्णय** – भैया! अब हम अपनी-अपनी सोच लें। हम अपनी सूची मूढ़ों में लिखायें कि बुद्धिमान में? प्रोग्राम तो बनाते ही हैं बहुत से। कुछ इस प्रोग्राम का भी निर्णय कर ले, इन मूर्खों में अपना नाम लिखावे या विवेकियों में? इस अनित्य समागम का लोभ करने वाले तो मूढ़ों में ही अपना नाम लिखाने वाले हैं और इन समस्त पौद्गलिक विभूतियों से पृथक् अपने आत्मकल्याण को ही प्रधान समझने वाले पुरुष विवेकियों में नाम लिखने वाले हैं। देखो इस आत्मक्षेत्र के निकट अर्थात् अन्तर की और यह चैतन्य चिन्तामणि रत्न पड़ा हुआ है। ओर बाहर में ये वैषयिक सुख:दुख निःसार असार खल के टुकड़े पड़े हुए हैं। अब देखो, ध्यान से ही आत्मीय आनन्द पाया जा सकता है और ध्यान से ही बाह्य सुख पाये जा सकते हैं। विवेक कर लीजिए कि हमें कैसा ध्यान बनाना चाहिए? कुछ मोही अज्ञानी जीवों से, मोहियों से, पर्याय बुद्धि वालों से प्रशंसा के शब्द सुन लिया तो क्या पाया? उन्होंने भी प्रेम से नहीं बोला, किन्तु स्वयं अपनी कषाय की वेदना को शान्त करने के लिए बोला है। हम आत्मकल्याण की दृष्टि छोड़कर यदि इन खली के टुकड़ों में ही लग जाये तो यह कुछ भी विवेक नहीं है।

**बुद्धिमान की खल में अनास्था** – जिस चीज मेंसे सार निकल जाता है अथवा जिसमें सार नहीं रहता है, उसका नाम खल है। तिल में सरसो में जो सार है वह तेल है, वह जब नहीं रहता तो उसकी जो हालत बनती है, उसे लोग खल कहते हैं। खल नाम दुर्जन का भी है, दुष्ट का भी है अयोग्य का भी है। यह सारा समागम खल की तरह है, निःसार है और निमित्त दृष्टि से हमें आधा पहुँचाने वाला है, यह जानकर विवेकी पुरुष उसमें आदर बुद्धि नहीं करते हैं।

**आर्त और रौद्रध्यान का फंसाव** – यह जगत आर्त और रौद्र ध्यान में फंसा है। दो ही तो बातें हैं इस जीव के परिचय की, एक तो मौज और दूसरी पीड़ा। कोई मौज में मस्त है कोई पीड़ा में दुःखी है। पीड़ा वाले ध्यान का नाम है आर्तध्यान और मौज वाले ध्यान का नाम रौद्रध्यान। पीड़ा में सम्भव है कि क्रूरता न रहे पर मौज में तो क्रूरता रहती है। पीड़ा के समय सम्भव है कि यह पवित्र रहे, पर विषयो के मौज के समय में यह जीव अपवित्र ही रहता है। बुद्धिमानों के लिए सम्पदा विषम और अपवित्र वस्तु है। सम्पदा अपवित्र नहीं है किन्तु सम्पदा के प्रति जो मोह परिणाम लगता है वह परिणाम अपवित्र है। जगत में न कोई जीव अपना मित्र है, न कोई जीव अपना शत्रु है। अपना राग जिस साधन से पुष्ट है उस साधन के जुटाने वाले को लोग मित्र मानने लगते हैं और उस राग में जिसमें निमित्त से बाधा हुई है उसको शत्रु मान लेते हैं। वास्तव में कोई बाह्य साधन मेरे शत्रु-मित्र नहीं है। अपनी ही कल्पना मित्र रूप में परिणत होती है, शत्रुरूप में परिणत होती है। वस्तुतः तो ये सभी कल्पनाएँ अपनी शत्रु हैं।

**रौद्रध्यान में क्रूरता का संक्लेश** – रौद्रध्यान चार प्रकार के है – हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द, परिग्रहानन्द। हिंसा करने कराने में मौज मानना, हिंसा करते हुए को देखकर खुश होना इस प्रकार की मौजों का नाम हिंसानन्द है। इन मौजों में क्रूरता भरी हुई है। मृषानन्द झूठ बोलने में झूठ कहलवाने में खुश होना सो मृषानन्द है। कोई किसी को झूठी बात लगाता है मजाक दिल्लगी करता है तो ऐसा करने वाले लोगों का आशय क्रूर है अथवा नहीं ? क्रूर है। किसी की चीज चुरा लेना अथवा किसी की चीज चुराने अथवा लूटने का उपाय बताना, राय देना और इस ही में मौज मानना ऐसा करने वाले का चित्त दुष्टता और क्रूरता से भरा हुआ है या नहीं? विषयो के साधन जुटाना, विषयो में ही मग्न रहना इसमें भी क्रूरता पड़ी हुई है। माना तो जा रहा है मौज, परन्तु अपने-अपने परमात्मप्रभु पर घोर अन्याय किया जा रहा है।

**आर्तध्यान में क्लेश का संक्लेश** – आर्तध्यान में भी मलिनता है। इष्ट का वियोग होने पर, इष्ट के संयोग की आशा बनाए रहना यह है इष्ट वियोगज आर्तध्यान। यहाँ भी ब्रह्मास्वरूप से विमुख होने एक प्रसंग आता है। अनिष्ट वस्तु का संयोग होने पर उसके वियोग की भावनाएँ बनाना, यही है अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान। यहाँ भी जीव, आत्मकल्याण

से विमुख बन रहा है। बाह्यपदार्थों में आशा लगाए रहना यह वेदना प्रभव औश्र निदान नामक आर्तध्यान है। यहाँ भी इस जीव ने केवल ध्यान ही किया और ध्यान से ही अपना मौज और विषाद बनाया। यही जीव इस प्रकार का ध्यान न बनाकर वस्तु के यथार्थ स्वर्तत्र स्वरूप की और दृष्टि दे देकर यदि सम्यग्ज्ञान पुष्ट करे, सम्यक्त्व पोषण करे तो इसे कौन रोकता है, परन्तु यह मोही प्राणी शुद्ध प्रक्रियाओं को तो त्याग देता है, रागद्वेष मोह में बसा रहता है।

**चैतन्यचिन्तामणि की आस्था का अनुरोध** – विवेकी जनो का कर्तव्य है कि आर्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग करके आत्मीय आनन्दस्वरूप के लाभ के लिए धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान की उपासना करे। भगवान की आज्ञा प्रमाण अपने कर्तव्य में लगे। ये रागाद्रिक विभाव कब दूर हो, कैसे दूर हो, इसका चिन्तन करे और यथाशक्ति उपाय बनावे। इस लोक की विशालता और इस काल के अनादिनिधिनता का विचार करके और भूत काल में किए गए विचार अन्य जनों पर भी क्या गुजरे, मुझ पर भी क्या गुजरे, इसका यथार्थ चिन्तन करे और कर्मों के फल का भी यथार्थ निर्णय रखे तो इस शुभ ध्यान के प्रताप से अपने को शुद्ध आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। अब एक संकल्प बना ले। आत्मक्षेत्र के भीतरी और चैतन्य चिन्तामणि प्रकाशमान है और इस क्षेत्र में बाहर की और ये विषयकषायरूपी खल के टुकड़े पड़े हैं। अब किसका आदर करना चाहिए? चैतन्य चिन्तामणि का आदर करना चाहिए। अपने को शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप निरखें, इस ही से शुद्ध आनन्द प्राप्त होगा।

**स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।**

**अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥ 2॥**

**आश्रय से आत्म तत्व** – पूर्व प्रकरण से इस बात का समर्थन हुआ है कि चिन्मात्र चिन्तामणि के लाभ में ही आत्मा का उद्धार है और आत्मा का उपकार इसी स्वभाव के अवलम्बन से है। इस बात को जानकर जिज्ञासु यह जानने की इच्छा कर रहा है कि जिस आत्मतत्व के जानने से संसार के समस्त संकट दूर हो जाते हैं और शाश्वत शुद्ध आत्मीय आनन्द मिलता है, तथा साधारण गुण ज्ञान का पूर्ण विकास हो जाता है, वह आत्मा कैसा है ? इस ही प्रश्न के उत्तर में यह श्लोक आया है। यह आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय है, देहप्रमाण है, अविनाशी है, अनन्त सुखमय है व विश्वज्ञ है।

**आत्मा की स्वसंवेदनगम्यता** – यह आत्मा अपने आपको जानने वाले ज्ञान के द्वारा ही जानने में आता है प्रत्येक आत्मा अपने में 'मैं हूँ' ऐसा अनुभव करता है। चाहे कोई किसी रूप में माने, पर प्रत्येक जीव में 'मैं हूँ, ऐसा विश्वास अवश्य है। मैं अमुक जाति का हूँ पंडित हूँ, मूर्ख हूँ, गृहस्थ हूँ, साधु हूँ, किसी न किसी रूप से मैं हूँ ऐसा प्रत्येक जीव

अंतरंग में मंतव्य रख रहा है। जिसके लिए मैं हूँ इस प्रकार का ज्ञान किया जा रहा है जिसको वेदा जा रहा है वह मैं आत्मा हूँ। यह आत्मा स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष के द्वारा वेद्य है।

**आत्मा को देहप्रमाण विस्तार** — वर्तमान में यह आत्मा कर्मोदय से प्राप्त छोटे-बड़े अपने शरीर के प्रमाण है। जैसे प्रकाश को, दीपक को घड़े के भीतर रख दें तो इस घड़े में ही प्रकाश हो जाता है, कमरे में रख दें तो कमरे में फैल जाता है, ऐसे ही यह ज्ञानपुञ्ज आत्मतत्त्व जिस शरीर में रहता है उतने शरीर प्रमाण हो जाता है। चींटीका शरीर हो तो चींटी के शरीर के बराबर आत्मा हो गया, हाथीके शरीर में पहुंचे तो हाथीके शरीर के बराबर फैल गया। यह आत्मा कर्मोदय से प्राप्त शरीर में बद्ध है तो यह शरीर प्रमाण ही तो रहेगा। शरीर से बाहर मैं आत्मा हूँ — ऐसा अनुभव भी नहीं हो रहा है, और शरीर में केवल सिर मैं हूँ हाथ पैर मैं नहीं हूँ, ऐसा भी अनुभव नहीं हो रहा है। तन्मात्र है जितना शरीर मिला है उतने प्रमाणमें यह आत्मा विस्तृत है। जब शरीर से मुक्त हो जाता है, सिद्धपद प्राप्त होता है उस समय यह आत्मा जिस शरीर को त्यागकर सिद्ध हुआ है वह शरीर जितने प्रमाणमें विस्तार वाला था उतने प्रमाणमें विस्तृत रह जाता है, फिर वहाँ घटने और बढ़ने का काम नहीं है। जिस संसार अवस्थामें यह जीव जितने बड़े शरीर को प्राप्त करे उतने प्रमाण यह जीव हो जाता है। छोटा शरीर मिला तो छोटा हो जाता है और बड़ा शरीर मिला तो बड़ा हो जाता है, परन्तु सिद्ध अवस्थामें न छोटा होनेका कारण रहा, न बड़ा होने का कोई कारण रहा, शरीरसे मुक्ति हुई, कर्म रहे नहीं, अब बतावो यह आत्मा छोटा बने कि बड़ा हो जाय ? न छोटा बनने का कारण रहा, न बड़ा बनने का कारण रहा, तब चरम शरीर प्रमाण यह आत्मा रहता है। आत्मा तनुमात्र है।

**आत्मतत्त्वकी** — नित्ययता — इस आत्मा का कभी विनाश नहीं होता है। द्रव्यदृष्टिसे यह आत्मा नित्य है, शाश्वत है अर्थात् आत्मा नामक वस्तु कभी नष्ट नहीं होती है, उसका परिणमन नया नया बनेगा। कभी दुःखरूप है, कभी सुखरूप है, कभी कषायरूप है, कभी निष्कषायरूप हो जायगा। आत्मपरिणमन चलता रहता है। किन्तु आत्मा नामक वस्तु वहीका वही है, अविनाशी है।

**आत्मतत्त्वका सुखमय स्वरूप** — यह आत्मा अनन्त सुख वाला है। आत्माका स्वरूप सुखसे रचा हुआ है, आनन्द ही आनन्द इसके स्वभाव में है, पर जिसे अपने आनन्दस्वरूपका परिचय नहीं है वह पुरुष परद्रव्योमें, विषयोमें आशा लगाकर दुःखी होता है और सुख मानता है। यह आत्मा स्वरसतः आनन्दस्वरूप है। कोई-कोई पुरुष तो आनन्दमात्र ही आत्माको मानते हैं। जैसे कि वे कहते हैं आनन्दो ब्रह्मणो रूपं। ब्रह्मका स्वरूप मात्र आनन्द है, पर जैन सिद्धान्त कहता है कि आत्मा केवल आनन्दस्वरूप ही नहीं है, किन्तु ज्ञानानन्दस्वरूप है। ज्ञान न हो तो आनन्द कहाँ विराजे? और आनन्दरूप परिणति न हो तो परिपूर्ण विकास वाला ज्ञान कहाँ विराजे?



**आत्मतत्त्वकी सर्वज्ञरूपता** – यह आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। आनन्दस्वरूप है यह तो कहा ही गया है पर ज्ञानस्वरूप भी है। यदि आत्मा ज्ञानरूप न हो तो कुछ व्यवस्था ही न बनेगी। इस समस्त जगतको जाननेवाला कौन है ? इस जगतकी व्यवस्था कौन बनाए ? कल्पना करो कि कोई ज्ञानवान पदार्थ न होता जगत में और ये सब पदार्थ होते तो इनका परिचय कौन करता ? यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है— इसका ज्ञानस्वभाव इसके अनन्त बलको रख रहा है कि ज्ञान से यह लोक और अलोक तीन कालके समस्त पदार्थों को स्पष्ट जान सके। ऐसा यह आत्मा लोक और अलोकका जाननहार है।

**एकान्त मन्तव्य निरास** – आत्माके स्वरूपको बताने वाले इस श्लोकमें 5 विशेषण दिए हैं। आत्मा स्व-सम्वेदनगम्य है, शरीरप्रमाण है, अविनाशी है, अनन्त सुख वाला है और लाकका साक्षात् करने वाला है इन विशेषणों से 5 मन्तव्योंका खण्डन हो जायगा, जो एकान्त मन्तव्य है।

**आत्मसत्त्वका समर्थन** – कोई यह कहते हैं कि आत्मा तो कुछ प्रमाण का विषय भी नहीं है जो विषय प्रमाण में आये, युक्तिमें उतरे, उसके गुणोंका भी वर्णन करियेगा। आत्मपदार्थ कुछ पदार्थ ही नहीं, भ्रम है लोगो ने बहका रक्खा है। धर्मके नामपर जो ऋषि हुए, त्यागी हुए, साधु हुए, एक धर्म का ऐसा ढकोसला बता दिया है कि लोग धर्ममें उलझे रहे और उनकी इस उलझनका लाभ साधु ऋषि संत लूटा करे, उनको मुपतमें भक्ति मिल, आदर मिले। आत्मा नामकी कोई चीज नहीं है कोई लोग ऐसा कहते हैं। उनके इस मन्तव्य का निरास इस विशेषणसे हो गया है कि यह आत्मा स्वसम्वेदनगम्य है, स्पष्ट विदित है एक अहं प्रत्ययके द्वारा भला जो आत्माको मना भी कर रहे है— मैं आत्मा नहीं हूँ, इस मना करनेमें भी कुछ ज्ञान और कुछ अनुभव है कि नहीं? है, चाहे आत्माको मना करने के रूपसे ही अनुभव हो। पर कुछ अनुभव हुआ ना, कुछ ज्ञान हुआ। आत्मा नहीं हूँ, मैं कुछ भीन हूँ, केवल भ्रम मात्र हूँ ऐसी भी समझ किसी में हुई ना। यह समझ जिसमें हुई हो वही आत्मा है जो आत्माको मना करे कि आत्मा कुछ नहीं है वही आत्मा है। जो आत्मा को माने कि मैं आत्मा ऐसा हूँ वही आत्मा है।

**स्वसम्वेदन प्रमाणका विषय** – यह आत्मा स्वसम्वेदनके द्वारा स्पष्ट प्रसिद्ध है। यह आत्मा अमूर्तिक है इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है इस कारण कोई इस बातपर अड जाय कि तुम हमको आँखो दिखा दो कि यह आत्मा है तो मान लूँगा। तो यों आँखो कैसे दिखाया जा सकता है? उसमें कुछ रूप हो, लाल पीला आदि रंग हो तो कुछ आँखो से भी दिखाने का यत्न किया जाय, पर वहां रूप नहीं है, चखकर भी नहीं बताया जा सकता है। क्योंकि आत्मामें स्पर्श भी नहीं है। यह आत्मा अमूर्तिक है, न यह इन्द्रियोंका विषय है और न मनका विषय है। इसीसे लोग यह कह देते हैं कि आत्मा किसी प्रमाणका विषय भी नहीं है, परन्तु यह मन्तव्य ठीक नहीं है।

**सर्वजीवोंमें अहं प्रत्ययवेदन** – भैया ! मैं हूँ, ऐसा प्रत्येक जीवमें अनुभव चल रहा है, और कोई पुरुष बाह्यविकल्पोंका परिहार करके अन्तर्मुखाकार बनकर अपने आपमें जो जो अनुभव करेगा, जो सत्य स्वभावका प्रकाश होगा उस सत्य प्रकाशज्ञके अनुभवको साक्षात् स्पष्ट जानता है कि लो यह मैं हूँ। आत्माका परिज्ञान करना सबसे महान् उत्कृष्ट पुरुषार्थ है। इस धन वैभवका क्या है? रहे तो रहे, न रहे तो न रहे। न रहना हो तो आप क्या करेंगे, और रहना हो तो भी आप क्या कर रहे है? आप तो सर्वत्र केवलज्ञान ही कर रहे है, कल्पनाही कर पाते है। कोई कोई पुरुष बाह्य विकल्पोंका परिहार करके परमविश्राम पाये तो वहाँ अपने आप ही यह शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मप्रकाश उपयोगमें प्रकट हो जाता है। जब इस आत्माकी सत्ता स्वतः सिद्ध समझमें आती है, इस आत्माको असिद्ध कहना ठीक नहीं है।

**तनुमात्रप्रतिपदनसे सर्व व्यापकत्वका निरसन** – दूसरा विशेषण इसमें दिया गया है – आत्मा शरीर मात्र है। इसके विपरीत कुछ लोग तो यह कहते है कि यह आत्मा आकाशकी तरह व्यापक है, आकाशके बराबर फैला हुआ है। जिस प्रकार सर्वत्र आकाश विद्यमान है उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र मौजूद रहता है, कहीं आत्माका अभाव नहीं है। जैसे आकाश तो एक है और घड़ेमें जो पोल है उसमें समाये हुए आकाश को लोग कहते है कि घड़ेका आकाश है यह कमरेका आकाश है। जैसे उन घड़ोने भीत और घड़ियालोके आवरणके कारण आकाशके भेद कर दिए जाते है कि यह अमुक आत्मा है, यह अमुक आत्मा है ऐसा एक मंतव्य है, परन्तु वह मंतव्य ठीक नहीं है। जो चीज एक होती है और जितनी बड़ी होती है उस एकमें किसी भी जगह कुछ परिणमन हो तो पूरेमें हुआ करता है। यहाँ तो भिन्न-भिन्न देहियोंमें विभिन्न परिणाम देखा जा रहा है।

**पदार्थ के एकत्वका प्रतिबोध** – यह चौकी रखी है, यह एक चीज नहीं तभी तो चौकीके एक खूँट में आग लग जाये तो धीरे-धीरे पूरी जलती है। एक पदार्थ वह होता है कि एक परिणमन जितने में पूरेमें नियम से उसी समय होना ही पड़े। जैसे एक परमाणु। परमाणुमें जो भी परिणमन होता है वह सम्पूर्णमें होता है। कितना है परमाणु सम्पूर्ण ? एक प्रदेशमात्र, उसे निरंश कहते है। तो एक परिणमन जितने में नियम से हो उतने को एक कहा करते है। यह आत्मा सर्वत्र व्यापक केवल एक ही होता तो हम जो विचार करते है, मानते है उतना जो ज्ञानका परिणमन हुआ, वह परिणमन पूरे आत्मामें होना चाहिए। फिर यह भेद क्यों हो जायगा कि आप जो जानते है सो आप ही जानते है, मैं नहीं जान सकता। जब एक ही आत्मा है तो जो भी परिणमन किसी जगह हो वह परिणमन पूरे आत्मामें होना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है हममें सुख परिणमन हो तो वह हममें ही होता है आपमें नहीं जा सकता है। जो आपमें होता है, हम सबमें नहीं जा सकता है। इससे सिद्ध है कि आत्मा एक सर्वव्यापक नहीं है। रही आकाशकी बात। दृष्टान्तमंजो कहा गया था तो

घड़े में, हंडेमें, कमरे आकाश कुछ घड़ेका, हंडेका अलग अलग नहीं है। आकाश तो वही एक है। कहीं घड़ेका उठाकर धर देने से वहाँ का आकाश न रहे, घड़ेके साथ चल आए, ऐसा नहीं होता है। आकाश में जो भी एक परिणाम होता है वह पूरे आकाश में होता है। वह वस्तु है।

**आत्माके अत्यन्त अल्पीयस्त्वका निरसन** – कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि आत्मा बटके बीजके दानेकी तरह छोटा है। जैसे बड़ेके फलका दाना होता है तो वह सरसो बराबर भी नहीं है, तिलके दाने बराबर भी नहीं है। इतना छोटा बीज औश्र किसीका होता ही नहीं है। तो बटके बीजका जितना एक दाना होता है आत्मा तो उतना ही छोटा है इस सारे शरीरमें। पर यह छोटा आत्मा रात दिन इस शरीर में इतना जल्दी चक्कर लगाता रहता है कि हम आपको ऐसा मालूम होता है कि मैं इतना बड़ा हूँ। जैसे किसी गोल चका में तीन जगह, दो जगह आग लगा दी जाय कपड़ा बाँधकर और उस चकेको बहुत तेजीसे गोल गोल फिराया जाय तो आप यह नहीं परख पाते हैं कि इसमें तीन जगह आग है। वह एक ही जगह मालूम होती है। अच्छा, चका और आग की बात दूर जादे दो। अब जो बिजलीका पंखा चलता है उसमें पंखुड़ियां हैं पर जब पंखा चलता है तो यही नहीं मालूम होता है कि इसमें तीन पंखुड़ियां हैं वह पूरा एक नजर आता है। इससे भी अधिक वेग से चलने वाला आत्मा यों नहीं विदित हो पाता है कि यह आत्मा बटके दानेके बराबर सूक्ष्म है, ऐसा एक मंतव्य है। वह भी मंतव्य ठीक नहीं है।

**आत्माके देहप्रमाण विस्तारका समर्थन** – आत्माके बट बीजके बराबर छोटा होनेका कोई कारण नहीं है, और यह इस तरहके चक्कर अगर लगाए तो शरीर तो बड़े बेहूदे ढंग का है, दो टांगे, इतनी लम्बी पसर गयी है, 2 हाथ ऐसे अलग-अलग निकल गए हैं, इसमें आत्मा किस तरह घूमें, कहाँ-कहाँ जाय? यह आत्मा न तो बड़ेके बीज के दाने बराबर छोटा है और न आकाशकी तरह एक सर्वव्यापक है किन्तु कर्मोदयानुसार जब जैसा छोटा या बड़ा शरीर मिलता है तो उस शरीर प्रमाण ही इस आत्माका विस्तार बनता है। इस आत्माके प्रदेशमें संकोच और विस्तार करनेकी प्रकृति है। छोटा शरीर मिला तो प्रदेश संकुचित हो गए बड़ा शरीर मिला तो प्रदेश फैल गए। यह आत्मा कर्मोदयसे प्राप्त अपने अपने शरीर के प्रमाण ही विस्तार में रहता है।

**चारुवाक्** – आत्माके सम्बंध में सिद्धान्त रूपसे जो यह मान्यता है कि यह शरीर, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच तत्वों से बनता है ऐसा सिद्धान्त मानने वालों का नाम है चारुवाक्, जिसे समझाल करके बोलिये चारुवाक्। चारु मायने प्रिय, वाक् मायने वचन, जिसके वचन सारी दुनिया को प्रिय लगे उसका नाम है चारुवाक्। यदि कोई यह कहे कि क्या आत्मा और धर्मके झगड़ेमें पड़ते हो, खूब खावो, पियो, मौज उड़ावो और देखो इन्द्रियके विषयों में कितना मौज है, कौन देख आया है कि क्या है आगे? है ही कुछ नहीं

आगे। जो कुछ है वह दिखता हुआ सब कुछ है इसलिए आरामसे रहो, खूब मौजसे रहो, कर्जा हो तो हो जाने दो मगर खूब घी शक्कर खावो। आगे न चुकाना पड़ेगा, जीव आगे कहाँ रहता है, ऐसी बातें सुननेमें जगतके लौकिक जीवोंको तो प्रिय लगती होगी, ऐसे लौकिक वचन जिनको प्रिय लगते हैं उनका नाम है चारुवाक। यह तो सिद्धान्त वाली बात है, परन्तु इस सिद्धान्तका परिचय नहीं है तो न सही किन्तु इस मंतव्य वाले इने गिने बिरले तत्वज्ञ साधु संतोको छोड़कर सारी दुनिया इसके मतकी अनुयायी है।

**नास्तिकता** – भैया ! यों तो नाम के लिए कोई जैन कहलाए फिर भी इन जैनो में जैसे मानो आज संख्या लाखोकी है तो उन जैनो में वयावहारिक रूपसे और मंतव्यके रूपसे चारवाककी श्रेणी में अधिक होगा। और भी जितने धर्म मजहब हैं उनमें भी चारुवाक भरे पड़े हैं। जो आस्तिक नहीं है वे सब चारुवाक हैं। यहाँ आस्तिकका अर्थ है पदार्थ की जिसकी जैसी सत्ता है, अस्तित्व है उसे जो माने उसका नाम आस्तिक है, और जो पदार्थका अस्तित्व न मानें उनका नाम नास्तिक है। यह तो मनगढ़न्त परिभाषा है कि जो हमारे शास्त्रोको न माने सो नास्तिक है। जो हमारे वेदोको न माने सो नास्तिक, जो हमारे कुरानको न माने सो नास्तिक। हर एक कोई अपना अपना अर्थ लगा ले, कोई काफिर शब्द कहता है, कोई नास्तिक शब्द कहता है, कोई मिथ्यादृष्टि शब्द कहता है, ये सब एकार्थक शब्द हैं। नास्तिक का अर्थ यह नहीं है कि जो मेरे मतकी बात न माने सो नास्तिक, किन्तु नास्तिकका अर्थ है पदार्थकी जैसी सत्ता है, अस्तित्व है उस अस्तित्वका न होना माने सो नास्तिक है। नास्तिक शब्द में कहाँ लिखा है यह कि वेदको या अमुक मजहबको या इस पुराणको न माने सो नास्तिक उसमें दो ही तो शब्द हैं, न और अस्ति। जैसा जो अस्ति है उसे न माने सो नास्तिक।

**लौकात्यायकता** – चारुवाक सिद्धान्त में यह मत बना है कि आत्मा कुछ नहीं है। पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु के संयोग से एक नवीन शक्ति प्रकट हो जाती है जिसे लोग जीव कहते हैं। जैसे महुवा और कोदो आदिक जो मादक पदार्थ हैं उनका सम्पर्क हो, वे सड़े गले तो एक मादक शक्ति पैदा हो जाती है जिसके सेवनसे, नशाजनक उन्मादक पदार्थोके प्रयोग से मनुष्य पागल हो जाता है। तो जैसे शराब कोदो में नहीं भरी पड़ी है, कोदोको लोग खाते हैं, उसके चावल खाते हैं, रोटी खाते हैं? कोदोमे कहाँ शराब है पर कोदो और अन्य अन्य पदार्थो को मिला दिया जाय तो विधिपूर्वक उन पदार्थोका संयोग होनेसे शराब बन जाती है, ऐसे ही पृथ्वी में समझ नहीं है, जलमें चेतना नहीं है, अग्निमें नहीं है, वायु में नहीं है, पर इसका विधिपूर्वक संयोग हो जाय तो चेतना शक्ति हो जाती है ऐसा चारुवाकका सिद्धान्त है।

**चार्वाकसिद्धान्त में आत्मविनाशकी विधि** – चार्वाक मन्तव्य में यह धारणा जमी हुई है कि पृथ्वी आदि बिखरे कि चेतना मूलसे खतम हो गई। पृथ्वी पृथ्वी से मिल गयी, अग्नि

अग्निमें, जल जलमें, वायु वायुमें, चेतना समाप्त। बच्चे लोग जब अपनल धोती सुखाते हैं तो ऐसा बोलते हैं कि कुवांका पानी कुवांमें जाय, तलाका पानी तलामें जाय, ऐसा काम बच्चे लोग कलासहित करते हैं। सीधे काम करनेकी उनकी प्रकृति नहीं है। तो जैसे उन बच्चोका मंतव्य है कि हमारी धोती में तलाका पानी चिपका है जिससे गीली है तो तलाका पानी तलामें चला जाय ऐसे ही इस चारुवाक बच्चेका यह मंतव्य है कि इस मुझमें जो अंश जहाँका हो पृथ्वी तत्व, जल तत्व जो मुझमें शामिल हो वे तत्व बिखर जायेगे तो आत्मा मिट गया। कितने ही लोग मरना चाहते हैं और कितने ही लोग जीना चाहते हैं। कुछ सुख भरी जिन्दगी हो तो जीना अच्छा है और क्लेशकारी जिन्दगी हो तो मरना अच्छा है। उनका जीना भी मुफ्त है और मरनाभी मुफ्त है अर्थात् मरकर भी कुछ न रहेगा।

**अत्यय शब्दका भाव** – विनाशवादी लोग इस आत्माका अस्तित्व नहीं मानते हैं। वे जानते हैं कि गर्भ से लेकर मरेने तक ही यह जीव है आगे यह जीव नहीं है। इस मंतव्यका खण्डन करने के लिए इस श्लोकमें निरत्ययः शब्द दिया है। आत्माकी जानकारी के लिए यह 5 विशेषणोंका विवरण चल रहा है। जिससे तीसरा विशेषण है निरत्ययः। आत्मा अविनाशी है। अत्यय का अर्थ है अतिकान्त हो गया है अय मायने आना जहाँ याने अत्यय अभाव को कहते हैं। अत्यय न हुआ जहाँ उसका नाम है निरत्ययः। लोग निरत्ययः का अर्थ सीधा नष्ट हो जाना कह देते हैं। ठीक है, निरत्ययका अर्थ है नष्ट होना। किन्तु नष्ट होने में होता क्या है? तो नष्ट होनेका यह अत्यय जो नाम है उसमें यह मर्म पड़ा है कि इसमें अब परिणमन न होगा। जब तक परिणमन है तब तक पदार्थ है। जब परिणमन ही न हो तो पदार्थ ही कहाँ रहेगा? न हो परिणमन तो मूलसे नाश हो गया। यह कठोर शब्द है अत्यय। विनाश शब्दके जितने पर्यायवाची शब्द हैं उन सबमें यह बड़ा कठोर शब्द है।

**विलय शब्द का भाव** – विनाशका पर्यायवाची शब्द विलय है, किन्तु विलय शब्द कठोर नहीं है। पर्यायका विलय हो गया अर्थात् पर्याय विलीन हो गयी। पर्याय द्रव्यमें समा गयी— इसका कुछ सत्वरखा, कठोरता नहीं वर्ती, और होता भी यही है विनाशमें कि नवीन पर्याय द्रव्यमें विलीन हो जाती है। जैसे एक बुढ़िया रहटा कातती थी। उसका तकुवा टेढ़ा हो गया तो उसे लेकर वह लोहारके पास पहुँची, बोली कि इस तकुवाकी टेढ़ निकाल दोगे? बोला हाँ निकाल देंगे, दो टके (चार पैसे) लेंगे। ठीक है। लोहारने उसे सीधा कर दिया, टेढ़ निकल गयी। तो जब लोहार उसे देने लगा तो कहा कि अब लावो 2 टके पैसे। तो बुढ़िया बोली कि तुमने जो इस तकुवेकी टेढ़ निकाली है वह हमारे हाथमें दे दो तब अपने टके ले लो। अब लोहार बड़ा हैरान हुआ। सोचा कि कैसे इस तकुवेकी टेढ़को इसके हाथ में दे दे? हाँ वह ऐसा कर सकता है कि उस तकुवेको फिर टेढ़ा कर दे। सोचा कि इस तकुवेके टेढ़ा करनेमें हैरान भी हो मो भी यह हमारे दो टके न देगी। तो जैसे वहाँ यह

बतावो कि तकुवामें जो टेढ़ थी वह गयी कहाँ? उस तकुवेसे निकलकर कही बाहर गयी है क्या? अथवा वह टेढ़ तकुवामें अब भी धंसी हुई है क्या? न टेढ़ बाहर गयी है, न टेढ़ तकुवेमे घंसी है तो हुआ क्या उसका ? टेढ़ तकुवामें विलीन हो गयी। न यहाँ दूर होनेकी बात कही, न तकुवामें रहने की बात कही और दोनोकी बात कह दी। तो विनाशका अर्थ विलीन भी है पर यह कोमल प्रयोग है।

**आत्माकी निरत्ययरूपता** – यह चारुवाक विलय शब्द जैसे कोमल प्रयोगको भी राजी नहीं है, वह मानता है अत्यय। जहाँ अत्यय होता ही नहीं है, अयसे अतिक्रान्त हो गया, अयसे ही पर्यय शब्द बना है, पर्यय और पर्याय दोनोका एक ही अर्थ है। जैसे मनः पर्यय ज्ञान । तो कही इस परिणमनका नाम पर्यय भी रख दिया है। कही इसका नाम पर्याय भी रख दिया है। आचार्य कहते हैं कि आत्मा निरत्यय है, उसका अभाव नहीं होता है विनाश नहीं होता है। यह द्रव्यरूपसे नित्य है। कुछ भी परिणमन चलो, व्यक्त हो, अव्यक्त हो वह परिणमन जिस स्रोतभूत द्रव्यके आधारमें होता है वह द्रव्य शाश्वत रहता है। आत्मा द्रव्य रूपसे नित्य है। यद्यपि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे आत्मा प्रतिक्षण विनाशीक है, फिर भी द्रव्यदृष्टिसे देखो तो शाश्वत वहीका वही है। पर्यायदृष्टिसे देखने पर ही प्रतीत होगा कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें प्रतिसमय नवीन—नवीन परिणमन करता है, वह नीवन परिणमन पूर्व परिणमन से अत्यन्त विलक्षण नहीं है अथवा समान हो तो वहाँ यह परिचय नहीं हो पाता कि इस पदार्थ में कुछ बदल हुई।

**पर्यायदृष्टिमें क्षणिक रूपता**— परमात्माका केवलज्ञान जैसा शुद्ध परिणमन भी केवलज्ञान भी परमार्थतः प्रतिक्षण नवीन परिणमनसे रहता है, यद्यपि वह अत्यन्त समान है, जो पूर्वसमयमें विषय था केवलज्ञानका वहीका वही उतना का ही उतना अगले—अगले समयमें विषयरहता है फिर भीपरिणमन न्यारा न्यारा है। जैसे बिजलीका बल्ब 15 मिनट तक रोशनी करता रहा और पूरे पावर से बिजली है, उसमें कुछ कमीबेशी नहीं चल रही है, बिल्कुल एकसा प्रकाश है। इस बल्बने जो एक मिनट पहिले प्रकाशित किया था वही का वही प्रकाश दूसरे मिनट में भी प्रकाशित है फिर भी पहिले मिनटकी बिजली का पुरुषार्थ पहिले मिनट में था, दूसरे मिनट नया पुरुषार्थ है, नई शक्तिका परिणमन है, विषय भले ही समान है किन्तु परिणमनने वाला पदार्थ प्रतिक्षण नवीन—नवीन पर्यायसे परिणमता है। यो पहिले समयकी पर्याय अगले समय में भी नहीं रहती है, इतना क्षणिक है समस्त विश्व, लेकिन यह पर्यायदृष्टि से क्षणिक है।

**विभावपरिणतिकी क्षणिकरूपता** – संसारी जीवमें किसी वस्तुविषयक प्रेम हुआ, राग परिणमन हुआ तो जब तक वह राग अन्तर्मुहूर्त तक न चलता रहे, न बनता रहे तब तक हम आपके ज्ञानमें नहीं आ समता। हम जिस रागका प्रयोग करते हैं, जिस राग से प्रभावित होते हैं वह एक समय का राग नहीं है। कोई भी संसारी प्राणी एक समयके राग से

प्रभावित नहीं होता, किन्तु असंख्यात समय तक वह राग राग चलता रहे तब हम उपयोगमें, ग्रहणमें आता है और हम प्रभावित होते हैं, फिर भी उपयोग के विषयभूत उस रागपर्याय समूह में प्रतिक्षण जो राग परिणमन है वह प्रतिसमयका एका एक परिणमन है, किन्तु वह एक समय के परिणमन प्रभु के ज्ञान द्वारा जाने जा सकते हैं, क्योंकि उनका केवलज्ञानल निरपेक्ष असहाय होता हुआ प्रति समय की परिणतिको जाननेवाला है, पर छद्मस्थ जीव एक समय के रागपरिणमनको ग्रहण नहीं कर सकते। यो उपयोग द्वारा जान भी नहीं सकते। यद्यपि इस ही उपयोग से हम रागके एक समयकी चर्चा कर रहे हैं। समयवर्ती राग होता है, हम चर्चा कर रहे हैं, पर विशद परिचय नहीं हो सकता। हम छद्मस्थ जान लेते हैं युक्तियों से, आगमसे, पर जिसे अनुभवमें आना कहो, परिचयमें आना कहो वैसा एक समयका राग परिचयमें आ ही नहीं सकता, किन्तु होता है अवश्य प्रतिसमयमें परिणमन और एक समयका परिणमन दूसरे समय रहता नहीं है।

**परिणमनके आधारकी ध्रुवता** – प्रतिक्षण परिणामी क्षणिक है यह आत्मा और समस्त पदार्थ परन्तु परिणमन दृष्टि से यह क्षणिकता है। अत्यय नहीं हो गया उसका, पर्यायोका आना नहीं खत्म हुआ है, पर्यायें चलती ही रहेंगी। एक पर्याय मिटनेके बाद उसमें दूसरी पर्याय आती है, तो जिसमे पर्याय आयी वह पदार्थ शाश्वत है। यह आना जाना किस पर हुआ? वह पदार्थ ही कुछ न हो, मात्र परिणमन ही हो सब, तो सिद्धि नहीं हो सकती। क्षणिकवादी लोग परिणमनको ही सर्वस्व पदार्थ समझते हैं परन्तु परिणमनका आधार अवश्य हुआ करता है और वह अविनाशी है। इस प्रकार यह आत्मा किन्ही बाह्य चीजों से उत्पन्न नहीं हुआ है किन्तु यह अविनाशी ध्रुव पदार्थ है।

**आत्मा आनन्दमयता व ज्ञानस्वरूपता** – चौथे विशेषणमें कहा है कि आत्मा सुखमय है। कोई मंतव्य ऐसे है कि आत्मामे सुख नामका गुण ही नहीं मानते किन्तु कलंक मानते हैं, इसी प्रकार ज्ञान नामका गुण ही नहीं मानते किन्तु कलंक मानते हैं। इस सुख का और इस ज्ञानका जब विनाश होगा तभी मोक्ष मिल सकेगा, ऐसा मंतव्य है। वर्तमान परिचयकी दृष्टिसे उन्होंने इसकी शुद्धता मानी है, क्योंकि लौकिक सुख और लौकिक ज्ञान इन दोनोंसे ज्ञानी पुरुष परेशानी मानता है। ज्ञानी तो शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आनन्द को ही उपादेय मानता है। आत्माका ज्ञान और सुख दोनों ही स्वरूप हैं, इसी कारण यह आत्मा अनन्त सुखवान है और लोक अलक समस्त पदार्थोंका जाननहार है। इस प्रकार यह आत्मा जिसके ध्यानसे सहज आनन्द प्रकट होता है वह आत्मा स्वसम्बेदनगम्य है, शरीर मात्र है अर्थात् शरीर प्रमाण है, अविनाशी है, सुखस्वरूप है और समस्त लोकालोकका जाननहार है, ऐसे परमात्मतत्त्वमें जो आदर करता है वह विवेकी पुरुष है।

**संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।**

## आत्मानमात्मवानध्यायेदात्मनैवात्मनात्मनि ।।22।।

**आत्मा में अभेद षट्कारता**— आत्मा में अभेद षट्कारकता — पूर्व श्लोक में आत्मा का अस्तित्व प्रमाणसिद्ध बताया है। प्रमाणसिद्ध आत्माके परिज्ञान होने पर अब यह उत्सुकता होती है कि इस आत्माकी उपासना किस प्रकार करना चाहिए? उसके उपासनाकी विधि इस श्लोक में कही जा रही है। कल्याणार्थी आत्मा इन्द्रियके विषयोंको संयत करके रोक करके एकाग्रचित होकर अपने आत्मामें स्थित अपने आत्माको अपने आत्म उपयोग द्वारा ध्यान करे। आत्माके परिज्ञान में आत्मा ही तो कारण है और आत्मा ही आधार है। (1)

**कर्त्ता**—जानने वाला भी यह आत्मा स्वयं है (2) **कर्म**—कर्म जिसको जाना जा रहा है वह आत्मा भी स्वयं है। (3) **करण**—जिसके द्वारा जाना जा रहा है वह करण भी स्वयं है (4) **अधिकरण**—जिसमें जाना जा रहा है वह आधार भी स्वयं है। इसके चार कारको का वर्णन आया है। साथ ही दो कारको का भी मंतव्य गर्भित है कि (5) **अपादन**—जिससे जाना जा रहा है अर्थात् जानन किया, क्षणिक रूप में उपस्थित होकर ज्ञान ने जिस ध्रुव पदार्थ का संकेत किया वह अपादान भूत आत्मा भी स्वयं है (6) **सम्प्रदान**—जिसके लिए जाना जा रहा है वह प्रयोजन भी स्वयं है।

**अभेदषट्कारता पर एक दृष्टान्त** — जैसे कोई साँप लम्बा अपने शारको कुंडलिया बनाकर गोलमटोल करके बैठ जाय तो वहाँ कुंडलिया रूप कौन बनता है? साँप, और किसको कुंडली बनाता है? अपने को और किस चीज के द्वारा कुण्डली बनाता है? अपने आपके द्वारा, और कुण्डली बनाने का प्रयोजन क्या है, किसके लिए कुण्डलीरूप बनाता है? अपने आपके आराम के लिए, अपने आपकी वृत्ति के लिए कुण्डली बनाता है, और यह कुण्डली बनाने रूप परिणमन जो कि क्षणिक है अर्थात् अभी बनाया है, कुछ समय बाद मिटा भी देगा सो कुण्डलियाँ रूप परिणमन किस पदार्थ से बनाता है? उस परिणति में ध्रुव पदार्थ क्या है? तो दृष्टान्त में वह सर्प स्वयं ही है और यह कुण्डली बनी किसमें है? उस साँप में ही है। जैसे वहाँ अभेदकारक स्पष्ट समझ में आता है इससे भी अधिक स्पष्ट ज्ञानियों की दृष्टि में आत्मा के अभेदकारकत्वपना अनुभव में आता है। यह आता स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष अनुभव करने के योग्य है।

**स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के उद्योग के उपाय** — वह स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष कैसे बने, उसका उपाय है इस सहज आत्मस्वरूप की एकाग्रता करना। इस आत्मातत्व पर एकाग्ररूप से बना हुआ उपयोग आत्मा का स्वसम्वेदना करा देता है। चित्त की एकाग्रता के उपाय है कषायो की शान्ति करना। जब तक कषाये शान्त नहीं होती है चित्त एकाग्र नहीं होता है। कषायो के शांत किए बिना लौकिक पदार्थों के उपयोग में भी एकाग्रता नहीं रहती, फिर शान्त स्वभावी निज आत्मतत्व के उपयोग में स्थिरता तो कषायो के शांत किए बिना असम्भव है,



अतः एकाग्रता करने के लिए कषायों की शान्ति आवश्यक है। कषाय दब जाय, शान्त हो जाय, साथ ही कषाय शग्न के लिए इन्द्रिय का दमन आवश्यक है। ये इन्द्रियाँ उद्वण्ड होकर अपने विषयो में प्रवृत्त हो रही हैं अथवा यह उपयोग इन्द्रिय के विषयो में आसक्त हो रहा है, उनसे यह सुख मानता है और उसमें ही हित समझता है, ऐसे इन्द्रिय विषय की प्रवृत्ति में चित्त का अस्थिर होना प्राकृतिक बात है। और कषाय बढ़ते रहना भी प्राकृतिक है इसलिए इन्द्रिय के दमन की भी प्रथम आवश्यकता है। जो जीव इन्द्रिय का दमन नहीं कर सकता वह चित्त को एकाग्र नहीं बना सकता। इसलिए इन्द्रिय के विषयो का निरोध भी आवश्यक है। जब इन्द्रिय के विषयो का निरोध हो जाय तो आत्मा में समता परिणाम जाग्रत होता है। इस समता परिणाम का ही नाम आत्मबल है। जहाँ यह आत्मबल प्रकट हुआ है वहाँ उपयोग स्थिर है, यो उपयोग को एकाग्र करके स्वसम्वेदन प्रत्यय के द्वारा यह आत्मा अनुभव में आता है।

**आत्मा में स्वपरप्रकाशकता का स्वभाव** – इस आत्मा में स्वपरप्रकाशकता का स्वभाव पड़ा हुआ है। जैसे दीपक स्वपर प्रकाशक है ऐसे ही आत्मा स्वपर का जाननहार है। जैसे कमरे में दीपक जलता हो तो कोई यह नहीं कहता कि दीपक को ढूँढने के लिए मुझे दीपक दो या बैटरी दो, ऐसे ही यह आत्मा परपदार्थों का भी प्रकाशक है और साथ ही अपने आपका भी प्रकाशक है। इस कारण आत्मा के जानने के लिए भी अन्य पदार्थ की, अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं रहती है। तब जो पुरुष आत्मा का ज्ञान चाहते हैं उन्हें प्रथम तो यह विश्वास करना चाहिए कि मैं अपने आत्मा का ज्ञान बड़ी सुगमता से कर सकता हूँ क्योंकि आत्मा ही तो स्वयं ज्ञानमय है और उस ज्ञानमय स्वरूप से ही इस ज्ञानमय आत्मा को जानना है। इस कारण मैं आत्मा का सुगमतया ज्ञान कर सकता हूँ।

**आत्म परिज्ञान व धर्मपालन में पर की निरपेक्षता** – भैया ! आत्मा के परिज्ञान के लिए अन्य पदार्थों की चिन्ता नहीं करनी है। मैं कैसे आत्मा का ज्ञान करूँ? मेरे पास इतना धन नहीं है कि आत्मा के ज्ञान की बात बनाऊँ। आत्मा के ज्ञान में धन की आवश्यकता नहीं है। जैसे कुछ लोग धर्म धारण के प्रसंग में कहने लगते हैं कि हमारे धन की स्थिति कुछ अच्छी होती तो हम जरूर धर्म पालते, प्रतिमा पालते, पर धर्म के धारण में आर्थिक स्थिति की पराधीनता है कहाँ? धर्म किसे कहते हैं, वह धर्म तो समस्त परपदार्थों से विविक्त होकर ही प्रकट होता है। जैसे लोग कह देते हैं कि शुद्ध खान पान के लिए कुछ विशेष पैसे की जरूरत पड़ती है। शुद्ध घी बनाना है, शुद्ध आटा तैयार करना है तो कुछ धन ज्यादा लगेगा तब शुद्ध भोजन किया जायगा और धर्म पालन होगा, ऐसा सोचते हैं लोग, परन्तु पदार्थों के शुद्ध बनाने में कुछ अधिक व्यय नहीं होता। खाना तो उसे था ही, खाता वह अशुद्ध रीति से, पर शुद्ध रीति के भोजन में कुछ धन की सापेक्षता विशेष नहीं हुई है, भोजनमात्र में जो सापेक्षता है उतने ही व्यय की अपेक्षा शुद्ध भोजन में है, परिश्रम की थोड़ी

आवश्यकता हुई है। धर्म पालन धन के आधीन नहीं है। फिर अध्यात्म धर्म पालन में जो वास्तविक धर्मपालन है उसमें तो धन की रंच भी आवश्यकता नहीं होती है।

**आत्मज्ञान में परद्रव्य की अटक का अभाव** – जो लखपित करोड़पति पुरुष है वे आत्मा का ज्ञान जल्दी कर लें और गरीब न कर पाये ऐसी उलझन आत्मा के ज्ञान में नहीं है। बल्कि अमीर पुरुष, लखपति करोड़पति पुरुष प्रायः धन की और आकृष्ट होगा, धन की तृष्णा में रत रहेगा, उसे आत्मज्ञान होना कठिन है, और कष्ट में, दरिद्रता में पड़ा हुआ पुरुष चूँकि अपने चित्त की लम्बी छलांग नहीं मारता है अतः अपने आपको अपने आपके द्वारा अपने आप में अपने आपके सहज स्वरूप के रूप में ध्यान करते रहना चाहिए। बाह्यपदार्थों का विकल्प टूटे तो स्वरसतः स्वयं ही अपने आत्मा का प्रतिबोध होता है।

**आत्म परिज्ञानार्थ स्वरूप प्रतिबोध की आवश्यकता**— यह आत्मपरिज्ञान बने इसके लिए पदार्थ विषयक स्वरूप का स्पष्ट प्रतिबोध होना चाहिए। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य, गुण, पर्यायस्वरूप है। उदाहरण में जैसे यह मैं आत्मा आत्मद्रव्यत्व, आत्मशक्ति और आत्म परिणमन से युक्त हूँ।

**आत्मा में गुण व पर्याय के परिज्ञान कीक पद्धति** – आत्मपरिणमन का परिज्ञान बहुत सुगम है क्योंकि वह स्पष्ट रूप है। रागद्वेषादि हो रहे हो अथवा वीतरागता बन रही हो वह सब आत्मा का परिणमन है। ये समस्त आत्मा के परिणमन अपनी शक्ति के आधार से प्रकट होते हैं, अर्थात् जितने प्रकार के परिणमन हैं उतने प्रकार की शक्ति पदार्थ में जानना चाहिए। कोई भी परिणमन उस परिणमन उस परिणमन की शक्ति से ही तो प्रकट हुआ है। जैसे आत्मा में जानना परिणमन होता है तो जानन की शक्ति है तभी जानन परिणमन होता है, और यह जानना परिणमन जानन शक्ति का व्यक्त रूप है। यह विशिष्ट जानना नष्ट हो जायगा फिर और कुछ जानना बनेगा, वह भी नष्ट होगा। अन्य कुछ जानन बनेगा, इस प्रकार जानन परिणमन की संतति चलती जाती है। वह संतति किसमें बनी है? जिसमें बनी है वह है ज्ञान शक्ति, ज्ञानस्वभाव, ज्ञानगुण। तो जैसे जानन की परिणति का आधारभूत ज्ञानगुण है ऐसे ही आनन्द की परिणति का आधारभूत आनन्दगुण है। किसी भी प्रकार के विश्वास का आधारभूत श्रद्धा ज्ञानगुण है, क्रोधादिक कषायों का अथवा शान्त परिणमन का आधारभूत चारित्र गुण है। इस प्रकार जितने भी प्रकार के परिणमन पाये जाते हैं उतनी ही आत्मा में शक्तियाँ हैं, उनका ही नाम गुण है।

**आत्मपदार्थ क द्रव्यरूपता** – इन गुण और पर्यायों को आधारभूत द्रव्यपना भी इस आत्मा में मौजूद है, जो गुण पर्यायवान हो वह द्रव्य है, जो द्रव्य की शक्ति है वह गुण है और उन गुणों का जो व्यक्त रूप है वह पर्याय है। यों आत्मपदार्थ द्रव्यत्व, गुण और पर्याय से युक्त है।

**आत्मज्ञान में स्वसंवेदन की विधि** – प्रत्येक पदार्थ अपने आपके ही द्रव्य गुण पर्याय से है, किसी अन्य के द्रव्य गुण पर्याय से नहीं है। अब यहाँ अन्य द्रव्य, अन्य गुण, अन्य पर्याय का विकल्प तोड़कर केवल आत्मद्रव्य, आत्मगुण और आत्मपर्याय का ही उपयोग रखे तो चूंकि वही ज्ञाता, वही ज्ञेय और वही ज्ञान भी बन जाता है तो वहाँ स्वसंवेदन प्रकट होता है और स्वसंवेदन में यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि यह मैं आत्मा हूँ, ऐसे आत्मपदार्थ के उपयोग में चित्त की एकाग्रता होती है।

**चित्त की एकाग्रता में प्रगति**— चित्त की एकाग्रता होने से इन्द्रिय का दमन होता है। जो लोग बेकार रहते हैं, जिन्हे कोई काम काज नहीं है, न कोई अपूर्व—अपूर्व कार्य करने की धुन है ऐसे निठल्ले पुरुष इन्द्रिय के विषयो का शिकार बने रहते हैं। करे क्या वे? उपयोग यदि शुद्ध तत्व में नहीं रहता है तो यह बाहर के विषय में अधिक बढ़ेगा। इन्द्रिय का दमन परमार्थ तत्व की एकाग्रता बिना वास्तविक पद्धति में नहीं हो सकता है। जब इन्द्रिय का दमन न होगा, चित्त की एकाग्रता न होगी तो मन विक्षिप्त रहा, यत्र तत्र डोलने वाला रहा तो मन की इस विक्षिप्तता के होने पर स्वानुभव हो नहीं सकता। अतः आत्मा के अनुभव के लिए श्रुतज्ञान का आश्रय लेना परम आवश्यक है। वस्तु के सही स्वरूप का परिज्ञान करना अत्यन्त आवश्यक है।

**शुभ उपयोग का प्रगति में सहयोग** – भैया ! पहिले श्रुतज्ञान का आलम्बन करके अर्थात् वस्तुस्वरूप की विद्या सीखकर आत्मा को जाने। पीछे उस आत्मा के जानने की निरन्तरता से आत्मा का अनुभव करे। जो पुरुष आत्मा का द्रव्यरूप से, गुण रूप से, पर्यायरूप से ज्ञान नहीं करते हैं वे आत्मस्वभाव को नहीं जान समझते हैं। इस कारण ये शुभोपयोग हमारे पूर्वापर अथवा एक साथ चलते रहना चाहिए। इन्द्रिय का दमन करे, पंचेन्द्रिय के विषयो से विरक्त रहे और क्रोधादिक कषायो को शान्त करे, श्रुतज्ञान का, तत्व ज्ञान का अभ्यास बनाए रहे, इन सब पुरुषार्थों के प्रताप से एक परम आनन्द की छटा प्रकट होगी। ज्ञानस्वरूप यह मैं आत्मा अपने आपके द्वारा ज्ञान में आऊँगा। आत्मा की इस तरह की अभेद उपासना से अनुभूति होती है।

**आत्मकल्याण के लिये आत्माश्रय की साधना** – आत्मा का परिज्ञान आत्मा के ही द्वारा होता है। ऐसा निर्णय करके हे कल्याणार्थी पुरुषों, आत्मज्ञान के लिए अन्य चिन्ताओ को त्याग दो और आत्मज्ञान में ही सत्य सहज परम आनन्द है ऐसा जानकर उस शुद्ध उत्कृष्ट आनन्द की प्राप्ति के लिए परपदार्थों की चिन्ता का त्याग कर दो। ज्ञान और आनन्द आत्मा में सहज स्वयं ही प्रकट होता है। जितना हम ज्ञान और आनन्द के विकास के लिए परपदार्थों का आश्रय लेते हैं और ऐसी दृष्टि बनाते हैं कि मुझे अमुक पदार्थ से ही ज्ञान हुआ है, अमुक पदार्थ से ही आनन्द मिला है, इस विकल्प में तो ज्ञान और आनन्द का घात हो रहा है। एक प्रबल साहस बनाएं और किसी क्षण समस्त परपदार्थों का विकल्प

छोड़कर परम विश्राम से अपने आपका सहज प्रतिभास हो तो ऐसे आत्मानुभव में जो आनन्द प्रकट होता है उस आनन्द में ही यह सामर्थ्य है कि भव भव के बाँधे हुए कर्मजालों को यह दूर कर सकता है। यों आत्मा की उपासना का अभेदरूप उपाय बताया गया है।

**अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।**

**ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥23॥**

**ज्ञान और अज्ञान के आश्रय का परिणाम** – अज्ञानी की उपासना से अज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञानी की उपासना से ज्ञान की प्राप्ति होती है, क्योंकि संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो है वह तो दे सकेगा। अज्ञानी मोही पुरुषों की संगति करके तो आकुलता, विह्वलता, ममता, मूढ़ता आदि ये सब ऐब प्राप्त होंगे और कोई ज्ञानी की संगति करे तो उसमें शुद्ध बुद्धि, शुद्ध आचार विचार और शान्ति प्रकट होगी। परमार्थ से कोई पुरुष किसी दूसरे का आश्रय नहीं करता है। प्रत्येक प्राणी अपने आपका ही सहारा लिया करता है। जिस प्राणी का चित्त पर की और है तो उसके उपयोग में केवल परपदार्थ विषय है क्योंकि पर से सहारा लेने की कल्पना की। परन्तु कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का सहारा पा ही नहीं सकता है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावरूप है।

**ज्ञान और अज्ञान के आश्रय का विवरण** – जो पुरुष ज्ञानियों की संगति करता है उसके उपचार से तो ज्ञानियों की संगति की, पर परमार्थ से उसने अपने ज्ञान की संगति की। अपने ज्ञान का ही सहारा लिया, यह बात है। अपने को ज्ञानस्वरूप में देखे तो ज्ञान मिलेगा और अपने को अज्ञानस्वरूप निरखें तो अज्ञान मिलेगा। मैं मनुष्य हूँ, कुटुम्ब वाला हूँ, धनवाला हूँ, इज्जत वाला हूँ साधु हूँ गृहस्थ हूँ आदि रूप से निरखे तो अज्ञान रूप में देखा क्योंकि जितनी बातें अभी कही गयी हैं उनमें एक भी चीज इस आत्मा का स्वरूप नहीं है। जो आत्मा का स्वरूप नहीं है उस रूप अपने आपको देखे तो उससे अज्ञान ही प्रकट होगा। यदि अपने को शुद्ध ज्ञान ज्योतिमात्र निरखे, इसका किसी अन्य से सम्बंध नहीं है, यह मात्र केवल निज ज्ञानस्वरूप है। सबसे न्यारा स्वतंत्र, परिपूर्ण जैसा स्वयं है तैसा अपने को देखें तो उससे ज्ञान प्रकट होगा।

**कल्पनाजाल का क्लेश** – भैया! जितने भी जीव को समागम मिले है वे समस्त समागम मितेगें, झक मारकर छोड़ने पड़ेगे, लेकिन पदार्थ पहिले से ही छूटे हुए हैं। मैं सबसे न्यारा हूँ, ऐसा ज्ञान का पुरुषार्थ करे और ममता का परिहार कर दे तो उसका भला है। और कोई न कर सके ऐसा तो संसार में वही रूलेगा। जीव पर सकंट केवल मोह का है दूसरा कोई संकट नहीं है लेकिन ऐसा ही संस्कार बना है कि जिसके कारण जितना जो कुछ मिला है और जितना मिलने की आशा है उसमें कोई बाधा पड़ जाय तो बड़ा क्लेश मानता है। किसी व्यापार में यह ध्यान हो गया कि इसमें तो इतने का टोटा हो गया तो

यह पछतावा करता है। सोचता है कि इसे कल ही बेच देते तो ठीक था। अब मैं इतने घाटे में हो गया हूँ। अरे चीज वही की वही छ्ज़र में है, घाटा तो कल्पनाका है।

**उदारता का अवसर** – कल्पना करो कि जितनी जिसके पास जायदाद है उससे चौथाई ही होती तो क्या वे गुजारा न करते? मिल गयी है अब सुकृत के उदयवश तो उसे यो जानो कि यह उपकार के लिए मिली है। भोग विषय मौज के लिए नहीं है। उस सम्पत्ति का उपयोग अपने विषयो के खातिर न करे। अपना जीवन तो वैसे ही रखे, जैसे कि अन्य गरीब लोग रखते है और दिल में उदारता बरते तो उसे कभी बेचैनी का प्रसंग न आयगा। पहिले लोग ऐसे ही उदार होते थे। महिलाओ में भी किसी घर में यदि कोई बहू विधवा हो जाय तो उस घर की जेठानी, सास, बड़े लोग सभी सावित्क वृत्ति से रहते थे। वे महिलाएँ सोचती थी कि यदि हम लोग श्रृंगार करेंगी तो बहू के दिल में धक्का लगेगा। इतनी उदारता उनमें प्रकृत्या होती थी। और भी इसी प्रकार की गृह सम्बंधी उदारताएँ होती थी।

**उदारता की एक घटित पद्धति** – पूर्वजो में सामाजिक उदारताएँ भी अपूर्व ढंग की थी। समाज का कोई काम बनाना हो तो अपना अपयश करके भी उस काम को बनाने की घुन रखते थे। एक किसी नगर का जिक्र है कि पंचायत के प्रमुख ने एक नियम बना दिया कि मंदिर में कोई रेशम की साड़ी पहिनकर न आये। तो यह बात चले कैसे? जो रिवाज चला आ रहा था वह मिटे कैसे? उसमें कोई क्रांति वाली घटना जब तक सामने न आये तो असर नहीं पड़ता, सो उस प्रमुख ने अनी स्त्री से कह दिया कि कल तुम रेशम की साड़ी पहिनकर खूब सज-धजकर जाना मंदिर। वह गयी मंदिर, और फिर प्रमुख ने उसे ऐसा ललकारा कि यह कौन डाइन, वेश्या इस मंदिर में रेशम की साड़ी पहिनकर आयी? ऐसे शब्द सुनकर मालिन बोली, हजूर आपके ही घर से है ऐसा न कहिये। तब प्रमुख ने कहा हम कुछ नहीं जानते, 50) रू0 जुर्माना। तब से फिर समाज पर प्रभाव पड़ा। वह रेशम की साड़ी पहिनकर आने वाली बात बंद हो गयी। तो उदारता की बात पहिले इस प्रकार विचित्र पद्धति की थी।

**पारमार्थिक उदारता** – अपने को ज्ञानस्वरूप समझना, अकिञ्चन मानना, केवल स्वरूपसत्ता मात्र अपने को निरखना एक भी पैसे का अपने को धनी न समझना, एक अणु भी मेरा नहीं है ऐसी अपनी बुद्धि बनाना इससे बढ़कर उदारता क्या होगी? सम्यग्ज्ञान में सर्वोत्कृष्ट उदारता भरी हुई है, मगर कहने सुनने मात्र का ही सम्यग्ज्ञान है। सर्व प्रभावों से रहित ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूँ, अकेला हूँ, सबसे न्यारा हूँ, मेरे करने से किसी दूसरे का कुछ होता नहीं, अत्यन्त स्वतंत्र मैं आत्मा हूँ – ऐसा केवल अपने अद्वैत आत्मा का अनुराग हो तो वह पुरुष वास्तव में अमीर है, सुखी है, पवित्र है, विजयी है, और जो बाहरी पदार्थों में आसक्ति लगाए हुए है, कितना ही धन का खर्च है, कितने ही झंझट भी सह रहे है वे दीन

है। मृत्यु के दिन निकट आ रहे हैं प्रथम तो किसी की भी मृत्यु का पता नहीं है, पर आयु अधिक हो जाय तो उसके बाद और क्या होगा? बचपन के बाद जवानी और जवानी के बाद बुढ़ापा और बुढ़ापा के बाद क्या फिर जवानी आयगी? नहीं। मरण होगा, फिर नया जन्म होगा। तो यह समय प्रवाह से बह रहा है और हम ममता में कुछ अन्तर न डाले, ढील न करे तो सोच लीजिये क्या गति होगी?

**धर्म पालन का अन्तरंग आशय से सम्बन्ध** – हमारा धर्म पालन ममता के पोषण के लिए ही हो, हम दर्शन करे तो मेरा सब कुछ मौज बना रहे, इसके लिए हो, कुछ भी हम धर्म पालन करे, विधान करे, पूजन करे, यज्ञ करे, समारोह करे, कुटुम्ब परिवार की मौज के लिए करे, कोई रोग न आए, कोई उपद्रव न आये, वही धन नष्ट न हो जाय, टोटा न पड़ जाय, धन बढ़े मुकदमें में विजय हो, इन सब आशाओं को लेकर जहाँ धर्मपालन ही रहा हो वहाँ क्या वह धर्म है? वह धर्म नहीं है। जो धर्म के नामपर आत्मा और परमात्मा के निकट भी नहीं जाते हैं वे भी तो आज लखपति करोड़पति बने हुए हैं। यह धन का मिलना वर्तमान में मंदिर जाने, हाथ जोड़ने के अधीन नहीं है, यह तो पूर्व समय में जो त्यागवृत्ति की, उदारता की, दान किया, पुण्य किया, सेवाएँ की, उनका फल है जो आज पा रहे हैं। धर्म—पालन परमार्थतः यदि हो जाय तो धर्म से अवश्य ही शान्ति और संतीष मिलेगा।

**संगतिविवेक** – भैया ! अपने आपको जो अज्ञानरूप से मान रहा है, मैं क्रोधी हूँ, मानी हूँ, अमुक पोजीशन का हूँ, अमुक बिरादरी का हूँ, अमुक सम्प्रदाय का हूँ, ऐसी प्रतिष्ठा वाला हूँ, इस प्रकार इन सब रूपों में अपने आपको जो निहारता है वह अज्ञानी है। जो अज्ञानी की सेवा करेगा उसके अज्ञान ही बढ़ेगा और जो ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व की सेवा करेगा उसके ज्ञान बढ़ेगा। लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि धनी की सेवा कोई करता है तो धन मिल जायगा, विद्वान की कोई सेवा करता है तो विद्या मिल जायगी। इसी प्रकार कोई अज्ञानी गुरुओं की सेवा करता है तो उसे अज्ञान मिलेगा। अफीम, भांग, चर्स फूंकन वाले साधुओं के चरणों में भी बहुत से भंगेड़ी, गंजेड़ी पड़े रहा करते हैं, और उनकी सेवा यही है कि चिलम भर लावो, फुक लगावो, भगवान का नाम लेकर अब अफीम चढ़ावो। दूसरों को उनसे मिल क्या जाता है? क्या वहाँ किसी तत्त्व के दर्शन हो पाते हैं? अज्ञानियों की संगति में अज्ञान ही मिलेगा और ज्ञानी साधु संतों की सेवा में सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होगी। इस कारण जो पुरुष अपना कल्याण चाहते हैं उनका यह कर्तव्य है कि जो विवेकी है, ज्ञानी है, जो सांसारिक माया से परे है, ज्ञानध्यान तप में लवलीन है, जिन्हे वस्तुस्वरूप का भला बोध है जिनमें परपदार्थों की परिणति से रागद्वेष उत्पन्न नहीं होते, जो सबको समान दृष्टि से निरखते हैं ऐसे विवेकी तप से ज्ञानी आत्माओं की उपासना करे, पूजा सत्कार, विनय करे और उनकी उपासना करके ज्ञान का लाभ ले।

**ज्ञान का तात्विक फल** – परमार्थतः तो यह आत्मा ही स्वयं शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। इस ज्ञान की उपासना से ज्ञान का ही फल मिला करता है। जो ज्ञान अनश्वर है, सदा रहने वाला है ऐसे ज्ञान की सेवा से फल ज्ञान का ही मिलता है। लेकिन यह मोह का बड़ा विचित्र संताप है कि मोहीजन इस ज्ञान की उपासना से भी कुछ और चीज ढूँढना चाहते हैं। ज्ञानपुज परमात्मा की पूजा से ज्ञान का ही प्रकाश मिलेगा किन्तु यह मोही प्राणी ज्ञानपुंज भगवान की पूजा में भी अन्य कुछ बात ढूँढना चाहता है। यह मोह का संताप है। ज्ञान की उपासना से तो उत्कृष्ट अविनाशी सम्यग्ज्ञान की ही प्राप्ति होती है, इसलिए ज्ञान प्राप्ति के लिए ज्ञानी की उपासना करे। ज्ञानी की उपासना करते हुए मैं भी जिसके मोह की पुट लगी रहती है वह क्या अपना प्रयोजन सिद्ध कर सकेगा? हाँ विवेकी के जो ज्ञानी पुरुषो का गुणानुराग है वह गुणों का अनुराग है, मोह का अनुराग नहीं है। वह तो आदर के योग्य है, परन्तु धन वैभव की उपासना तो केवल मोहवश ही की जाती है वह अज्ञानरूप है।

**ज्ञानी व अज्ञानी के संग से लाभ हानि का कारण** – अज्ञानी की उपासना से संसार का संकट दूर न होगा, इसलिए ज्ञानियों की तो संगति करें और अज्ञानियों की संगति से दूर हो। कोई अज्ञानी पुरुष चमत्कार वाला भी हो, लौकिक इज्जत भी बहुत बढ़ गई हो, फिर भी अज्ञान का आश्रय लेना विपदा के लिए ही है। आज कुछ चाहे भले ही रूच रहा हो, लेकिन अज्ञानी का संग ऐसा खोटा सस्कार बना देगा कि वह अज्ञान मार्ग में लग जायगा। ज्ञानी के संग में यद्यपि ज्ञानी की ओर से कुछ आकर्षण नहीं रहता क्योंकि ज्ञानी निर्वाञ्छक है, अंतस्तत्व का ज्ञाता है, भोगो से उदासीन है, उसे क्या पड़ी है जो दूसरो को वश में करे या दूसरो का आकर्षण हो ऐसा कोई विधि रागपूर्वक करे। ज्ञानी पुरुष के प्रति जिनका आकर्षण है वे पुरुष स्वयं शुद्ध हैं। जो स्वयं अपवित्र होंगे वे पुरुष ज्ञानियों की संगति में कैसे पहुँचेंगे? जो स्वयं पवित्र होंगे सो ही ज्ञानी की संगति में पहुँचेंगे। अपवित्र पापी व्यसनी पुरुषो को ज्ञानी का समागम दुर्लभ है।

**अज्ञानी के धर्मसमागम की अरुचिका भाव** – एक बात प्रसिद्ध है कि भगवान के समवशरण में मिथ्यादृष्टि जीव नहीं पहुँचते। उसका भाव यही है कि जो गृहीत मिथ्यादृष्टि है, अपने मिथ्यात्व के मद में उद्वण्ड है उनके यह भाव ही नहीं होता है कि वे प्रभु के समवशरण में पहुँचें। और यदि कदाचित् उद्वण्डता मचाने के ध्येय से समवशरण में जाते हैं तो वहाँ के द्वारपाल रक्षक देव उन्हें पीटकर निकाल देते हैं। सर्वप्रथम तो यह बात है कि उनके यह भाव ही नहीं होता कि हम धर्मस्थानो में पहुँचें। तपस्वी ऋषि संतो की यह अनुभवपूर्ण वाणी जो ग्रन्थो में निबद्ध है उसको सुनने का पापी जीवों का भाव और अनुराग ही नहीं हो पाता क्योंकि वे पाप-वासना में उपयोग दे या धर्म में। जिसके पास जो है वह उसका ही स्वाद लेता है। अज्ञानी जन अज्ञान का ही स्वाद लिया करते हैं।

**ज्ञान में तृप्ति** – ज्ञानी जन ज्ञानामृत के पान से तृप्त रहा करते हैं क्योंकि ज्ञानी पुरुषो को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करने का राग लगा है। यह अभिलाषा उनकी जग रही है। मैं ज्ञानार्जन करूँ और शुद्ध ज्ञान में रत रहूँ। ऐसी इच्छा होती है और साथ ही यह जानते हैं कि इसकी पूर्ति करके इस इच्छा का भी विनाश करूँ। इस इच्छा को वे उपादेय नहीं मानते हैं, पर चरित्र मोह का उदय है ऐसी इच्छा हुआ ही करती है। लेकिन यह इच्छा अच्छे भाव को पोषने वाली है।

**कर्तव्यस्मरण** – ज्ञानी अपने आत्महितकी साधनामें जागरूक रहता है। जो आत्महित चाहने वाले पुरुष है उनका कर्तव्य है कि ये ज्ञानी, विवेकी, अन्तरात्मा, सम्यग्दृष्टि, संसार शरीर और भोगोसे विरक्त संतोकी उपासना करें, खूब दृष्टि पसारकर निहार लो। जो पुरुष ठलुवोंकी गोष्ठी रहा करते हैं वे कौनसा लाभ लूट लेते हैं? रात दिनकी चर्चा उनकी जो हो रही है उसपर ही ध्यान देकर देख लो। ये जीवनके क्षण निकल जायेगे। जो निकल गये वे फिर वापिस तो आते नहीं। निकल गए सो निकल गय। पीछे पछतावा होता है कि मेरी जिन्दगी यो ही निकल गयी। यदि मे ज्ञानार्जन धर्मपालनमें अपना समय लगाता तो मेरा जीवन सफल था। ऐसे पछतावाका मौका ही क्यों दिया जाय? क्यों न अपना पुरुषार्थ अभी भी से धर्मपालन और ज्ञानार्जन में रखा जाए? जो शुद्ध तत्व है उसकी उपासनासे आत्मा को लाभ होता है। जो अशुद्ध अपवित्र आत्मा है, अशुद्ध भाव है, परभाव है उनकी उपासना से आत्माका विनाश होता है, बरबादी होती है।

**परमार्थ पुरुषार्थ** – भैया सब दृश्य रहना तो कुछ है ही नहीं। यदि भली प्रकार से पहिलेसे ही अक्ल त्यागकर सर्वसे विविक्त कमलकी भाँति अपने आत्माको निरखें तो इसमें गुणोका विकास होगा और कर्मबन्धन शिथिल हो जायेगे। इसके लिए ज्ञानबल और साहकी आवश्यकता है। यह अपनी ही चर्चा है, अपनी ही बात है, अपने मे ही करना है, अपने को ही लाभ है। मानो आज मनुष्य न हुए होते, जिसे हम कीड़ा मकौड़ा निरख रहे हैं ऐसी ही वृत्ति होती, क्या हुई न थी कभी। आज कीड़ा मकौड़ा ही होते तो कहाँ यह ठाठ, कहाँ ये दो चार मंजिले मकान, कहाँ ये धन वैभव पास में होते जिनमे मोह करके आज बेचैनी मानी जा रही है? इस वैभव से यह आत्मा अब भी अघूरा है, केवल अपने ज्ञान और कल्पनामं बसा हुआ है। है आत्मन् सुन ! तू ऐसे सर्व विशुद्ध अपने आत्माके स्वरूपका आश्रय ले तो वहाँ संकट नहीं रह सकता है। यो अपने ज्ञानका आश्रय ले। जो अपना स्वभाव है, स्वरूप है ऐसे ज्ञानानंद स्वरूपकी उपासना करे। मैं सबसे विविक्त ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा विश्वास बनाये तो संसारके समस्त संकट समाप्त हो सकते हैं।

**परीषहाद्यविज्ञानानादास्त्रवस्य निरोधिनी ।**

**जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ।।**



**अध्यात्मयोग में उपसर्गादिकका अवेदन** – जब योगी पुरुष अध्यात्मयोगमें लीन हो जात है तो उसपर मनुष्य तिर्यञ्च आदिक किन्ही जीवोके द्वारा कोई उपसर्ग आये तो उस उपसर्गका भी पता नहीं रहता है। अध्यात्मयोगमें लीन होने पर ज्ञानियोको न तो कष्टका पता रहता है, न व्याधियोंका, न किन्ही उपसर्गोका पता रहता है। वहाँ तो स्वरूपमें निम्न अध्यात्मयोगी के समस्त कर्मोका आस्रव निरोध करनेवाली निर्जरा शीघ्र हो जाती है।

**क्लेशानुभवका कारण** – किसीको क्लेश तब तक अनुभव में आता है जब तक उसका चित्त क्लेशरहित निष्कषाय आत्मस्वरूपमें लीन नहीं होता है। जिसका चित्त बाह्य स्त्री पुरुषों व्यामोहमें है उसे अनेक कष्ट लगेंगे। यह मोही जीव जिनके कारण क्लेश भोगता जाता उनमें ही अपना मोह बनाये रहता है। जिसने आत्माके स्वरूप से चिगकर बाह्य पदार्थों में अपने चित्त को फंसाया कि उसे अनेक कष्टोका अनुभव होगा ही।

**धर्मसाधन का उद्यम** – धर्मकी यह साधना बहुत बड़ी साधना है। सामायिक करते समय या अन्य किसी समय अपने उपयोगको ऐसा शान्त विश्रान्त बनाये कि तत्त्वज्ञानके बल से समस्त बाह्य पदार्थों आत्मा से भिन्न जानकर और निज ज्ञानानन्दस्वरूप को निरखकर समस्त बाह्य पदार्थों को उपयोग में न आने दे ऐसी हिम्मत तो अवश्य बनायें कभी। अनेक काम रोज किए जा रहे हैं। यदि 5 मिनट को अपना चित्त अपनी अपूर्व दुनियामें ले जावें तो कौनसा घाटा पड़ता है? न आपका यह घर गिरा जाता है, न किसी का वियोग हुआ जाता है। सबका सब वहींका वहीं पड़ा है। दो चार मिनटको यदि निर्मोहताका यत्न किया जाय तो कुछ हानि होती है क्या? किसी भी क्षण अपने आपमें बसे हुए परमात्मस्वरूपका अनुभूति हो जाए और सत्य आनन्द प्राप्त हो जाय तो यह जीव अनन्तकाल तकके लिए संकटोसे छुटकारा पाने का उपाय कर लेगा।

**मोही की आसक्ति** – भैया! कितने ही भवों में परिवार मिला, पर उस परिवार से कुछ पूरा पड़ा है क्या? कितने भव पाये जिनमें लखपति, करोडपति, राजा महाराजा नहीं हुए, पर उन वैभवोसे भी कुछ पूरा पड़ा है क्या? किन्तु आसक्ति इतनी लगाए है कि जिससे इस दुर्लभ नरजीवनका भी कुछ सदुपयोग नहीं किया जा सकता। भूख प्यासकी वेदनासे अथवा किसीके द्वारा कभी उपसर्ग, परीषह, कष्ट आये तो उससे यह मोही प्राणी अधीर हो बैठता है। कभी कभी तो उन वेदनाओकी स्मृति भी इसे बेचैने कर डालती है। ये सब संकट तब तक हैं जब तक अपने स्वरूपके भीतर बाहरमें जो उपयोग लगाया है इस उपयोग को निराकुल निर्द्वन्द्व ज्ञानानन्दस्वरूपमें न लग सके। अपनेको अकेले असहाय स्वतंत्र मानकर शुद्ध परिणमन बनाओ तो सारे संकट समाप्त होते हैं।

**ज्ञानविशुद्धिमें संकटका अभाव** – संकट है कहाँ? किस जगह लगा है संकट? किसी को मान लिया कि यह मेरा है और अन्य जीवोके प्रति यह बुद्धि करली है कि ये कोई मरे

नहीं है बस इस कुबुद्धिवश उनकी परिणतियोंको देखकर संकट मान लिया जाता है। कौन जीव हमारा है? हमारा तो हम तब जाने जब हमारे अपरिचित पुरुष भी देखकर बता दे कि हाँ यह इनका है। यह तो मोही लोगोकी व्यवस्था है। किसका कौन है? अज्ञानसे बढ़कर कोई विपदा नहीं है। चाहे करना कुछ पड़े किन्तु ज्ञान तो सही करना चाहिए। ज्ञान बिगड़ गया तो फिर कोई सहाय नहीं हो सकता।

**उन्मत्तदशा** – जो लोग पागल दिमागके हो जाते हैं, सड़को पर घूमते हैं, बड़े घरके भी बेटे क्यों न हो, बड़े घनी के भी लड़के क्यों न हो, जब वे पागल हो जाते हैं, बेकाबू हो जाते हैं तो घरके लोग क्या उसे संभाल सकते हैं, फिर उनकी कौन परवाह करता है, उनको आराम देनेकी कोई फिर सोचता है क्या? वे तो आफतमें दिखते हैं। कहीं बुद्धि खराब हो गयी, पागलपन आ गया है तो फिर कोई उसके संभालने वाला नहीं है। हम आप इन मोहियोंका दिमाग क्या कुछ कम बिगड़ा हुआ है? क्या कुछ कम पागलपन छाया है? समस्त अनन्त जीवोंमें से छँटकर किन्हीं दो चार जीवोंको जो आज कल्पित अपने घरमें हैं उन्हें मान लिया कि ये मेरे हैं और बाकी संसारके सभी जीवोंको मान लिया कि ये गैर हैं क्या यह कम पागलपन है? ये सब अनाप-सनाप अट्ट-सट्ट बेकायदे के सम्बन्ध मान लिए जाते हैं। कोई जीवके नातेसे कुछ कायदा भी इसमें किया जा रहा है क्या? अमुकका अमुक जीव कुछ लगता है ऐसी मान्यतासे कुछ फायदा भी है क्या? कोई किसी से नाता नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं।

**स्वार्थमय लोकसम्बन्ध** – लौकिक दृष्टिसे भी देखो तो कोई पुरुष बूढ़ा हो जाय किसी काममें नहीं आ सकता है, ऐसी स्थिति हो जाय तो उसकी कौन परवाह करता है? यदि उसके पास कुछ भी धन नहीं है तो कोई भी परवाह नहीं करता है और उसके नाममें या उसके पास कुछ धन है तो लोग मरनेकी माला फेरते हैं, जल्दी कब मरे। ये सब भीतरी बातें हैं। अनुभवसे विचारो, कौन किसका सहारा है, जब तक कषायो से कषाय मिली जुली हुई है और एक दूसरे के स्वार्थमें कुछ साधक रहता है, किसी के कुछ काम के लायक रहता है तब तक ही यह लौकिक सम्बन्ध रहता है अन्यथा नहीं।

**गुरु-शिष्यका उपादेय सम्बन्ध**— भैया! यहाँ उपादेय सम्बन्ध माना जा सकता है तो गुरु और शिष्यका सम्बन्ध यह सम्बन्ध कुछ ढंगका भी है, विधिविधानका भी है। पर गुरु शिष्यके सम्बन्धके अलावा अन्य जितने सम्बन्ध हैं वे सब नाजुक और छलपूर्ण सम्बन्ध हैं, चाहे साला बहनोई हो, चाहे मामा भांजा हो, चाहे पिता-पुत्र हो, चाहे भाई-भाई हो, कोई भी सम्बन्ध हो वे सब सम्बन्ध अशुद्ध और कलुषित भावना सहित मिलेंगे, केवल एक गुरु शिष्य का ही सम्बन्ध जगतके सम्बन्धमें पवित्र सम्बन्ध हो सकता है। कोई पुरुष आजकलके मास्टर और स्टूडेंटका परस्पर बर्तावा देखकर प्रश्न कर सकता है कि गुरु शिष्यका कहाँ रहा पवित्र सम्बन्ध? शिष्य यदि परीक्षामें नकल कर रहा है और मास्टर उसको टोंक दे या

उसकी नकलमें बाधा डाले तो स्कूलसे बाहर निकलनेके बाद फिर मास्टरकी टुकाई पिटाई भली प्रकार कर दी जाती है। क्या पवित्र सम्बन्ध रहा? उसका समाधान यह है कि वहाँ न कोई गुरु है न कोई शिष्य है गुरु बन सकना और शिष्य बन सकना बहुत कठिन काम है। न हर एक कोई क गुरु हो सकता है और न हर एक कोई शिष्य हो सकता है। गुरु शिष्यका इतना पवित्र सम्बन्ध है कि जिसके आधारसे संसारके ये समस्त संकट सदाके लिए टल सकते हैं, सम्यक्त्वकी भावना, सम्यक्त्वका प्रकाश उदित हो सकता है। बाकी और समस्त सम्बंध केवल स्वार्थके भरे हुए सम्बन्ध है।

**बहिर्मुखी दृष्टि में विपदा**— इन बाह्य पदार्थों में, इन परिजन और मित्रजनोमे जब चित्त रहता है तो यह जीव कष्टका अनुभव करनेवाला बन जाता है। खूब बढ़िया भी खाने को मिले तो भी यह अनुभवमें चलता है कि अब फिर भूख लगी। लोलुप गृहस्थ जन तीन बार खाये फिर भी बार—बार क्षुधाकी वेदना अनुभूत होती है। ऐसे ही चाहे सर्व प्रकारके समागम उचित रहे, पैसा भी खूब आ रहा है, इज्जत भी चल रही है तब भी कुछ न कुछ विकल्प बनाकर अपना कष्ट अपनी विपदा समझने लगते हैं, यह सब बहिर्मुखी दृष्टि होने के कारण विपदा आती है। एक चैतन्य चिन्तामणिको प्राप्त कर ले उपयोग द्वारा फिर कोई संकट नहीं रह सकता है।

**अन्तर्मुखी दृष्टि करो विपदा टालो**— देखो। गंगा यमुना नदियों में जलचर जीव अनेक होते ही हैं। कोई कछुवा पानीके ऊपर सिर उठाकर तैरता हुआ जाय तो उसकी चोंचको पकड़नेके लिए दसों पक्षी झपटते हैं, चारों ओरसे परेशान करते हैं। जब तक वह कछुवा अपनी चोंच बाहरमें निकाले है तब तक उसकी कुशल नहीं है। अनेक सताने वाले हैं और जब वह अपनी चोंचको पानी में डुवो लेता है, भीतर ही भीतर तैरता रहता है, मौज करता है उसे फिर कोई संकट नहीं रहता है। ऐसे ही यह आत्मस्वरूप अपना निज घर है। इससे बाहर अपना उपयोग निकला कि सर्व कल्पना जालोके संकट इसपर छा जाते हैं। उन समस्त संकटोके दूर करनेका उपाय मात्र इतना है कि अपने उपयोग को अपने आत्मस्वरूपमें लगा ले।

**बाह्य परिस्थिति कैसी भी हो, परवाह न करो**— बाह्य परिस्थितियोमे जिसका उपयोग लगा है वह हर स्थिति मे कष्ट अनुभव किया करता है। किन्तु है वे सब स्थितियाँ कष्ट न अनुभव करनेके योग्य। घरमें कुटुम्ब ज्यादा बढ़ गया तो कष्ट अनुभव किया जात है। अरे बढ़ गया है तो बढ़ जाने दो, सबके अपना—अपना भाग्य है, वे लड़ते हैं तो लड़ जाने दो, गिरते हैं तो गिर जाने दो, सीधे चलते हैं तो सीधे चलने दो, तुम योग्य शिक्षा दो तुम्हारी शिक्षा के अनुकूल वे चलते हैं तो उनका भला है, नहीं चलते हैं तो तुम ममता करके अपने जीवनका धार्मिक श्रृंगार क्यों खोते हो?

**परिस्थितियों में हितविधिका अन्वेषण** – भैया ! अन्तरमें या बाहरमें परमार्थतः इस जीवको कहाँ कष्ट है, परन्तु दृष्टि बाहर में फंसायी तो वहाँ कष्ट ही है। परिजन अधिक न हो, अकेले हो तो यह जीव अपनेमे कष्ट मानता है कि मैं अकेला हूँ, दुनियाके लोग किस तरह रहते हैं? अरे अकेले रह गये तो यह बड़े सौभाग्यकी बात है, अकेले रह जाना हर एक को नसीब नहीं है यह संसार कीचड़ है। यह समागम एक बेढब वन है अपना यथार्थ अनुभूत हो जाए और स्वतः अकेलापन आ जाय तो यह बड़े अच्छे होनहारकी बात है धर्मपालन होता है तो अकेले होता है, अनुभव से होता है। मोक्षमार्ग मिले तो अकेलेहोता है, मोक्ष प्राप्त होता है तो अकेलेसे होता है कौनसी बुराई आयी अकेले रह जाने में? यह भी स्थिति अच्छेके लिए आती है, पर उसका सदुपयोग करे, लाभ उठाये तब ना। धन बहुत हो गया है तो बड़ी किल्लत हो गयी। इतनी हो गयी है कि सम्भाले भी नहीं सम्भलती है अनेक द्वारोसे यह धन बरबाद होने लग रहा है, सम्भालते ही नहीं बनता है। बड़ा दुःखी होता है जब सुनते हे कि वहाँ इतनेका टोटा हो गया, इतना खर्च हो गया तो बड़े चिन्तित होते हैं। अरे चिन्ताकी क्या बात है? बिगड़ गया तो बिगड़ने दो, घट गया तो घटने दो। कहाँ घट गया? जो पदार्थ है वह तो नहीं गुम गया, मिट क्या गया? जहां होगा वही चैनसे । तुम्हारा क्या बिगड़ गया? ममता छोड़ो, सारे संकट मिट गए।

**ममताका अनौचित्य** – भैया ! जितने भी संकट है वे सब ममताके कारण होते हैं। काहेके लिए ममता करते हो? अपनेको लाभ तो कुछ है नहीं। अपने लाभके संदर्भमें तो ममताकी जरूरत ही नहीं है। जो लोग यहां के समागममें ममत्व रखते हैं वे इसलिए रखते हैं कि दुनियाके मनुष्य हमको कुछ अच्छा समझे, अच्छा कह दे। अच्छा तुम्ही निर्णय दो कि ये सब दुनियाके लोग जिनमें तुम अच्छा कहलवाना चाहते हो ये सब ज्ञानी है या अज्ञानी? मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि? खुद कर्मोंके चक्करमें फंसे हुए है या देवता है सो निर्णय कर लो। मूढ़ है, पर्यायबुद्धि है। अज्ञानी है, पापकलंकसे भरे हुए है। इन मूढ़ोने राजा है। जैसे कोई लोग कहने लगते हे कि हम बदमाशोके बादशाह है, तो इसका अर्थ क्या हुआ? सबसे ऊँचे दर्जेका बदमाश। इस तरह हम इस अज्ञानी जगत में कुछ अपनेको अच्छा कहलवाना चाहते हैं और इन अज्ञानी लोगोने कुछ अच्छा कह दिया और उसमें ही हम खुश हो गए तो अर्थ यह हुआ कि हम मूढ़ो के सिरताज बनना चाहते हैं। सब अपने आपमें सोच लो। सभी तो मोही जगत है। इससे बुरा रंच भी न मानियोगा, क्योंकि यह सब तो विरक्त होनेकी भावना से कहा जा रहा है।

**योगीका उन्नयन** – क्षुधा, तृषा, रोग, वियोग आदिका कष्ट तब बहुत अधिक मालूम होने लगता है जब यह उपयोग आत्मस्वरूपसे चिगकर बाह्य पदार्थों लग जाता है। जब यह जीव बाह्यपददर्थों की वासना तज देता है, बाह्यपदार्थों के रागसे विरक्त हो जाता है तो भूख प्यास, परीषह रोग आदि वेदनाका अनुभव नहीं होता। वह तो अब स्वरूपमें मग्न है,

आनन्दका अपूर्व मधुर रसपान कर रहा है, विकार भावों से अत्यन्त दूर रह रहा है। ऐसे आत्माके आचरणमें रहनेवाले अध्यात्मयोके अनन्तगुणी निर्जरा और कर्मोंका क्षय चलता रहता है, क्योंकि उसकी चित्तवृत्तिका भली प्रकार निरोध हो गया है। अब यह अपने आत्मस्वरूपकी ओर झुका हुआ है। जिसको अपने अंतस्तत्त्वकी दृष्टि है उस योगी के पुण्य और पाप निष्फल होते हुए स्वयं गल जाते हैं। उस योगी का निर्वाण होता है फिर कभी भी ये कर्म पनप नहीं पाते हैं। जो योगी तद्भवमोक्षगामी नहीं है, जिसके संहनन उत्कृष्ट नहीं है, किन्तु ध्यानका अभ्यास बनाए है, आत्मतत्त्वके चिन्तनमें अपना उपयोग लगाये है उसके कर्मोंका सम्बर और कर्मोंकी निर्जरा होती है।

**ज्ञान प्रताप** — आत्मा और अनात्माका जब भेदविज्ञान प्रकट होता है तो उस भेदविज्ञानमें जो अपूर्व आनन्द बरसता है उस आनन्द मग्न योगी पुरुष बड़े कठिन घोर तपश्चरणको भी करते हुए रंच भी खेद नहीं मानते हैं क्योंकि उनका उपयोग तो सहजानन्द स्वरूप अंतस्तत्त्वमें लगा हुआ है। वहाँ वह ध्यान ध्याता ध्येय तीनों एक रूप परिणत हो रहे हैं। वह आत्मस्थ है। उत्तम संहननका धारी हो तो ऐसे ही ध्यान के प्रतापसे चार घातिया कर्मोंको दूर कर सकलपरमात्मा हो जाता है। उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति प्रकट हो जाती है, फिर अंतमें तपश्चरण करके सिद्ध प्रभु हो जाता है। यह सब एक ज्ञानका प्रताप है। जिन्हे समस्त संकट दूर करना है उनका कर्तव्य है कि वे तत्त्वज्ञानका अभ्यास बनाएँ।

**कटस्य कर्ताहमिति सम्बन्धः स्याद्द्वयोर्द्वयोः।**

**ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बन्धः कीदृशस्तदा।।24।।**

**अद्वैतमें सम्बन्धकी असंभावना** — अध्यात्मयोग में जब वही आत्मा तो ध्यान, करने वाला है वही आत्मा ध्येयभूत है तो ऐसी स्थिति यह कैसे बताया जा सकता है कि वह योगी किसका ध्यान करता है। लोक में निमित्तनैमित्तिक प्रसंगमें कोई दो चीजें सामने हैं तब उनका सम्बन्ध बोल दिया जाता है। जैसे घड़ा बनाने वाला कुम्हार ऐसा संकल्प कर सकता है कि मैं घड़ेका कर्ता हूँ, चटाई बनानेवाला कारीगर भी ऐसा विकल्प किया करता है कि मैं चटाईका कर्ता हूँ, दो चीजें भिन्न—भिन्न हैं इसलिए इन दोनोंका परस्पर में सम्बन्ध बताया जाता है, संयोगकी बात कही जाती है और जब वह संयोग न हो तो वे अलग—अलग ही यथापूर्व बने रहते हैं परन्तु जहाँ ध्यान भी आत्मा, ध्येय भी आत्मा आत्मासे भिन्न जहाँ ध्यान आदि कोई तत्त्व नहीं है तब उनका संयोग आदिक सम्बन्ध कैसे कहा जा सकता है?

**स्वतन्त्र पदार्थमें सम्बन्धका अभाव** — आत्मा एक स्वतंत्र पदार्थ है और वह प्रति समयमें कुछ न कुछ रूप परिणमता ही रहता है। कुछ भी यह न परिणमें तो आत्माका

अस्तित्व भी नहीं रह सकता है। जगतमें कौनसा पदार्थ ऐसा है कि सत्ता तो उसकी हो और कुछ परिणमन उसमें हुआ ही न करे। ऐसा लोकमें कोई भी पदार्थ हो ही नहीं सकता। जो होगा वह नियमसे किसी न किसी रूप अपनी परिणति रखा करेगा। तो यह आत्मा भी प्रतिसमय परिणमता रहता है कभी ये बाह्य विकल्पोका आश्रय तोड़कर अपने आपके ध्यानरूप परिणमा करते हैं। जब यह जीव समस्त बाह्य विकल्पोको तोड़कर अपने आपके ध्यानरूपसे परिणमता है तो वहाँ यह तो बताओ कि वह आत्मा किसका क्या कर रहा है? वहाँ कोई दो बातें ही नहीं हैं।

**ज्ञानके विषयभूत परपदार्थमें भी ज्ञप्ति क्रिया का अप्रवेश** – प्रथम तो जब बाह्यपदार्थों का भी चिन्तन ध्यान करना हो, उस कालमें भी यह बाह्य पदार्थों का कर्ता नहीं है। वहाँ भी वह अपने ही किसी प्रकारके ध्यानरूप परिणम रहा है। खैर, बाह्यपदार्थोंके विकल्पमें तो आश्रमभूत परपदार्थ भी हैं किन्तु जहाँ शुद्ध आत्मतत्त्वका ध्यान चल रहा हो वहाँ दो तत्व कौनसे कहे जाये जिसमें यह बनाया जाए कि यह अमुक का ध्यान करता है, यह अमुक का। अपनेकी ध्यानरूपसे परिणाम रहा है वह ज्ञानप्रकाश, शुद्ध ज्ञानप्रकाशरूप चल रहा है यह इस ही पदार्थ को भेदोपचार करके यों कह दिया जाता है कि आत्मा अपने स्वरूपका ध्यान करता है।

**परमार्थमें परस्पर संबंधका अभाव** – ध्यान शब्दमें यह लोक अर्थ पड़ा हुआ है कि जिसका ध्यान आ जाय, जिसके द्वारा ध्यान किया जाय जो ध्यान करता है। तो इस अर्थमें जिसका ध्यान किया गया वह पदार्थ और जो ध्यान करता है वह पदार्थ कोई भिन्न-भिन्न हो तो बता भी दे कि आत्माने अमुकका ध्यान किया है, पर जिस समय आत्मा के ध्यान अवस्थामें यह परमात्मस्वरूप स्वयं आत्मा जब ध्यानके साथ एकमेंक हो जाता है, स्वयं ही स्वयं के ज्ञानरूपसे प्रकाशित हो जाता है तब वहाँ किसी परद्रव्यका संयोग ही नहीं है फिर संबंध क्या बताया जाय? सम्बन्ध तो बनावटी तत्व है। वास्तवमें तो कही भी कुछ सम्बन्ध नहीं है, प्रत्येक स्वतंत्र है, वह अपने आपमें अपना परिणमन करता है। वे सब अपने आपकी शक्ति का ही परिणमन करते हैं कोई पदार्थ किसी दूसरे का न परिणमन करता है, न उपभोग करता है और न कुछ संबंध भी है फिर किसको किसका बताया जाय?

**मूढ़ता व अशान्ति व ढीठता का अभाव** – भैया ! यह जीव ज्ञानवाला है, इससे कह रहा है कि मकान मेरा है, यह अमुक मेरा है। इस प्रकार मेरा-मेरा मचाता है। यदि मकानमें भी जान होती तो यह भी यों कह देता कि यह पुरुष मेरा है। अरे न मकानका यह आत्मा है, न आत्माका यह मकान है। मकान ईट भीतोका है। यह पुरुष मेरा है। अरे न मकानका यह आत्मा है, न आत्माक यह मकान है, मकान ईट भीतोका है। यह पुरुष अपने स्वरूप में है, दृष्टि देकर जरा निरख लो अपना शरण, बाह्यदृष्टि में कुछ पार न जायगा। बाहर सार क्या है? जब समागम है तब भी समागमसे शान्ति नहीं है और जब समागमका वियोग होगा

तब तो यह मोही शान्ति ही क्या कर सकेगा? बाह्य पदार्थ है तो दो ही तो बाते हैं, या बाह्य पदार्थोंका संयोग होगा या वियोग होगा। यह मोही जीव न संयोगमें शान्ति कर सकता है और न वियोग में शान्ति कर सकता है। शान्ति तत्त्वज्ञान बिना त्रिकाल हो ही नहीं सकती है। यह सब कर्मशत्रुका आक्रमण है बाह्य पदार्थों की और दृष्टि लगाना यही मूढ़ता है, कलुषता है इस जीवकी। संसारभ्रमणका यही एक कारण है।

**सम्बन्धकारकके अभावसे सम्बन्धकी अवास्तविकताकी सिद्धि** – समस्त पदार्थ अपने आपके स्वरूप में अद्वैत हैं वे वे ही के वे हैं, उनमें किसी दूसरे पदार्थका सम्बन्ध नहीं है। देखिए ! संस्कृतके जो जानने वाले हैं वे समझते हैं।— संस्कृतमें कारक 6 कहे जाते हैं— उन 6 कारकों में कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये 6 आये हैं। इन कारकोंमें सम्बन्धका नाम तक भी नहीं लिया गया है। उसका अर्थ यही है कि सम्बन्ध कोई तात्त्विक चीज नहीं है। सम्बन्ध भी यदि परमार्थ होता, कारक होता तो इसे भी इन कारकों में गिनवाया जाता। लोक प्रयोगमें भी देखलो— साँपने यदि अपने शरीरको कुण्डली रूप बना लिया तो इतना तो कहा जा सकता है कि साँपने अपनेको अपने द्वारा अपने लिए अपनेसे अपनेमें गोल बना लिया है, पर किसका गोल बना लिया है इसका उत्तर औधाँ हुआ उत्तर होगा। अरे जब वही एक साँप है। और वह अपने परिणमन रहा है तो दूसरे का किसका नाम लोगे? साँपने किसका गोल बना दिया है? कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है। जबरदस्ती की बात दूसरी है कि कुछ भी कह डाला जाय। तो कारक 6 हुआ करते हैं। सम्बन्ध नाम का कारक ही नहीं है। फिर जगतके पदार्थों में सम्बन्धकी खोज करके अपनी व्यग्रता क्यों लादी जा रही है?

**पदार्थों की गणना** – जगतमें अनन्तानन्त जीव हैं जिनकी हद नहीं है। कबसे जीव मोक्ष चले जा रहे हैं, कोई दिन मुकर्रर करके कोई नहीं बता सकता है। अगर कोई दिन मुकर्रर कर दे तो यह प्रश्न होगा कि क्या उस दिनसे पहिले कोई मोक्ष न गया था? अगर कह दे कि हाँ इस दिन से पहिले कोई मोक्ष नहीं गया तो जब तक कोई मोक्ष न जा सका ऐसा संसार कितने दिनो तक रहा? उसका उत्तर दो। उसकी भी सीमा बनानी होगी। तो उससे पहिले संसार ही न था अभाव हो गया, फिर जब कुछ न था तो कुछ बन भी नहीं सकता है। अनन्त जीव समझ लीजिए मोक्ष चले गए और फिर भी अनन्तानन्त राशि बची हुई है, इसमें अनन्त मोक्ष चले जायेंगे, फिश्र भी जीव अनन्त ही बचे रहेंगे। कितनी अनन्तानन्त जीव राशि है। जीवराशि से अनन्तानन्तगुणे पुद्गल है। एक चौकी में कितने परमाणु हैं बताओ? हजार, लाख, करोड़, असंख्यात, अनगिनते, कुछ भी तो बताओ। अरे असंख्यात, अनगिनते से भी ज्यादा। अनन्तानन्त। अनगिनतें और अनन्तानन्तमें फर्क है। अनगिनतेंका अर्थ यह कि गिनती न की जा सके परन्तु उनका अंत होगा, किन्तु अनन्तानंत

का अर्थ है कि उनका कभ अन्त न हो सके। तो अनन्तान्त जीव ह अनन्तानन्त पुद्गल है, धर्मद्रव्य एक है , अधर्मद्रव्य भी एक है, आकाश भी एक है और कालद्रव्य अंसख्यात है।

**शांति में वस्तुस्वातंत्र्य के परिज्ञान का अनिवार्य सहयोग** – ये समस्त द्रव्य पूर्ण स्वतंत्र है अर्थात् अपने ही स्वरूपको लिए हुए है। समस्त पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें ही परिणमते है, कोई किसी अन्यमें त्रिकाल भी नहीं परिणम सकता। अब समझ लीजिए कि कोई प्रतिकूल चल रहा है तो वह प्रतिकूल नहीं चल रहा है। यह तो अपनी कषायके अनुसार अपनी कषायकी वेदनाको मिटानेके लिए प्रयत्न कर रहा है। यहाँ यह मोही जीव अपने कल्पित स्वार्थमय अवसरमें विघ्न जानकर खेदखिन्न होता है, मैं कितना दुःखी हूँ? मेरे अनुकूल ये लोग नहीं परिणमते बल्कि प्रतिकूल परिणम रहे है। अरे जो जैसा परिणमता है परिणमने दो, तुम तो भेदविज्ञान करो। सुख, साता व शान्ति भेदविज्ञानके बिना कभी न मिलेगी। कुछ दिनोंका संयोग है। घर अच्छा है, समागम अच्छा है, आर्थिक समस्या भी अच्छी है, तो क्या करोगे इन सबका? कब तक पूरा पड़ेगा इन बाह्य पदार्थों से? भेदविज्ञान करो। मैं आत्मा जगतके समस्त पदार्थों से न्यारा हूँ, ऐसा उपयोग बनाकर अपनेको न्यारा समझ लो तो शान्ति मिलेगी अन्यथा परकी और आकर्षण हाने से कभी शान्ति न मिल सकेगी।

**सांसारिक सुखो के अनुपात से दुःखो के उदगम की अधिकता** – भैया ! ये संसार के सुख जितने ज्यादा मिलेंगे उतना ही ज्यादा दुःखके कारण है, खूब सोच लो। किसी को स्त्रीका समागम है, वह स्त्री आज्ञाकारिणी हो, रूपवान हो और भी अनेक कलाएँ हो, उसके मन को रमाने वाली हो तो जब उसका वियोग होगा तो कितना क्लेश होगा? जितना राग किया है उसके अनुपात से हिसाब लगा लो, ज्यादा क्लेश होगा, और किसीको अपनी स्त्रीसे अनुराग नहीं है अथवा किसी कारणसे स्त्री कलाहीन है, लड़ने वाली है, आज्ञा नहीं मानती है तो उससे तो पहिले से ही दिल हटा हुआ है उसका वियोग होनेपर उसको क्लेश उसके रागके अनुपात से होगा। जो पुरुष बाह्य पदार्थोंको जितना अधिक प्यारा मानता हो वह उतना ही अधिक दुःख पायगा। जो विवेकी पुरुष है, जिन्हे सम्यग्ज्ञानका उदय हुआ है वे पाये हुए समागममें हर्ष मानते है, उसके ज्ञाताद्रष्टा रहते है।

**ज्ञानीकी दृष्टिमें सम्पदा व विपदाकी समानता** – ज्ञानी पुरुष जानता है कि यह भी कर्मोका एक उदय है। नाम दो है— सम्पदा और विपदा, पर कष्टके कारण दोनो ही है। जैसे नाम दो हो नागनाथ और सांपनाथ मगर विषके करने वाले दोनो ही है। सांपनाथको नागनाथ कह देनेसे कही वह सांप निर्विष न हो जायगा, उसके संकट तो झेलना ही पड़ेगा, ऐसे ही ये लोककी सम्पदा और विपदा है, इनमें मोही जीव सम्पदाको भला मानता है, यह बहुत भला है, इससे बड़ा सुख है, पर ज्ञानी जानता है कि सम्पदा और विपदा दोनो ही दुःख के कारण है। पुण्य और पाप दोनो ही ज्ञानी के लिए मात्र ज्ञेय रहते है, वह



पुण्य के फल में हर्ष नहीं मानता है और पाप के फल में विषाद नहीं करता है। समताबुद्धि रखता है। ज्ञानी की धुन तो अलौकिक अध्यात्मरस के पान की ओर लगी हुई है। जिसने अद्वैत निज आत्मतत्त्व का अनुभव किया है उसे संकट कैसे सता सकेंगे?

**सर्व स्थितियों में परमार्थतः पदार्थ की स्वतंत्रता** – ये समस्त पदार्थ स्वतंत्र हैं, अपने स्वरूप से हैं पर के स्वरूप से नहीं हैं। अशुद्ध अवस्था में पर का निमित्त पाकर अशुद्ध परिणत हो जाते हैं तिसपर भी यह जीव अशुद्ध होता है अपनी ही शक्ति के परिणमन से, दूसरे पदार्थ ने उसे अशुद्ध नहीं कर दिया। प्रत्येक पदार्थ अद्वैत है, अपने ही परिणमनरूप परिणमता है। हम दुःखी होते हैं तो अपने आप में कल्पनाएँ रचाते हैं और उन कल्पनाओं से दुःखी हुआ करते हैं और हम सुखी होते हैं तो अपनी कल्पनाएँ बनाकर ही सुखी होते हैं। कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ को सुखी दुःखी करने में समर्थ नहीं है। जो घर मोह अरवस्था में प्रिय लगता था वही घर आज वैराग्य जगने पर प्रिय नहीं लगता है। ये सारी सृष्टियाँ, सुख, दुःख, संकल्प, विकल्प भोग, उपभोग आदि समस्त सृष्टिया इस आत्मा से ही उठकर चला करती हैं।

**आत्मा के एकत्व चिन्तन में शान्ति समृद्धि का अभ्युदय** – इस आत्मा के ध्यान में आत्मा अद्वैतरूप रहती है, अब किसका ध्यान करे, जब यह जीव संसार अवस्था में है, कर्म आदिक का संयोग चल रहा है तब भी यह जीव वस्तुतः अपना परिणमन कर रहा है। इस अशुद्ध निश्चय की दृष्टि से भी अपने आपके एकत्व को समहाले तो इस अशुद्ध निश्चयनय से आगे चल कर केवल निश्चयनय में आ सकते हैं। अपने आपको जितना भी अकेला चिन्तन किया जाये सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूँ— इस प्रकार का अपना अकेलपापन चिन्तन किया जाए, तो उस जीव में शान्ति का उदय होगा। किसी दूसरे पर दृष्टि रखकर शान्ति कभी आ ही नहीं सकती है।

**मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व का आद्य स्थान** – मोक्ष मार्ग में सम्यक्त्व का प्रथम स्थान है। जो जैसा पदार्थ है उस पदार्थ को वैसा समझ लेना यही सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के बिना इस जीव ने इतने मुनिपद धारण किए होंगे कि एक-एक मुनि अवस्था का एक-एक कमंडल जोड़ा जाय तो अनेक मेरु पर्वत बराबर ढेर लग जायगा। भेष रखने में अथवा अपनी कपोल कल्पित मान्यता के द्वारा क्रियाये करने में कौन सा बड़प्पन है? केवल एक संयोग में रूप बदल गया है। अज्ञानदशा में गृहस्थ रहता हुआ गृहस्थ के योग्य विकल्प मचाने का काम करता था, अब अज्ञान दशा में मुनि का रूप रखकर अब मुनि की चर्या जैसा विकल्प का काम करता है, पर अज्ञानदशा तो बदल नहीं सकती देह के कुछ भी कार्य बनाने से। यह अज्ञानदशा भी ज्ञान का उदय होने से ही दूर की जा सकती है। ज्ञान बिना सम्यक्त्व नहीं, ज्ञान बिना ध्यान, तप, व्रत, संयम नहीं, ज्ञान बिना आत्मा के उद्धार का कभी उपाय नहीं बन सकता। इस कारण अपने आप पर यदि दया आती है, तरस आती है,

अनन्तकाल से भटकते हुए इस आत्मप्रभु की और यदि कुछ करुणा जगती है तो सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान का अभ्यास बनावे। धन वैभव पुद्गल ढेर का संचय – इसमें आस्था बुद्धि न रखें, ये शान्ति के कारण न कभी हुए हैं और न हो सकते हैं।

**प्रत्येक पदार्थ के अद्वैतता के निर्णय में मुक्ति का आरम्भ** – भैया ! जब यह जीव ही बाह्य विकल्पो को तोड़कर अपने आपके सहजस्वरूप में मग्न होगा तब उसे शान्ति प्राप्त होगी। यों अद्वैत स्वरूप के ध्यान के लिए यह निर्णय दिया है कि जब तुम कुछ देते ही नहीं, तुम किसी दूसरे में कुछ कर सकते ही नहीं तो तुम्हारा परपदार्थों से क्या सम्बंध है? तुम्हारे प्रत्येक परिणमन में तुम ही परिणमन वाले हो और तुम्हारा ही वह परिणमन है। फिर सम्बंध क्या किसी अन्य पदार्थ से? जब यह आत्मा ही ध्यान है, आत्मा ही ध्याता है तो फिर इसका किसी भी पदार्थ से रंच सम्बंध नहीं है। एक निज ज्ञानानन्दस्वरूप ही जो ध्यान करता है वह शीघ्र ही निकट काल में मोक्षपद प्राप्त करता है।

## इष्टोपदेश प्रवचन द्वितीय भाग

वध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥26॥

**ममत्व व निर्ममत्व बन्ध व मोक्ष का कारण** – यह जीव ममता परिणाम से सहित होता हुआ कर्मों से बंध जाता है और ममतारहित होता हुआ कर्मों छूट जाता है, इस कारण सर्वप्रकार से प्रयत्न करके अपने आपके निर्ममत्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। इस श्लोक में बंधने और छूटने का विधान बताया गया है। जो पुरुष ममत्व परिणाम रखता है, जो वस्तु अपनी नहीं है, अपने आपके स्वरूप को छोड़कर अन्य जितने भी पदार्थ हैं वे सभी

अपने नहीं है, उनको जो अपना मानता है वह कर्मों से बंध जाता है। परपदार्थों को अपना मानना यह तो है बन्ध का कारण, और परपदार्थों में ममत्व न होना यह है मोक्ष का कारण। इस कारण संसार संकटों से मुक्ति चाहने वाले पुरुषों को सर्व तरह से तन, मन, धन, वचन सर्व कुछ न्यौछावर करके, संन्यास करके अपने आपको ममत्तरहित चिन्तन करना चाहिए।

**ममत्वभारवाही** – भैया! यह जीव निरन्तर दुःखी रहा करना है। इसका सुख भी दुःख है और दुःख तो दुःख है ही। इन समस्त क्लेशों का कारण है अपने आपको किसी न किसी परिणामन रूप अनुभवन करते रहना। जो यह मन में सोचेगा कि मैं इसका बाप हूँ, अमुक हूँ तो इस चिन्तन के कारण बाप के नाते से अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं का क्षोभ होगा, खेद होगा, उसका बोझ इसी को ही ढोना पड़ेगा, कोई दूसरा नहीं ढो सकता।

**दृष्टान्त द्वारा ममत्व के भार का प्रदर्शन** – एक साधु था, वह जंगल में तपस्या कर रहा था। वहाँ अचानक कोई राजा पहुँच गया, कहा – महाराज ! इस प्रकार की गर्मी के दिनों में इतना बड़ा कष्ट क्यों सह रहे हो? पैर में जूते नहीं हैं, छतरी भी नहीं है, बदन भी नंगा है, क्यों इतनी गर्मी ज्येष्ठ के दिनों में सह रहे हो? महाराज और कुछ नहीं तो हम आपको एक छतरी देते हैं सो छतरी लगाकर चला कना। साधु बोला – बहुत अच्छी बात है, ऊपर की घूप तो छाते से मिट जायगी, पर नीचे जो पृथ्वी की गर्मी है उसका क्या इलाज करें ? तो राजा बोला – महाराज आपको बढ़िया रेशम के जूते पहुँचा देंगे। साधु ने कहा – अच्छा यह भी समस्या हल हो गयी। किन्तु नंगा बदन है, लू लगती है, इसका क्या इलाज करें? राजा ने कहा महाराज कपड़े बनवा देंगे साधु ने कहा कि आपने यह तो बहुत आराम की बात कही, पर जब जूता भी पहिन लिया, छाता भी मिल गया कपड़े भी पहिन लिये तो फिर तिष्ठ तिष्ठ कौन कहेगा, कौन फिर पड़गाहेगा ? राजा ने कहा महाराज इसकी कुछ फिक्र न करो, आपके आहार के लिए चार पाँच गाँव लगा देंगे? उनकी आमदनी से आपका गुजारा चलेगा। ठीक है, पर खाना कौन बनावेगा ? तो महाराज आपकी शादी करवा देंगे, स्त्री हो जायगी। साधु ने कहा कि यह तो ठीक है, पर स्त्री से बच्चा होंगे तो उनमें से कोई मरेगा भी। मरने पर कौन रोवेगा ? तो राजा बोला – महाराज और तो हम सब कर सकते हैं पर उन बच्चा-बच्ची के मरने पर रोना आपको ही पड़ेगा। क्योंकि जिसमें ममत्व होगा, वही तो रावेगा, कोई दूसरा न रोने आयेगा। तो साधु बोला कि जिस छतरी के कारण मुझे रोने की भी नौबत आयगी ऐसी आपकी यह छतरी भी हमें न चाहिए। हमें तो अपने में ही चैन मानना है, हम तो अपने में ही शान्ति पा रहे हैं।

**पर में आत्मीयता की बुद्धि का अधेंरा** – भैया ! जो ममत्व करेगा वही प्रत्येक प्रकार से बंधेगा, जो ममत्तरहित होगा वह छूट जायेगा। सो समस्त प्रयत्न करके अपने आपको ममत्तरहित चिन्तन करना चाहिए। परपदार्थों को मेरा है, मेरा है – ऐसा अंतरंग में विश्वास

रहना यह घोर अंधकार है। अंधकार से यह जीव सुध भूल जाता है, अपनी और बहिर्मुख दृष्टि बनाकर संसार में भ्रमण करता है। मोही जीव किन-किन पदार्थों को अपना समझ रहा है ? स्त्री, पुत्र, धन-वैभव, राज्य, अनाज, पशु, गाय, बैल, भैंस घोड़ा, मोटर साइकिल, कोट, कमीज, न जाने किन-किन वस्तुओं को यह मोही जीव अपनाता है। लोकव्यवहार के कारण कोई मेरा-मेरा कहता है, इनते पर तो कुछ नुकसान नहीं है किन्तु यह तो उनमें ऐसी आत्मीयता की बुद्धि करे है कि उनका बिगाड़ होने पर अपना बिगाड़ मानता है।

**तृष्णा के संस्कार का परिणामन** – इस संसार के रोगी को तृष्णा ऐसी लगी है कि ये प्राणी पाये हुए समागम का भी सुख नहीं भोग सकते। और तो बात जाने दो, भोजन भी कर रहे हैं तो सुख से भोजन नहीं कर सकते। तृष्णा अगले कौर की लगी है, इसलिए जो ग्रास मुख में है उसको भी यह सुख से नहीं भोग पाता है, ऐसे ही इस धन सम्पदा की बात है। तृष्णा ऐसी लगी है कि और धन आ जाय, इसके चिन्तन से वर्तमान में प्राप्त समागम को भी यह जीव सुख से नहीं भोग पाता है। मान लो जितना धन आज है उसका चौथाई ही रहता तो क्या गुजारा न चलता ? या मनुष्य ही न होते, पशुपक्षी, कीड़ा मकोड़ा, होते तो क्या हो नहीं सकते थे ? यदि पशु पक्षी होते तो कैसा क्लेश में समय गुजारा ? कहीं वृक्ष होते तो खड़े-खड़े रहकर ही फिर सारा समय गुजारते फिरते। किन्तु उन समस्त दुर्गतियों से निकल भी आये हैं तो भी वर्तमान समागम नहीं होता है। अरे क्यों नहीं धर्मपालन के लिए अपना जीवन समझा जाता है ? जब यह जीव मोहवश अज्ञान भाव से अपने में ममकार और अहंकार करता है तब इन कषाया की प्रवृत्ति के कारण इस मिथ्या आशय के होने के कारण शुभ अशुभ कर्मों का बंध होने लगता है।

**एक दृष्टान्त द्वारा स्नेह से कर्मबन्ध होने का समर्थन** – कर्मों का बन्धन परिणामों के माध्यम से होता है, बाह्य वातावरण से नहीं। जैसे कोई पुरुष किसी धूल भरे अखाड़े में लंगोट कसकर तेल लगाकर हाथ में तलवार लेकर केला बांस आदि पर बड़ी तेजी से तलवार से प्रहार करता है तो वह धूल से लथपथ हो जाता है। वहाँ धूल के चिपकने को क्या कारण है? तो कोई कहेगा कि वाह सीधी सी तों बात है— धूल भरे अखाड़े में वह कूद गया तो धूल नह चिपकेगी तो और क्या होगा? लेकिन कोई दूसरा पुरुष उस ही प्रकार लंगोट कसकर हाथ में तलवार लेकर उन बाँस केलों पर ही तेजी से प्रहार करे, किन्तु तेलभर नहीं लगाया है, उस पुरुष के तो धूल चिपकती हुई नहीं देखी जाती है। इस कारण तुम्हारा यह कहना अनुचित है कि धूल भरे अखाड़े में गया इसलिए धूल बँधी। तो दूसरा कोई बोला कि भाई हथियार हाथ में लिया इसलिए धूल बँध गयी। तो दूसरे पुरुष ने भी तो तलवार हाथ में लिया, पर उसके तो धूल चिपकी हुई नहीं देखी जाती है, इसलिए हथियार का लेना भी धूल के चिपकने का कारण नहीं है। तो तीसरा कोई बोला कि उसने शस्त्र को केलों पर, बाँसों पर प्रहार किया इस कारण धूल बँधी। तो उस दूसरे

पुरुष ने भी तो केलों पर, बासो पर शस्त्र से प्रहार किया, पर उसके तो धूल चिपकी हुई नहीं देखी जाती। अरे उस पुरुष ने तेल लगाया है इसलिए उसका शरीर धूल से लथपथ हो गया है और दूसरे ने तेल नहीं लगाया है इस कारण वह धूल से लथपथ नहीं हुआ है। क्रियाये सब जानते हैं कि शरीर में स्नेह लगा है स्नेह नाम तेल का है, चिकनाई लगी है उस कारण उसे धूल का बंध हो गया है।

**कर्मव्याप्त लोक निवास कर्म बन्ध का आकरण** – संसारी प्राणियों की भी अपने अध्यवसान के कारण दुर्दशा है। ये संसारी प्राणी इस शरीर से मन, वचन, काय की क्रियाएं करके और इन क्रियाओं के द्वारा जीवघात करके कर्मों से लिप रहे हैं, ऐसी स्थिति में कोई कारण पूछे कि यह जीव कर्मों से क्यों लिप गया है ? तो कोई एक उत्तर देता है कि कर्मों से भरा हुआ लोक है ना, वह तब कर्म न बाँधे तो क्या होगा? लेकिन यह बात नहीं है। यह बताओ कि इस समय सिद्ध भगवान कहाँ बिराजे हैं? इस लोक के भीतर या लोग के बाहर या लोक के अंत में है? लोक के बाहर केवल आकाश ही आकाश है, न वहाँ जीव है, न पुद्गल है न धर्म अधर्म है, न काल है। इस लोक में सर्वत्र कार्माणवर्गणायें बसी हुई हैं, जहाँ सिद्ध जीव बिराजे हैं वहाँ पर भी ठसाठस अनन्त कार्माणवर्गणाएँ हैं और केवल कार्माणवर्गणा ही नहीं, वहाँ अनन्त निगोदिया जीव भी हैं, जो निगोदिया जीव इस जगत के निगोदियों की तरह ही दुःखी हैं, एक स्वांस में 18 बार जन्म और मरण करते हैं उन निगोदियों में और सिद्ध भगवान की जगह में रहने वाले सूक्ष्म निगोदियों में दुःख का कोई अन्तर नहीं है, वे लोक में दुःखी हैं व सिद्ध वहाँ सुखी हैं। इसलिए लोकबन्धन का कारण नहीं है अथवा मुक्ति का कारण नहीं है।

**मन वचन काय का परिस्पन्द कर्मबन्ध का अकारण** – तब दूसरा कोई बोला कि वहा ये जीव मन, वचन काय की चेष्टाएँ करते हैं उससे बंध होता है तो जरा यह बतलाओ कि जो चार घातिया कर्मों का नाश करके अरहंत हुए हैं उन अरहतों के क्या वचनवर्गणायें नहीं निकलती? दिव्य ध्वनि जो खिरती है उन अरहत भगवान के क्या शरीर की चेष्टाएँ नहीं होती? वे भी बिहार करते हैं, उनके शरीर में जो द्रव्यमन रचा हुआ है क्या उस द्रव्यमन में कोई क्रिया नहीं होती ? होती ही है। उनके भी मनोयोग, वचनयोग और काययोग तीन योग पाये जाते हैं, वे सयोग केवली कहलाते हैं। अभी उनके तीनों योग हैं। दो मनोयोग हैं दो वचन योग हैं— औदारिका काययोग, औदारिक मिश्रकाययोग, कार्माणकाययोग। ये तीन काय योग हैं, ये 7 योग माने गये हैं सयोगकेवली के। मन, वचन, कायकी चेष्टा उनके भी हो रही है, पर क्या कर्मबन्धन है? नहीं। इनके मन, वचन, काय की चेष्टा से कर्मबन्धन नहीं होता। अतः मन, वचन, काय की चेष्टा कर्मबन्ध का कारण नहीं है।

**परमार्थतः परबंध बन्ध का अकारण** – तब तीसरा बोला कि वाह इनके चलने फिरने से अथवा अन्य प्रकार से जीवों का घात होता रहता है तब इन्हे कर्मबंध कैसे नहीं होता? अच्छा बतलाओ कि जो साधु हो गए हैं, महाव्रत का जो जो पालन करते हैं, समितिपूर्वक गमन करते हैं ऐसे साधु संत अच्छे काम के लिए अच्छे भाव सहित दिन में चार हाथ आगे जमीन देखकर ईर्या समिति से जा रहे हो और अचानक कोई कुन्धु जीव पैरो के नीचे आकर दबकर मर जाय तो क्या उन साधुओं के भी कर्म बंध होता है? परिणाम ही नहीं है उनका क्रूर कैसे बंधे कर्म? तो यह भी बात तुम्हारी युक्त नहीं है।

**कर्मबन्ध का कारण** – कर्मबंध का करने वाला केवल स्नेह भाव है। उपयोग में जो राग बस रहा है, मोह राग द्वेष चल रहा है यह ही कर्मबन्धन का कारण है। जो जीव रागद्वेष विभावों के साथ अपना एकीकरण करता है, राग करता है, यह मैं ऐसा ही हूँ, राग से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप मेरा है ऐसा जो नहीं मान सकता है ऐसे पुरुष के बन्धन होता है। इस ही को ममत्व सहित पुरुष कहा गया है।

**पर्यायव्यामोही के सकल विश्व के मोह का संस्कार** – जो अपने शरीर में 'यह मैं हूँ' ऐसा अहंकार रखता है, ममकार रखता है उसने सर्वविश्व का अहंकार और ममकार किया है। यद्यपि इस मोही जीव के पास किसी के 50 हजार की विभूति हो, लाख की हो, कुछ साराजगत का वैभव तो नहीं है। तो क्या उसे केवल 50 हजार में ही ममता है या लाख में ही ममता है? इस अज्ञानी जीव को सारे विश्व में ममता है। न हो पास इसके और योग्यता भी विशाल न होने से अन्य विभावों की कल्पना भी न उठती हो तिस पर भी उसकी वासना में तीन लोक के वैभव के प्रति आत्मीयता बसी है अन्यथा उसके सामने रख दो और वैभव, क्या वह मना कर देगा कि अब मुझे न चाहिए? उसकी तृष्णा शान्त नहीं हो सकती। मोह में सारे विश्व के प्रति ममता का परिणाम बसा हुआ है और इस कारण उसे समस्त जगत का बन्धन लग रहा है।

**अध्यवसान में कर्मबंध की निरन्तरता** – भैया ! पदार्थों में इष्ट अनिष्ट कल्पनाएँ होने से रागद्वेष का अस्तित्व आत्मा में अपना स्थान जमा लेता है और फिर यह उपयोग उन विभाव भावों के कारण विकृत हो जाता है, सर्व प्रकार से पर में तन्मय हो जाता है उस समय रागद्वेष परिणामरूप यह अध्यवसान भाव ही बंध का कारण होता है। जो पुरुष यह मेरा यह दूसरे का है, इसका मैं मालिक हूँ इसका दूसरा मालिक है – ऐसी रागबुद्धि बसाये, परमर्षि कहते हैं उनके शुभ अशुभ कर्म बँधते ही रहते हैं। कर्मबन्धन के लिए निमित्त चाहिए रागादिक भाव, उसके लिए हाथ कैसे चल रहे हैं यह निमित्त नहीं है, पैर कैसे उठ रहे हैं यह निमित्त नहीं है। पूजा भी करता हो कोई और परिणामों में विषयों के साधनों की बात बसी हो अथवा किसी पुरुष के प्रति बैर भाव बसा हो तो पाप का बंध हो जायगा। कर्म इस बात से नहीं अटकते हैं कि मंदिर में खड़े हैं तो हम इनके न बँधे, ये भगवान के

समक्ष खड़े है इनके न बँधे, ऐसी अटक कर्मों में नहीं है। कर्मों के बन्धन का निमित्त तो रागद्वेष मोह अध्यवसान भाव है, वह हुआ तो कर्म बँध गया। चाहे वह तीर्थ क्षेत्र में हो, चाहे मंदिर स्थान में हो, चाहे वह साधुओं के संग में समक्ष में बैठा हो।

**ममतारहित शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप की उपासना का अभिनन्दन** – जिन पुरुषों के वैराग्य और ज्ञान का परिणमन चल रहा है उनके कर्म नहीं बँधते है, किन्तु अनेक कर्म निर्जरा को प्राप्त होते हे क्योकि उनके चित्त में शुद्ध कारण समयसार विराजमान है। वे चाहे किसी घर में खड़े हो, चाहे किन्ही वस्तुओं में गुजर रहे हो, किन्ही भी बाह्य परिस्थितियों में हा, जिन जीवों के रागद्वेषादिक भावों में अपनायत नहीं है, जो अपने सहजशुद्ध चैतन्यस्वरूप की उपासना करते है उन पुरुषों के कर्म नहीं बँध सकते। कर्मों का बन्धन अहंकार और ममकार परिणाम के कारण होता है। यह मैं हूँ, यह मैं हूँ, जो हर जगह में मैं मैं बगराता है, हर जगह ममता करता है उसको कर्म बंधन तो होगा ही। रेल की सफर में जा रहे हो और किसी मुसाफिर से थोड़ा स्नेह हो जाय, थोड़े वचनव्यवहार से तो इतने में ही बन्धन हो जाता है। जब वियोग होता है, किसी एक के उतरने का स्टेशन आ जाता है तो उसमें कुछ थोड़ा ख्याल तो जरूर आ जाता है। समस्त संकटों का मूल स्नेह भाव है। इस स्नेह में जो रंगा पँगा है वह बँध जाता है, और जो रागादिक भावों से भी न्यारा अपने आपको निरखता है, अपने को शुद्ध अकिञ्चन देखता है, मात्र ज्ञानानन्दस्वरूप प्रतीति में लेता हे वह कर्मों से छूट जाता है। इस कारण मुक्ति चाहने वाले पुरुष को अपने को ममता रहित अपने शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप को निरखना चाहिए।

**एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्र गोचरः ।**

**बाह्यः संयोगजा भावाः मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥27॥**

**ज्ञानी का चिन्तन** – ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि मैं एक हूँ, अकेला हूँ अपनी सब प्रकार की सृष्टियों में मैं ही एक परिणत होता रहता हूँ। मेरा कोई दूसरा नहीं है। मेरा मात्र मैं ही हूँ, निर्मम हूँ। मेरे में ममता परिणाम भी नहीं है और ममता परिणाम का विषयभूत कोई पदार्थ मेरा नहीं हे। मैं शुद्ध हूँ अर्थात् समस्त परपदार्थों से विविक्त अपने आपके द्रव्यत्व गुण से परिणत रहने वाला हूँ, योगीन्द्रों के द्वारा गोचर हूँ। मेरा यह सहज आत्मस्वरूप योगीन्द्र पुरुषों के द्वारा विदित है। अन्य समस्त संयोगजन्य भाव मेरे से सर्वथा पृथक है।

**नाना पर्यायों में भी आत्मा का एकत्व** – यद्यपि पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से यह जीव नाना रूप बनता है। मनुष्य बना, देव बना, नारकी हुआ, नाना प्रकार का तिर्यज हुआ। नाना विभाव व्यञ्जन पर्याये प्रकट हुई है फिर भी यह जीव अपने स्वरूप में एक ही प्रतिभासमान है, प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक होता है। कोई पदार्थ हो वह है और उसकी कुछ न कुछ

दशा है। पर्याय और द्रव्य इन दोनों से ही तदात्मक यह समस्त विश्व है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं है कि वह केवल द्रव्य ही हो और उसमें परिणति कुछ न होती हो और न कोई पर्याय ऐसा है कि केवल पर्याय ही है उसका आधारभूत कोई—द्रव्य नहीं है, इसी कारण यद्यपि आत्मा की नाना स्थितियाँ होती हैं, ज्ञानादिक गुणों का परिणमन भी चलता है और व्यञ्जनपर्याये भी नाना चल रही हैं तिस पर भी मैं सर्वत्र अकेला हूँ।

**व्यावहारिक प्रसंगों में भी एकाकित्व** – व्यावहारिक प्रसंगों में भी मैं अकेला हूँ। सुखी दुःखी भी मैं अकेला ही होता हूँ। जिस रूप भी परिणत होता हूँ यह मैं अकेला ही। किन्हीं भी बाह्य पदार्थों का ध्यान करके किसी विभावरूप परिणम जाऊँ, वहाँ पर भी यह मैं अकेला ही परिणत होता हूँ, दूसरा कोई मेरे साथ परिणत नहीं होता। मैं सर्वत्र एक हूँ। जो पुरुष अपने को एक नहीं निरख पाते हैं किन्तु मैं अनेक रूप हूँ, दूसरा कोई मेरे साथ परिणत नहीं होता। मैं सर्वत्र एक हूँ। जो पुरुष अपने को एक नहीं निरख पाते हैं किन्तु मैं अनेक रूप हूँ, मेरे अनेक हैं, मुझे अनेक वस्तु शरण हैं, अमुक पदार्थ के होने से मेरी रक्षा है – इस प्रकार के विकल्पों से अपने एकत्व को भूलकर किन्हीं बाह्य पदार्थों को लक्ष्य में लेकर मोहविकार रूप परिणमन में लगता है वह पुरुष संसार में ही भटकता है। एक अपने चैतन्यस्वरूप एकत्व को त्याग कर इसको उपयोग में न लेकर अब तक संसार में रुला हूँ।

**श्रद्धान कला से आनन्द या क्लेश की सृष्टि** – जिस भव में गया उस ही भव में जो मिला उसमें ही ममता की, जो पर्याय मिली उस ही रूप अपने को माना। गाय, बैल, भैंसा हुआ तो वहाँ उस ही रूप अपनी प्रतीति रखी। देव नारकी हुआ तो वहाँ उस ही रूप अपनी प्रतीति रखी। मनुष्य भवमें तो है ही, यहाँ ही देख लो, हम अपने निरन्तर मनुष्यता की प्रतीति रखते हैं मैं मनुष्य भी नहीं हूँ, किन्तु एक अमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप चेतन पदार्थ हूँ। ऐसी प्रतीति में कब—कब रहते हैं ? कभी नहीं। यदि ज्ञानानन्दस्वरूप की प्रतीति हो तो फिर आकुलता नहीं रह सकती है, आकुलता कहाँ है ? निराकुल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वको निरखें तो वहाँ आकुलता का नाम नहीं है। वह अपने स्वरूप से सतृ है, समस्त परभावों से मुक्त है। यह मैं आत्मा निर्मम हूँ। यहाँ शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व को निरखा जा रहा है, इसमें मिथ्यात्व, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कुछ भी परभाव नहीं है। स्वरसतः निरखा जा रहा है।

**विभावों के सम्बन्ध के विवरण में एक दृष्टांत** – यद्यपि वर्तमान में ये समस्त विभाव इस आत्मा के ही परिणमन हैं। रागी कौन हो रहा है ? यह जीव ही तो, परन्तु यह राग जीव में नहीं है, जीव के स्वभाव में राग नहीं है राग हो गया है। किसका बताएँ। जैसे जब दर्पण को देखते हैं तो उसमें सुख की छाया झलकती है, अब वहाँ यह बतलावो कि यह मुख के आकार का जो परिणमन है वह परिणमन क्या मुख का है अथवा दर्पण का है। दर्पण में जो मुँह का आकार बना है वह आकार यदि देखने वाले पुरुष का होता तो उसके



शरीर में फिर मुंह ही न रहता क्योंकि उसका मुंह तो दर्पण में चला गया। दो मुंह तो नहीं हैं, हम आपके एक एक ही तो मुंह लगा है। इसलिए वह दर्पण से हटा लो या मुंह को हटा लो वहाँ से तो कहाँ रहा मुंह का प्रतिबिम्ब? वह स्वच्छ का ही स्वच्छ है। जिस समय दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब झलक रहा है उस काल में भी ऐसा लगता है कि यह प्रतिबिम्ब दर्पण के ऊपर लोट रहा है। दर्पण में थमकर नहीं रह पाता। वह दर्पण से पृथक है।

**विभाव का किसी भी पदार्थ में टिकाव का अभाव** – ऐसे ही जो रागद्वेष भाव उत्पन्न होते हैं आत्मा में, ये रागादिक भाव क्या कर्म के हैं? यदि कर्म के रागादिक होते तो कर्म दुःखी हो रहे हैं, फिर मुझ जीव को क्या पड़ी है कि व्रत करे, तप करें, साधना करे। ये रागादिक तो कर्मों में हैं, दुःखी हो तो कर्म दुःखी हो, पर ऐसा तो नहीं है। ये रागादिक भाव कर्म में नहीं हैं, ये तो चेतन में ही परिणत हो रहे हैं, लेकिन क्या ये रागादिक इस चैतन्य के स्वभाव से उठे हुए हैं ? क्या इस जीव के स्वभाव में रागद्वेष करना पड़ा है ? इस तत्व को उसही दृष्टि में निहारे जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब की बात निरखी गयी थी। दर्पण में प्रतिबिम्ब डगमग डोलता रहता है। सामने मुख है तो दर्पण में प्रतिबिम्ब है, मुख को थोड़ा एक तरफ किया तो वह दर्पण का प्रतिबिम्ब भी एक तरफ हो गया। मुख हटा लिया तो प्रतिबिम्ब हट गया, मुख दर्पण के सामने कर लिया लो प्रतिबिम्ब आ गया। क्या दर्पण की चीज इस तरह से अस्थिर होती है? जरा-जरा सी देर में बिल्कुल हट जाये, जरा सी देर में फिर आ जाय, क्या ऐसी बात दर्पण में पायी जाती है ? नहीं। यह दर्पण का प्रतिबिम्ब नहीं है, यह औपाधिक है। ऐसे ही ये रागद्वेष मेरे स्वरूप में नहीं हैं, ये औपाधिक हैं ये कर्मों की उपाधि से उत्पन्न हुए हैं, कर्मों का उदय है वह निमित्त है, जीव में वे रागादिक होते हैं ये रागादिक मानो आत्मा में ऊपर-ऊपर ही लोट रहे हैं। भीतर तो स्वरूप और स्वभाव ठोस रूप से बना हुआ है।

**आत्मा में भेदषट्कारकता का अभाव** – यह आत्मा ज्ञानघन है आनन्दघन है। जो इसका स्वरूप है वह इसके स्वरूप में स्वभाव में स्थिरता से है। रागादिक मुझ आत्मतत्व में नहीं है। मैं निर्मम हूँ, शुद्ध हूँ। मैं हूँ और परिणत हो रहा हूँ, पर ये परिणमन, ये वर्तमान परिवर्तन किसके द्वारा हो रहे हैं, किसमें हो रहे हैं, किसके लिए हो रहे हैं ? यह भेद यहाँ नहीं है। बस ज्ञाताद्रष्टा बनो और यह निरख लो कि यह जीव है और इस तरह परिणम रहा है, वह दूसरे पदार्थ से नहीं परिणमता, वह दूसरे पदार्थ में नहीं परिणमता। समस्त कारक चक्र की प्रक्रियाये इस आत्मतत्व में नहीं है यह मैं परमार्थतः जाननहार हूँ, मैं जानता हूँ, किसको जानता हूँ? इस जानते हुए निजस्वरूप को जानता हूँ, किसी बाह्य पदार्थ को नहीं जान रहा है किन्तु बाह्यपदार्थ के सम्बन्ध में अपने आपका उस तरह से ज्ञान प्राप्त कर रहा है।

**पर के जानन का व्यवहार** – मैं जानता हूँ किन्तु इस जानते हुए को ही जानता हूँ किसी अन्य को नहीं जानता। भेदभाव में यह बात देर में बैठेगी पर एक युक्ति से देखो मैं जितना जो कुछ हूँ और जो यह मैं जो कुछ परिणम सकता हूँ वह अपने में ही परिणमूँगा किसी अन्य में नहीं। मेरी क्रिया, मेरी चेष्टा मेरे में ही होकर समाप्त होगी। जो कुछ भी मेरी क्रियाये है वे सब मेरे आत्मा मे ही होगी य अन्य मे होगी? तब इस बाह्य पदार्थ को वास्तव मे जाना कैसे? अपने आपको जाना है, पर उस जानन में जो बाह्य पदार्थ विषय होते है उनका नाम लगाया जाता है। जैसे एक लोक दृष्टान्त लो। हम दर्पण को देख रहे है, बड़ा दर्पण है, हमारी पीठ पीछे दो चार बालक खड़े है। उन बालको के निमित्त से इस दर्पण मे भी उन जैसा प्रतिबिम्ब हो गया है। हम क्या कर रहे है ? केवल दर्पण को देख रहे है और बताते जा रहे है सब कुछ, अमुक लड़के ने हाथ उठाया, अमुक ने पैर उठाया, अमुक ने हाथ हिलाया, उन लड़को की सब बातें हम कहते जाते है, जानते जाते है, पर हम देख रहे है केवल दर्पण को । तो जैसे हम केवल दर्पण को देख रहे है पर बातें सब लड़को की बता रहे है इसी प्रकार हम केवल ज्ञानमयी आत्मा को जान रहे है और बातें बताते है दुनियाभर की । पूर्वजो की, इतिहास की, लोक की स्थिति की, क्षेत्र की। सभी प्रकार की बातें बताते है, पर हम जान रहे है केवल अपने आत्मा को।

**ज्ञाता में ज्ञान का चमत्कार** – कैसा विशाल चमत्कार है, कैसा ज्ञानस्वरूप यह आत्मा है कि यह केवल ज्ञानस्वरूप आत्मतत्व को जार रहा है और बखान करता है अनेक पदार्थों का। मैं ऐसा शुद्ध हूँ, मैं जो कुछ करता हूँ, अपने को, अपने से, अपने में, अपने लिए अथवा करने का कुछ नाम ही नहीं है। मैं जो कुछ भी हूँ, बर्त रहा हूँ उतना ही मात्र द्रव्य पर्यायात्मक सम्बंध है। इस प्रकार यह ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा के स्वरूप को निरख रहा है, मैं शुद्ध हूँ। स्वभाव पर दृष्टि देकर यह बात समझी जा रही है कि मैं अपने आप अपनी ही सत्ता के कारण अपने में शुद्ध हूँ, ज्ञानमय हूँ।

**पदार्थों का पर के द्वारा अभेद्य स्वरूप** – भैया! जितने भी पदार्थ होते है सबमें अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्व, प्रेमयत्व ये 6 गुण होते है। अस्तित्व के कारण ये पदार्थ सत् है, इनमें है पना है, इनका अस्तित्वपना है वह अस्तित्व गुण का काम है। वह पदार्थ वही रहे, दूसरा न बन जाये, दूसरे रूप न हो जाय, अपने मे ही सत् है, परसे असत् है, ऐसा नियम वस्तुत्व गुण से हुआ है। प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमता रहे, परिणमन को छोड़कर वह विश्रात नहीं हो सके, यो द्रव्यत्व गुण के कारण यह निरन्तर परिणमता रहता है। अगुरुलघुत्व गुण से यह नियम बन जाता है कि यह पदार्थ अपने में ही परिणमेगा, किसी दूसरे में न परिणमेगा। प्रदेश इसमें है ही और प्रमेय भी है, इस प्रकार आत्मा में सभी पदार्थों की भाँति ये 6 गुण है, इसके अतिरिक्त सूक्ष्मत्व आदि अनेक गुण है किन्तु कल्पना करो कि इस आत्मा में ज्ञान गुण न होता और बाकी गुण होते तो क्या

स्थिति होती? क्या हो सकता था कुछ? नहीं । यो आत्मा ज्ञानमयी है, ज्ञानघन है, ज्ञानात्मक है। इस अंतस्तत्व को अध्यात्मयोगी पुरुष ही जान सकता है। जिन्होंने पर को पर जानकर निज को निज जानकर परपदार्थों के विकल्पो को तोड़ा है और केवल अपने आपके स्वरूप में ही रत रहा करते हैं ऐसे पुरुषों को ही इस शुद्ध चैतन्यस्वरूप का दर्शन होता है और इस चित् चमत्कार के अनुभव से ही यथार्थ मर्म को समझते हैं एवं विश्व के समस्त प्राणियों को एक चैतन्य के रूप में देखा करते हैं।

**संयोगज भावो की आत्मस्वरूप से भिन्नता** – यह मैं यथार्थ शुद्ध केवल आत्मा केवल योगिन्द्रो के द्वारा ही परिचय में आ सकता हूँ। अज्ञानी जन अपने आप की बात को नहीं समझते हैं। ऐसा यह मैं आत्मा सबसे विविक्त शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, जितने भी बाह्य भाव है, रागद्वेषादिक है, वे सब संयोगी भाव है। कर्मों के सम्बंध से यह भाव बनता है, जिसको यह प्रतीति नहीं है कि ये भाव सब संयोगी है, मेरे स्वरसतः होने वाले नहीं हैं, वे कभी मुक्त नहीं हो सकते। जिन अपराधों से मुक्त होना है उन अपराधों का मेरे में वस्तुतः प्रवेश नहीं है। मेरे स्वयं के उन अपराधों का भान हुए बिना कैसे मुक्ति प्राप्त हो सकेगी? समस्त ये औपाधिक भाव, संयोगभाव मेरे से सर्वथा स्वभावतः दूर है। यह सब जानकर कर्तव्य यह है कि जो उपादेय है उसे ग्रहण करें और जो हेय है उसका परिहार करें। उपादेय है यहाँ अपने आपका यह शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव। तन्मात्र ही अपने को अनुभवे तो वहाँ संकटों का ना ही नहीं है। जहाँ इस निर्विकार स्वरूप से चिगे और संयोग लक्षण बाले इन जड़ पदार्थों में ममत्व बुद्धि की, संकट वही से बन जाते हैं।

**प्रधान और गौण कर्तव्य** – उद्देश्य जीवन में एक प्रधान होता है और एक गौण होता है जैसे किसको मान बनवाना है, तो मकान बनवानेका उद्देश्य तो प्रधान है और उस मकान बनवाने के प्रसंगमें अनेक काम किए जाते हैं, जैसे ईंटें खरीदना है, सीमेन्टका परिमित बनवाना है, अमुक वस्तु लेना है, मजदूरों को इकट्ठा करना है, ये सब रोज-रोज प्रोग्राम बनते हैं, पर ये प्रधान उद्देश्य तो इसका एक है, जो भी इसने सोचा है। ऐसा ही ज्ञानी पुरुषका मुख्य उद्देश्य केवल एक ही होता है – निरपराध ज्ञानानन्दस्वरूप निज कारण प्रभुका दर्शन करना, चिन्तन और मनन करना। इसके अतिरिक्त इसकी ही साधनाके लिए दर्शन पूजन स्वाध्याय, जाप, सत्संग आदिक जितने भी प्रयोग हैं वे सब प्रयोग केवल एक इस उद्देश्यको सिद्ध करने के लिए हैं, वे मुख्य उद्देश्य नहीं हैं, वे सब गौण हैं। हमारा मुख्य उद्देश्य है संयोगजन्य भाव से मुक्त होकर सहज आनन्दस्वरूप में मग्न रहना, इसकी उपलब्धि जैसे हो इसका प्रयत्न करना यह हमारा गौण प्रोग्राम है।

**ज्ञानीका निर्णय** – ज्ञानी पुरुष अपने आपके स्वरूपका निर्णय कर रहा है। मैं एक हूँ, अपने लिए मैं अद्वैत हूँ। अपनी सब स्थितियोंमें मैं मैं ही हूँ। मेरा कोई दूसरा शरण अथवा साथी नहीं है समस्त कामनावोसें रहित हूँ। ज्ञानानन्दघन अध्यात्मयोग द्वारा मैं सर्व

परपदार्थोंमें उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूप हूं। इस ही तत्त्वकी आराधनाके प्रसाद से भृगवान अरंहत हुए हैं। जिनका हम पूजन वंदन करते हैं। उनकें और कला ही क्या थी जिससे वे आज हम लोगो के पूज्य कहलाते हैं, वह कला है स्वभाव दर्शनकी कला। वे अपने इस चित्स्वभाव में मग्न हुए थे, उसके ही प्रसाद से भव भवके संचित उनके कर्म जाल नष्ट हुए और अनन्त चतुष्टयसम्पन्न सर्व भव्य जीवोके उपास्य हुए, ऐसा होने का मेरेमें स्वभाव है। ज्ञानी संत इस स्वभावकी उपासना किया करते हैं।

**दुःखसंदोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम्।**

**त्यजाम्येनं ततः सर्वमनोवाक्कायकर्मभिः।।28।।**

**ज्ञानी सकल संन्यास का चितन** – ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है और संकल्प करता है कि इस प्राणी को जितने भी क्लेश समूहका भाजन होना पड़ा है वह सब इस शरीर आदिके संयोग से ही होना पड़ा है। इस कारण मैं मनसे, वचनसे और कायसे इन समस्त समागमों को छोड़ता हूं। मैं भी अमूर्त ज्ञानानन्दमय केवल अपने स्वरूप मात्र हूं। इस मुझ आत्मतत्त्वमें किसी दूसरे पदार्थका सम्बंध भी नहीं है। ऐसी दृष्टि हो जाय और समस्त बाह्य पदार्थों से उपेक्षा हो जाय तो यही उनका छोड़ना कहलाता है। इसमें कषयकी बात कुछ नहीं है। जैसे कोई लोग कहें कि वाह! मानते जावो ऐसा कि मैं सबसे न्यारा हूं। और छोड़ो कुछ भी नहीं। यहाँ कुछ भी छलकी बात नहीं है, केवल ऐसा अनुभव में उतर गया कि मैं सबसे विविक्त हूं तो उसने सबको छोड़ दिया। अब ऐसी प्रतीति बहुत काल तक बनी रहती है तो बहुत काल तक छूटा हुआ रहेगा और कुछ ही क्षण बाद पूर्व वासनाके कारण फिर उनमें चित्त गया तो वह ग्रहणका ग्रहण ही है।

**आनंदका का भेदविज्ञान** – भैया! जितना भी आनन्द मिलेगा प्रत्येक जीवको वह भेदविज्ञान ही मिलेगा। भेदविज्ञान बिना आनन्द मिलेका अन्य कोई उपाय ही नहीं है लोकमें कही ऐसा नहीं है कि धनिकोको करोड़ों के धन वैभवसे आनन्द मिल जायगा और गरीबो को भेदविज्ञान आनन्द मिलेगा। जिन्हे भी आनन्द मिलेगा भेदविज्ञान ही मिलेगा, चाहे अमीर हो चाहे गरीब। कारण यह है कि आनन्द में बाधाको डालने वाला विकल्प हुआ करता है और विकल्पोकी उत्पत्ति होने के लिए परपदार्थ आश्रय होता है। बाह्य साधन तो जिसको जितने मिले हैं, उसे प्रायः उतने विकल्प बढ़ेंगे, और जिसके विकल्प बढ़े हुए हैं उन्हे आनन्द न मिलेगा। समागम हो तब भी, न हो तब भी, आनन्द तो भेदविज्ञान से ही मिलेगा। लोग कभी-कभी अपनेमें बड़ा झंझट समझते हैं। मैं बहुत चक्करमें पड़ गया, मुझे इतना क्लेश है। अरे ये सारे क्लेश समस्त संकट भेदविज्ञान के उपाय से सबसे न्यारा अपनेको मान लेनेसे मिट जाते हैं। सबका विकल्प तोड़ने से अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव होनेपर सारे संकट समाप्त हो जाते हैं।

**प्रभुका आदर्श व आदेश** – जिनके संकट समाप्त हो चुके हैं ऐसे प्रभु भगवानका यह उपदेश है कि जिस उपाय से हम संकटोंसे मुक्त हुए हैं इसी उपायको भव्यजन करेंगे तो संकटोंसे छूटनेका अवसर पावेंगे। संकटोंसे छूटने का उपाय भेदविज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं है। एक ही निर्णय है। कहीं ऐसा अनियम नहीं है किसीको धनसे आनन्द मिलता हो, किसीको इज्जत मिलने से आनन्द मिलता हो, किसीको अनेक काम मिलने से आनन्द मिलता हो, किसी को अच्छा परिवार रहनेसे आनन्द मिलता हो, जिसे भी आनन्द मिलेगा वह भेदविज्ञान से मिलेगा।

**मिथ्या आशयमें क्लेशकी प्राकृतिकता** – जो जीव शरीरादिक से अपने को अभेदरूप से मानता है, अर्थात् यह मैं हूँ ऐसी उनमें आत्मकल्पना करता है उस शारीरिक कष्ट भी होता है, मानसिक कष्ट भी होता है और क्षेत्र समागम आदिके कारण भी कष्ट हो जाता है। मिथ्या धारण हो, प्रतीति हो वहाँ दुःख होना उस मिथ्या श्रद्धानके कारण प्राकृतिक है। दुःख किसी परवस्तुसे नहीं होता, दुःख भी अपने आपकी कल्पना से, मिथ्या धारणासे होता है। सारी चीजें अनित्य हैं। जो घर मिला है, घरमें जो कूछ है, जितना संग जुटा है वह सब अनित्य है। उन्हें कोई नित्य माने और ये मोही मानते ही हैं। ये दूसरे के समागमको तो अनित्य झट समझ लेते हैं, ये समागम मिट जायेंगे, मर जायेंगे लोग, कोई न रहेंगे यहाँ, किन्तु अपने समागमके सम्बंधमें यह विशद बोध नहीं है कि यह भी मिट जायगा। यदि यह ध्यान में रहे कि यह सब मिट जायगा तो फिर इसकी आसक्ति नहीं रह सकती है। इसने अनित्यको नित्य मान लिया, इसीसे आफते लग गयीं।

**भ्रातिमें उलझन और निर्भ्रान्तिमें सुलझन** – भैया! अनित्यको नित्य मानने के विकल्प में एक आपत्ति तो यह है कि जब मान लिया कि ये सदा रहेंगे तो उनके बढ़ावाके लिए, संग्रहके लिए, जीवनभर इसे श्रम की ज्वालामें झुकना पड़ता है। दूसरी आपत्ति यह है यह अनित्यको नित्य मान लेनेसे तो कहीं यह जगजाल नित्य तो नहीं हो जाता। बाह्यसमागम तो अपनी परिणतिके माफिक बिछुड़ जायेंगे। यह मिथ्यादृष्टि जीव अनित्यको नित्य मानता है, सो ज वियोग होता है तब उसके वियोग में दुःखी होता है। यदि अनित्यको अनित्य ही मानता होता तो उसमें लाभ था। पहिला लाभ यह कि इन बाह्य पदार्थों के संचय के लिए अपना जीवन न समझता और श्रममें समय न गंवाता और दूसरा लाभ यह होता कि किसी भी क्षण जब ये समागम बिछुड़ते तो यह क्लेश न मानता।

**अज्ञानके फल फूल** – जितने भी लोग घरमें बस रहे हैं, जिन दो एक प्राणियोंसे सम्बन्ध मान रखा है, उनका वियोग जरूर होगा। पुरुष स्त्री है, कभी तो वियोग होगा ही। पुरुषका भी वियोग पहिले सम्भव हो सकता है और स्त्रीका भी वियोग पहिले सम्भव हो सकता है। वियोगकालमें कष्ट मानेंगे। यह बात प्रायः सभी मनुष्योंपर गुजर रही है। जब तक मनके प्रतिकूल कोई घटना नहीं आती है, मौजमें समय कट रहा है और यह बीता

हुआ समय जाना भी नहीं जा रहा है मेरी इतनी आयु हो गयी है कुछ जाना ही नहीं जाता है लेकिन सभी जीव चाहे बड़े यशस्वी हो सभीपर यह बात आयगी। जो समागम मिला है वह किसी दिन आवश्य बिछुड़ेगा। अब जब बिछुड़ेगा तो वही वही क्लेश जो औरोंके आता है, इसे भी आयगा। तो जो पदार्थ जैसा नहीं है वैसा मानना अर्थात् वस्तुस्वरूपसे उल्टी धारणा बनाना, इसमें दुःखी होना प्राकृतिक बात है। इस ही वैभव के ममत्व के कारण दुःख है। किसी अन्य पदार्थ के होने अथवा न होने से दुःख नहीं है। इस संसारकी जड़ अज्ञान है। कितने ही लोग तो इस संसारपर दया करके कह देते हैं कि ला सभी लोग ब्रह्मचारी हो गए तो संसार कैसे चलेगा? सभी ज्ञानी वैरागी हो गए तो संसारकी क्या हालत होगी? उनको संसारपर तरस आती है, दया आती है। कही संसारकी वृद्धि में बाधा न हो, देखा इस अज्ञानीका बहाना।

**ज्ञान, वैराग्यसे क्लेशक्षय** – बहुत तीक्ष्ण धारा है इस कल्याणमार्गकी, किन्तु जो इस ज्ञानवैराग्यकी धारापर उतर गया और निरूपद्रव पार कर गया वह संकटों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। जितने भी यहाँ क्लेश हैं वे सब मन, वचन, कायकी क्रियाओंके अपनाने में हैं। इस जीव ने मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति की, उससे आत्मयोग हुआ, प्रदेश परिस्पंद हुआ, कर्मोंका आस्रव हुआ और साथ ही इसमें मिथ्या आशय और क्रोधादिक कषायोंसे कर्मोंका बंध हुआ। अब ये बद्ध कर्म जब उदयकाल में आती हैं, आये थे तब इस जीवको विभाव परिणति होती है व हुई और चक्रकी तरह ये भावकर्म द्रव्यकर्म चलते ही रहे। उनके फलमें सुखी दुःखी होना, इष्ट अनिष्ट लगना सब दुःख परम्पराये बढ़ती चली आयी। सो सारे दुःखका झगड़ा लो यों मिट जायगा। कि इस मनको, वचनको, और काय को अपनेसे भिन्न मान ले। ऐसा भिन्न माननेमें यह धीर साहसी आत्मा उस विपदाके पहाड़के नीचे भी पड़ा है तब भी बलिष्ठ है, उसे रंच भी श्रम नहीं होता है।

**भेदाभ्यासके बिना संकट विनाशका अभाव** – इस जीवका संसरण तब तक है जब तक मन, वचन, कायको अपना रहा है। कितना क्लेश है? किसीने प्रतिकूल बात कही, निन्दाकी बात कही तो यह चित्त बेचैन हो जाता है। क्या हुआ किसीने कुछ उसे कहा ही न था। वे वचन भी मायारूप, वह कहने वाला भी माया रूप, यह सोचने वाला भी माया रूप, और उस आत्मा की प्रवृत्ति से वचन भी नहीं निकलते निमित्तनैमित्तिक सम्बंधमें उन वचन वर्णनावोसे वचन परिणति हुई और वे वचन मुझमें किसी प्रकार आ ही नहीं सकते। यह प्रभुरूप है इसलिए जान लिया इसने सब। अब रागसे प्रेरित होकर कल्पना मचाता है। उसने हमें यो कह दिया! उन कल्पनावोमें परेशान हो जाता है। एक यह निर्णय बन जाय कि यह शरीर ही मैं नहीं हूँ फिर सम्मान अपमान कहाँ ठहरेगे? मन, वचन, काय इन तीनोंको जो त्याग देता है, इनसे भिन्न केवल शुद्ध ज्ञानास्वरूपमात्र अपनेकी निरखता है तो इस भेदके अभ्याससे इस जीवको मुक्ति होती है।

**भ्रममें अशांति व अस्थिता** – भैया ! जब तक भ्रम लगा है तब तक चैन नहीं हो सकती। कोई कितना ही प्रिय मित्र हो, किसी प्रवृत्तिको देखकर भ्रममे यह बात बैठ जाय कि अब अमुक तो मेरे विराध मे 'है, तो इस विरोध मान्यताकी भावनासे यह बेचैन हो गया। विरोध उपयोगमें पड़ा हुआ है इसलिए उस मित्रकी सारी चेष्टाएँ विरोधरूप दीखती है, इससे विराध भावना और बढ़ जाती है, चैन नहीं मिलती है भ्रममे। फिर यहाँ तो आत्मा का भ्रमहो गया, पूरा मिथ्या आशय बन गया है। जो मैं नहीं हूँ उसे मानता है कि यह मैं हूँ। बस इस आशय से ही क्लेश हो गया, किसी एक बात पर थमकर ही नहीं रहता यह मोही जीव। किसी को अपना मानता है तो उस ही को अपना मानता रहे, देखो किसी दूसरे को अपना न माने, जरासी दृढ़ता कर ले, पर मोहमें यह भी दृढ़ता नहीं रहती है। सच बात हो तो दृढ़ता रहे। झूठ बातपर टिकाव कैसे हो सकता है?

**पर्यायमें मोहकी अदल बदल** – यह मोही जीव इस देहको आत्मा मानता है तो देखो इस देहकी ही आत्मा मानते रहना, फिर कभी हट न जाना अपनी टेकसे। अहो हट जाता है टेकसे। मृत्यु हुई, दूसरा शरीर धारण किया, अब उस शरीर को अपना मानने लगा। आज कैसा सुडौल है, अच्छे नाक, आँख, कान है और मरकर मगरमच्छ बन गये तो उस धावाथूल शरीरको ही अपना सर्वस्व मानने लगा। जीव मैं वही हूँ। अब जिस पर्यायमें गया उसको ही मैं माना। इस मनुष्यको ये भैसा, बैल, सूकर, कूकर आदि न कुछसे विचित्र मालूम होते हैं बेढगे कहाँसे हाथ निकल बैठे, और कैसा पूरे अंगोसे चल रहे हैं। सब बेढगे मालूम होते हैं, सम्भव है कि इन सूकर, कूकर, गाय, भैसोको भी यह मनुष्य बेढंगा मालूम होता होगा। जिसको जो पर्याय मिली है उसको वह अपनी उस ही पर्यायको सुन्दर सुडौल ढंगकी ठीक मानता है, उसके अतिरिक्त अन्य देह आकार ढांचे तो बेढगे मालूम होते हैं।

**कुटेव में स्थिरता व शांति का अभाव** – यह जीव किसी एक बातपर थमकर ही नहीं रहता। चाहे तुम धनको प्रिय मानते हो, सर्वस्व मानते हो तो मानते ही रहो, देखो टेकसे हट मत जाना। लेकिन अपने शरीर में कोई व्याधि हो जाय या कुटुम्ब के लोग कोई विपत्ति में पड़ जाये तो उस ही धनको बुरी तरह खर्च कर डालते हैं। यह टेक नहीं निभा पाता, किसी भी चीज में स्थिर नहीं हो पाता। यह अनेक इन्द्रियविषयसाधनोको ग्रहण कर करके डोलता है, दुःखी रहता है। यह जीव संसारमें तब तक भ्रमण करता रहता है जब तक मन, वचन, कायको यह मैं ही हूँ ऐसी प्रतीति रखता है।

**भेदप्रयोग** – भैया ! यह भ्रमबुद्धि दूर हो, शरीर मैं नहीं हूँ ऐसी प्रतीति करे, छोड़ा तो जा सकता है शरीरका ध्यान, न शरीर को ज्ञानमें ले। यह जाननहार ज्ञान स्वयं क्या है, इसका स्वयंका स्वरूप क्या है, यह बुद्धि लायें तो क्या लायी नहीं जा सकती? छोड़ दो इस शरीरका विकल्प। वचनोंका भी विकल्प त्यागा जा सकता है। पर कायके विकल्पसे कठिन वचनका विकल्प है। ये दोनो भी त्यागे जा सकते हैं, पर मनका विकल्प सबसे कठिन है।

कायके विकल्पसे कठिन वचनका विकल्प और वचनके विकल्प से कठिन मनका विकल्प है। कुछ-कुछ ध्यान में तो बनाया जा सकता है। शरीर मैं नहीं हूँ। कोई जाननहार पदार्थ मैं हूँ, वचन भी मैं नहीं हूँ, कोई ज्ञान प्रकाश मैं हूँ, पर चित्त मन जो अंतरंग इन्द्रिय है, जिसका परिणमन ज्ञानविकल्पमें एकमेक चल रहा है उस मनसे न्यारा ज्ञानप्रकाश मात्र मैं हूँ, ऐसा अनुभव करना कठिन हो रहा है। लेकिन यह मनोविकल्प जिसके कारण सहज आत्मतत्त्वका अनुभव नहीं हो पाता है यह भी भ्रम है, मनोविकल्पका अपनाना यह भी कष्ट है जो जीव कायसे, वचनसे और मनसे न्यारा अपने आपको देखता है, वह संसारके बंधन से छूटकर मुक्तिको पाता है।

**विभक्त आत्मस्वरूपकी भावना** – इन जीवोको यहाँकी बातें बहुत बड़ी मीठी लगती हैं, पर एक बार सभी झंझटोंसे छूटकर शुद्ध आनन्दमें पहुँच जाय तो यह सबसे बड़ी उत्कृष्ट बात है। जो सदाको संकटोंसे छुटानेका उपाय है उस उपायका आदर किया जाय तो यह मनुष्य जीवन सफल है, अन्यथा बाह्य में कुछ भी करते जावो, करता भी यह कुछ नहीं है, केवल विकल्प करता है। कुछ भी हो जाय बाह्य पदार्थमें किन्तु उससे इस आत्माका भला नहीं है। समस्त प्राणियोंको मन, वचन, कायके संयोगसे ही दुखसमूहका भाजन बनना पड़ा है। अब मैं मनसे, वचनसे, कायसे अर्थात् बड़ी दृढता से इन सबका परित्याग करता हूँ, और मैं केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूँ इस अनुभवमें बसूंगा, ऐसा ज्ञानी यथार्थ चिन्तन कर रहा है और अपने आपको सर्व विविक्त केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र अनुभव करता है।

**न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।**

**नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ।।29।।**

**ज्ञानी के मरणभयका अभाव** – मेरे मृत्यु नहीं है, फिर मेरे भय कहाँसे पैदा हो? जब मेरे मे व्याधि ही नहीं है तो व्यथा कहाँ से बने? मैं बालक नहीं, वृद्ध नहीं और जवान भी नहीं हूँ। ये सब दशाये पुद्गलमें होती हैं।

**ज्ञानीके मरणभयका अभाव** – जिस जीवको अपने चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वका निश्चय हो जाता है उस जीवके मृत्यु नहीं होती है। ये बाह्य प्राण, इन्द्रियबल, कायबल, आयु, श्वासोच्छ्वास मिट जाते हैं, परन्तु मैं नहीं मिटता। ये विकारभाव है। लोकमें इन प्राणोंके वियोग का नाम मरण कहा है किन्तु वास्तवमें प्राणोंके दूर हो जानेपर उसका विनाश नहीं होता है। मैं मृत्युरहित हूँ। शरीर मुझसे भिन्न है, विपरित स्वभाव वाला है। यह मैं परमार्थ चैतन्यतत्त्व हूँ। इसका कभी विनाश नहीं है, शरीरका विनाश है। शरीर का वियोग शरीर का बिछुड़ना शरीरकी स्थिति है, जीवकी नहीं है। आत्माका स्वरूप आत्मा का प्राण ज्ञानदर्शन है, चैतन्यस्वरूप है, उसका कभी भी अभाव नहीं होता है, इस कारण जीवका कभी मरण ही नहीं है, यह निर्भय निःशक रहता हुआ अपने स्वरूपका अनुभव कर रहा है।



मरण नाम है आगे जन्म होनेका। नवीन जन्म लेनेका नाम मरण है। जिसका नवीन जन्म नहीं होता ऐसे अरहंत भगवानका मरण भी नहीं कहा जाता है। उसका नाम है निर्वाण। जिसके बाद जन्म हो उसका नाम मरण है। इस आत्माका न कभी जन्म है न कभी मरण है। अपने सहजस्वरूपको दृष्टिमें लेकर चिन्तन करिये। यह शरीर जिसमें बँधा हुआ है। यह शरीर मेरा साथी नहीं है, मेरा कुछ भी आत्मतत्त्व नहीं है। शरीरकी बात शरीरमें है, मेरी बात मुझमें है। यह मैं आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप प्रभुकी तरह प्रभुतासे भरा हुआ हूँ। स्वरसतः अनन्त चतुष्टयात्मक आत्मसमृद्धिसम्पन्न मैं आत्मा हूँ। इसमें कहाँ भय है?

**मोहियोका विकट भय** – सबसे विकट भय जीवको मरण का रहा करता है। कोई पुरानी बुढ़िया जो रोज-रोज भगवान का नाम इसलिए जपे कि भगवान मुझे उठा ले अर्थात् मेरी मौत हो जाय, होगा कोई दुःख। और कदाचित् सांप सामने आ जाय तो वह अपने छोटे पोतोको पुकारती है कि बेटा बचावो सांप आया है, और बेटा अगर कह दे कि तुम तो रोज भगवानका नाम जपती थी भगवान मुझे उठा ले, सो भगवानने ही भेजा है यह, अब काहेको बुलाती है हमें? लेकिन मरणका भय सबको लगता है।

**आत्मज्ञानमें भयका अभाव** – जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, जो जानते हैं कि यह शरीर नहीं रहा, यह धन वैभव सम्पदा नहीं रही, लोगोमें मेरी उठा बैठी न रही तो क्या है, ये तो सब मायास्वरूप है। मैं आत्मा सत् हूँ, मेरा सुख दुःख आनन्द सब मेरी करतूतके आधीन है, यहाँके मकान सम्पदा मेरे आधीन नहीं है। यों आत्मतत्त्वका चिन्तन हो तो उसे भय नहीं रहता। भयकी चीज तो यही समागम है। जिसके पास वैभव है उसको भय है, जिसके समीप कोई वैभव ही नहीं है भले ही वही अन्य जातिका दुःख माने, पर उसे कुछ भय तो नहीं है। न चोरका, न डाकूका, न किसीका छलका, कोई प्रकारका उसे डर नहीं है। बाह्य चीजोसे निर्भयता नहीं आती है किन्तु आत्मज्ञानके बलसे निर्भयता प्रकट होती है। क्या है, न रहा यह तो क्या बिगड़ गया? इससे भी बहुत अच्छी जगह है दुनिया में। यहाँ न रहा और जगह पहुंच गया, क्या उसका बिगड़ है? यों जो अपने शुद्धसत्त्व का चिन्तन करता है उस तत्त्वज्ञानी पुरुषको भय नहीं होता।

**वस्तुके प्राणभूत स्वरूपका विनाश** – मेरा प्राण मेरा ज्ञान दर्शन है, मेरा चैतन्यस्वरूप है। प्राण उसे कहते हैं कि जिसके वियोग होनेपर वस्तु खत्म हो जाय। जैसे अग्निका प्राण गर्मी है। गर्मी निकल जाय तो अग्नि खत्म हो जाती है, उसका सत्त्व ही नहीं रहता है। ऐसा मेरा कौनसा प्राण है जिसके निकलनेपर उसका सत्त्व नहीं रहता है? यद्यपि ऐसा होता नहीं। जिस पदार्थका जो सत् है वह तीन काल भी नहीं छूटता है। अग्नि तो कोई पदार्थ है नहीं, वह तो पुद्गल पर्याय है। अग्नि तो परिणति है। परिणतिका वस्तुतः क्या प्राण बताये? पदार्थका प्राण बताया जाता है, मेरा कभी भी मिट नहीं सकता, इस कारण यह मैं आत्मा अमर हूँ। क्या मेरे भय है?

**ज्ञानी देहव्यथाका अभाव** – ज्ञानी पुरुषको शारीरिक पीड़ाकी भी शंका नहीं रहती है। मैं आत्मा आकाशवत् अमूर्त निर्लेप ज्ञानानन्द प्रकाशमात्र हूँ, इस मुझ आत्मामें व्याधि कहाँ है? यहाँ कोई ऐसा सोच सकता है कि जब तबियत अच्छी होगी तब यह बात कही जाती। जरा सिरदर्द हो जाय या कुछ बात आ जाय फिर यह बात भूल जाती है, भूल जावो, फिर भी जिसे तत्वज्ञान है, वह व्याधियोंके समयमें भी आकुलित नहीं होता है, सब आपदाओको धीरतासे सहन करता है, और जिनके तत्वज्ञानकी परिपूर्णता है उनको यह भी विदित नहीं हो पाता कि इस शरीरपर कोई बैठा भी है। यह शरीर मुझसे पृथक् है। यह मैं आत्मा जब शरीरकी और दृष्टि देता हूँ तो इस शरीर की व्यथाएँ मुझे विदित होती है अन्यथा नहीं। मेरे कोई व्यथा नहीं है। मैं आनन्दमग्न हूँ।

**आत्मामें देह दशाओका अभाव** – मैं बालक नहीं हूँ, वृद्ध नहीं हूँ और जवान भी नहीं हूँ। किसका नाम बालक है? शरीरकी ही प्रारम्भिक अवस्थाको बालक कहते हैं। यह बालपन पुद्गलमें ही हुआ। आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र है। शरीरकी जो मध्यम परिस्थिति है उसे जवानी कहते हैं, यह जवानी शरीर में होती है शरीर का धर्म है। आत्माका तो गुण है नहीं। शरीर की ही परिपक्वदशा व उत्तरदशा बुढ़ापा कहलाता है। यह बुढ़ापा भी मुझे आत्मामें नहीं है। यह मैं आत्मा तो केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूँ। इस प्रकार यह ज्ञानी पुरुष मिले हुए सब समागमो को अपने से पृथक् निहारता है। जब आत्माको यह निश्चय हो जाता है कि तू चेतन है, ज्ञान दर्शनआदिक गुणोका अखण्डपिण्ड है तो इस ज्ञान आदिक गुणोका कभी विनाश नहीं होता, ऐसी दृष्टि बनती है यही तो मेरी आत्मनिधि है। जो मेरे स्वरूपमें है वह कभी मिट न सकेगा, जो मुझमें है वह मुझसे कभी अलग होता नहीं जो मुझमें नहीं है वह कभी मुझमें आता नहीं है।

**परपदार्थका आत्मामें अत्यन्ताभाव** – दृश्यमान समस्त परिणतियाँ दृश्यमान समस्त पदार्थ तेरे कुछ नहीं हैं, न तू उनका कभी हुआ है और न कभी हो सकता है परसे तू त्रिकाल भिन्न है। है उदय पुण्यका, ठीक है, किन्तु क्या वैभव में तू एकमेंक बन सकता है? तू तू ही है, अन्य अन्य ही है। कर्मोदयवश कुछ दिनों का यह साधन संयोग बन गया है। जैसे सफर करते हुए किसी सराय में एक जगह ठहर जाते हैं। अन्य अन्य देशो से आये हुए कुछ पुरुष, पर वे कुछ समय के लिए ही ठहरे हैं, एक दूसरे का जो संयोग बन गया है वहाँ वह कुछ समय के लिए ही बना है। कुछ समय ही बाद अथवा प्रातःकाल होते ही सब अपने-अपने अभिमत देशोको चले जाते हैं। रास्ता चलते हुए सराय में मनुष्य रात भर ही टिकते हैं, दिनको नहीं रहते हैं, प्रातः काल हुआ कि रास्ता नापने लगते हैं। ऐसे ही यहाँ कुछ समय का मेल है, मोही जीव इस कुछ समय के मेलमें ही ऐसी कुटेव ठान लेते हैं कि यही तो मेरे सब कुछ हैं। मेरा मरना जीना इन्हीके लिए तो है ऐसा मोह भाव बसाकर अपने आपको दूर्गतिका पात्र बना लेते हैं।

**नीरोग ज्ञानस्वरूपका चिन्तन** – शरीर में नाना रोग होते हैं। वे शरीरके विकारसे होते हैं। वात, पित्त, कफ – ये तीन जो उपधातुये हैं, इनका जो समान अनुतापसे रहना है उसमें भंग हो जाय, विषमता आ जाय तो इस शरीरमें रोग पैदा हो जाता है। यह शरीर ही मैं नहीं हूँ तो मैं रोगका क्या अनुभव करूँ ? ज्ञानी पुरुष निरन्तर निज ज्ञानस्वरूपका ही चिन्तन करते हैं।

**धन जीवनविषयक मोहके अभावमें कर्मफलका अननुभव** – जगत के जीवोको ये कर्म सता रहे हैं। केवल दो बातों पर ये कर्म सता रहे हैं। यदि उन दो बातों का मोह न रहे तो फिर कर्मोका सताना ही कुछ न ठहरे। वे दो बातें हैं धन और जीवन। जीवनका लोभ ये दो लोभ हैं तब कर्म सता रहे हैं, न रहे ये तो कर्म क्या सतायेगे? जैसे कोई पक्षी कहींसे कुछ खानेकी चीज चोंचमें ले आये तो उसे देखकर बीसो पक्षी उस पक्षी के ऊपर टूट पड़ते हैं। वह पक्षी अपनी जान बचानेको तरसने लगता है। अरे क्यों दुःख मानता है वह पक्षी? जो चोंचमें लिए है उसको चोंच से निकालकर बाहर फेंक, फिर कोई भी पक्षी उसे न सतायेगा। ऐसे ही इस जीव ने धन और जीवन इन दोनोसे राग किया है ये सदा काल तक जीते रहना चाहते हैं और धन सम्पदाकी कुछ सीमा भी नहीं बनाना चाहते। लखपति हो जाय तो करोड़पतिकी आशा, करोड़पति हो जाय तो अरबपतिकी आशा। जो आज बहुत बड़े धनी हैं उनको अब जरूरत भी कुछ नहीं है। तो धर्मसाधनामें क्यों नहीं जुट जाते? तृष्णा लगी है तब तक ये कर्म सताने वाले बनते हैं। ये दो बातें ही न रहे,, न धनकी तृष्णा भावे और न जीवनका लोभ करे, फिर कर्मका सताना ही क्या रहेगा?

**ज्ञानीकी ज्ञान से अविचलितता** – भैया ! कुछ यथार्थ ज्ञान तो करो जीऊं तो जीऊं तो क्या? मैं आत्मा तो अमर हूँ। इसका प्राण तो ज्ञान दर्शन है। उसका कभी वियोग नहीं होता। क्या क्लेश है? मेरा धन तो मेरा स्वरूप है वह कही नहीं जाता। धन जाय तो जाय क्या क्लेश है, यों धन और जीवन दोनो का मोह छोड़ दे तो फिर कर्म क्या कर सकते हैं? जब हम स्वयं ही कमजोर हैं, उपादान निर्बल हैं तो अनेक दुखी होनेके निमित्त मिल जायेगे। जब आत्मा बलिष्ठ है, ज्ञानबल जागरूक है, अपने शुद्ध स्वभावी परख है, उसका ही ग्रहण हो रहा है तब सारा जगत् भी प्रतिकूल हो जाय कोई कुछ भी बातें कहें क्या असर होता है इस ज्ञानीपर। यह ज्ञानी पुरुष तो जो अपने उपयोगमें कर्तव्य निश्चित कर चुका है उस कर्तव्य से विचलत नहीं होता है।

**संसार व्यवहार का वैचित्र्य** – यह संसार बड़ा विकट है। कोई पुरुष अधिक बात बोले तो लोग कहते हैं कि यह बड़ा बकवादी है, यदि कुछ बात न बोले, चुप रहे तो लोग कहते हैं, कि यह बड़े गुरुर वाला है, किसी से बोलता नहीं है। कोई मधुर बात बोले तो लोग कहते हैं कि यह जबान का मीठा है पर अंतरंग में मिटाई नहीं है, कोई कठोर वचन बोले तो कहते हैं कि इसे बोलने का कुछ भी सहूर नहीं है। यह तो लहमार वचन बोलता

है, कुछ कर्तव्य न करे तो लोग कहेंगे कि यह बड़ा कायर है, यह कुछ करता ही नहीं है, कुछ करे तो लोग कहेंगे कि यह सब विपरीत कार्य करता है। अरे संसार में जो कुछ भी कार्य किया जाता है वह सब विपरीत ही तो है? आत्मा की करतूत किसमें है सो बतावो ? आत्मा की करतूत तो ज्ञाता दृष्टा रहने में है, बाकी तो सब जंजाल है। यहाँ लोगो के निर्णय पर तुम अपना प्रोग्राम रखोगे क्या? इससे पूरा न पड़ेगा। लोग कुछ भी विचारें, तुम अपने आत्मा से न्याय की बात सोच लो और उस पर फिर डट जावो । दूसरो की वोट पर अपने पग बढ़ाने में बुद्धिमानी नहीं है किन्तु अपने अंतः ईश्वर से आज्ञा लेकर जिस काम को यह उचित समझता हो, स्वपर हितकारी जानता हो उस धुन को लेकर बढ़ते चले जाइए। तुम्हें जो कुछ मिलेगा अपने परिणमन से मिलेगा, इस कारण अपने परिणमन में ही शोधन कर लेना चाहिए कि मुझे किस तरह रहना है?

**निःसंकट स्वरूप के अवलम्बन की स्वच्छता में बाधाओ का अभाव –** भैया! मुझे किसी प्रकार का संकट नहीं है। निःसंकट स्वभाव का आलम्बन हो तो फिर क्लेश का कोई अवसर नहीं आ सकता। मेरे मृत्यु भय नहीं है, मेरे व्याधि नहीं है, मेरे व्यथा भी नहीं है। सर्व अवस्थाओ से शून्य केवल शुद्ध ज्ञानमात्र मैं हूँ, ऐसा ज्ञानी जन आपने आपके स्वरूप का निर्णय करते हैं। जिसे धर्म पालना है, धर्म पालना है, धर्म में प्रगति बढ़ाना है उसे पहिले यह चाहिए कि वह अपने हृदय को स्वच्छ बना ले। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ इन विकारो से आत्मा में मलिनता बढ़ती है, पहिले स्वच्छ करिये अपना हृदय। अपने अंतरंग को पवित्र वही बना सकता है जो यथार्थ निज को निज पर को पर जान लेता है। मैं सर्व बाधाओं से रहित हूँ, संकटो का मुझ में नाम नहीं है, ऐसी निःसंकट ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व की श्रद्धा हो, उसमें ही उपयोग को समाया जाय तो सर्व प्रकार के संकट दूर हो जाते हैं।

**माया से परे परमज्योति का चिन्तन –** जो मिलकर बढ़ जाय और बिछुड़कर घट जाय वह तो सब व्यक्त माया है। जिस वस्तु में मिलन हो रहा है यदि वह सब वस्तु मिलक बढ़ गयी है और बिछुड़कर घट जाने वाली है वह सब पुद्गल है। पूरण और गलन की जिसमें निरन्तर वर्तना चल रही है उसको पुद्गल कहते हैं। पुद्गल के ही संयोग से जीवन, पुद्गल के वियोग से मरण, पुद्गल के वियोग से ही व्याधि और पुद्गल कहते हैं। पुद्गल से व्यथा है। यह मैं आत्मा समस्त पुद्गलो से विविक्त केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र शाश्वत अंतः प्रकाशमान हूँ, उसे न देखा, न आश्रय किया इसने। उसके फल में अब तक रूलता चला आया हूँ। अब मोह को तजे, रागद्वेष को हटावे, अपने आधारभूत शुद्ध आत्मतत्त्व को ग्रहण करे, ऐसा यत्न करने में ही जीवन की सफलता है अन्यथा कितने ही कीड़े कितने ही एकेन्द्रिय जैसे मरते हैं रोज-रोज वैसे ही मरण कर जाने में शुमार हो जायगी। ज्ञानी पुरुष अपने को सबसे न्यारा केवल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र प्रतीति में ले रहा है

और इसके अनुभव से इसके लक्ष्य से अपने आप में परमज्योति को प्रकट कर रहा है। यों ज्ञानी ने चिन्तन में इस आत्मस्वरूप का आश्रय लिया है।

**भुक्त्वोज्जिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।**

**उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥30॥**

**भय के औटपाये** – जब तक इस जीव की शरीर और आत्मा में एकमेंक मान्यता रहती है, शरीर को ही यह मै हूं ऐसा समझा जाता है तब तक इस जीव में भय और दुःख होता है। ये जगत के प्राणी जी भी दुःखी है उनमें दुःख का कारण एक पर्यायबुद्धि है। अन्यथा जगत में क्लेश है कहाँ? ये सब बाह्य पदार्थ है, कैसा ही परिणामें, हमारा क्या बिगाड़ किया ? कोई भी कष्ट की बात नहीं है। आज वैभव है, कल न रहा, हमारा क्या बिगाड़ गया, वह तो हमसे भिन्न ही था। रही एक यह बात कि अपना जीवन चलाने के लिए तो धन की जरूरत है? तो जीवन चलाने के लिए कितने धन की जरूरत है? तृष्णा क्यों लग गयी है, उसका कारण है केवल दुनिया में अपनी वाहवाही प्रसिद्ध करना, अन्यथा धन की तृष्णा हो नहीं सकती। धन आए तो आने दो। चक्रवर्तियों के 6 खण्ड को वैभव आता है आने का मना नहीं है किन्तु उस वैभव को ही अपना सर्वस्व समझ लेना, इसके बिना मेरा जीवन नहीं है, यही मेरा शरण है, ऐसे बुद्धि कर लेना, यही विपत्ति की बात है।

**ज्ञानी का परिणाम** – जब यह जीव इन समस्त बाह्य पदार्थों को अहितकारी मानकर, अपने से भिन्न समझकर त्याग कर देता है तब फिर कभी भी ये संताप के कारण नहीं होते। ज्ञानी पुरुष इसी प्रयोजन के लिए चिन्तन कर रहा है कि मैंने सभी पुद्गलो को भोग भोगकर बारबार छोड़ा, अब ये सारे भोग जूठे हो गये, एक ऐसे ही यह जितनी विभूति है धन सम्पदा है ये सब कई बार भोग चुके हैं और भोग भोगकर उन्हें छोड़ दिया था। भोगकर छोड़े गए पुद्गल फिर भोगने में आ रहें हैं तब ये जूठे ही तो कहलाये। उन भोगों में मुझ ज्ञानी के क्या स्पृहा होना चाहिए?

**अनन्ते परिवर्तनो में गृहीत भोग** – यह जीव अनादिकाल से पंच परिवर्तन में घूम रहा है। सबने सुना है कि परिवर्तन 5 होते हैं। छह ढाला में लिखा है यों परिवर्तन पूरे करे। पहिली ढाल के अंत में है। इस प्रकार यह जीव परिवर्तनको पूरा करता है। वह परिवर्तन क्या है? उनका नाम है द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन। द्रव्यपरिवर्तनका पहिला स्वरूप देखा—किसी जीवने अगृहीत ही पुद्गल परमाणुओं को, स्कंधोंको ग्रहण कर लिया फिर अगृहीत स्कंध ग्रहणमें आया। गृहीत मानते हैं जिन पुद्गलोको पहिले भोग चुके और अगृहीतके मायने हैं जिन पुद्गलोको पहिले भोगा न था। यद्यपि ऐसी बात नहीं है कि कोई पुद्गल ऐसे भी हो जिन्हे पहिले कभी न भोगा था। लेकिन परिवर्तन जबसे बताया है तबका हिसाब है। अनन्त बार भोगा हुआ ग्रहणकर ले

तब बिना भोगा ग्रहणमें आया। यों अनन्त बार फिर भोगा हुआ ग्रहण करे तो फिर बिना भोगा हुआ ग्रहणमें आया। इस तरह बिना भोगा भी अनन्त बार ग्रहणमें आ चुके, तब भोगा और बिना भोगा मिलकर ग्रहणमें आया। इस तरह बिना भोगा भी अनन्त बार ग्रहणमें आ चुके, तब भोगा और बिना भोगा मिलकर ग्रहणमें आये, इस तरह गृहीत अगृहीत मिश्रका कई पद्धतियोंमें ग्रहण बता करके द्रव्यपरिवर्तनकी बात है। उससे सिर्फ यह जानना है कि इस जीवने अब तक संसार के सभी पुद्गलोको अनेक बार भोगा है और भोगकर छोड़ा है।

**तृष्णाका आतंक** – भैया ! अनन्तो बारका भोगा हुआ व छोड़ा हुआ यह वैभव फिर मिला है तो इसमें तृष्णा फिर बन गयी। भव भव में तृष्णाएँ की, वे तृष्णाएँ पुरानी हुई, जीर्ण हुई, मिट गयी, फिर नवीन तृष्णाएँ बना ली। जैसे पहिले हम आप सभी बच्चे थे, फिर जवान हुए, अब बूढ़े हो रहे हैं। तो बचपनमें जो दिल होता है, जिस प्रकारकी खुशी होती है वह अब कहाँ है? बचपन में पहिले कुछ विद्या सीखी, स्वर व्यञ्जन सीखा तो खुश हो गये, समझा कि बहुत कुछ सीख लिया, खूब पढ़ लिया। अब देखो जवानी व्यतीत हो गयी, बूढ़े हो गए, मरण हो जाएगा। फिर कदाचित् मनुष्य हो गये तो बच्चे होंगे फिर वही स्वर व्यञ्जन नई चीज मान लेंगे और फिर वही नई उत्सुकता होगी। अच्छा दूसरे भवकी बात छोड़ो, कल भी कुछ आपने खाया था, वही दाल, रोटी, साग, छककर खाया था, तृप्त हुए थे, आज 10 बजे फिर वही दाल, रोटी साक खाया होगा तो कुछ नई सी मालूम हुई होगी। कितने ही बार भोग भोगता जाय यह व्यामोही फिर भी बीच –बीज में जो भोग मिलें, साधन मिले, वैभव मिले तो वे भोग नये–नयें लगतें हैं।

**व्यर्थका अभिमान** – भैया! अनेक बार सेठ हो चुके होंगे, आज लाख या हजारका वैभव मिल गया तो वही नया मान लिया। मैंने बहुत चीज पायी। और इससे करोड़ो गुणा वैभव पाया और उसे छोड़ दिया। अनेक बार राज्यपद पाया होगा, बड़ी हुकूमत की होगी पर आज कुछ लोगोमे नेतागिरी मिली यत्त हुए थे, आज 10 बजे फिर वही दाल, रोटी साक खाया होगा तो कुछ नई सी मालूम हुई होगी। कितने ही बार भोग भोगता जाय यह व्यामोही फिर भी बीच –बीज में जो भोग मिलें, साधन मिले, वैभव मिले तो वे भोग नये–नयें लगतें हैं।

**व्यर्थका अभिमान** – भैया! अनेक बार सेठ हो चुके होंगे, आज लाख या हजारका वैभव मिल गया तो वही नया मान लिया। मैंने बहुत चीज पायी। और इससे करोड़ो गुणा वैभव पाया और उसे छोड़ दिया। अनेक बार राज्यपद पाया होगा, बड़ी हुकूमत की होगी पर आज कुछ लोगोमे नेतागिरी मिली या कुछ हुकूमत मिल जाय, थोड़े राज्यमें पैठ हो जाय तो यह बड़ा अभिमान करता है, फूला नहीं समाता। मैं अब यह हो गया हूँ, अरे इससे बढ़–बढ़कर बातें हुई उसके आगे आज मिला क्या है? परन्तु यह मोही कुछ भी मिले उसे ही नई चीज मानता है। क्या प्रकृति है इस जीवकी कि इन भोगोको अनेक बार भोगा है

फिर भी ये जब मिलते हैं तो नयेसे लगते हैं। ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि अब उन जूटे भोगों में मुझ ज्ञानीकी क्या स्पृहा हो? अनादि कालसे मोहनीय कर्म के उदयवश सभी पुद्गलोंको मुझ संसारी जीव ने बार-बार भोगा और भोग करके छोड़ दिया। अब कुछ चेत आया है, अब मैं विवेकी हुआ हूँ, शरीर आदिकके स्वरूपको भली प्रकार जानकर अब उन जूटे भोजनमें, गंध आदिक पदार्थों में अब मेरे भोगनेकी क्या इच्छा हो?

**आत्मीय आनन्दकी अपूर्वता** – भैया ! जब तक किसी को निरूपम आनन्दका अनुभव नहीं हो लेता तब तक विषयोकी प्रीति नहीं छूट सकती। इसे तो आनन्द चाहिए। वर्तमान आनन्दसे अधिक आनन्द किसी बातमें हो तो इसे छोड़ देगा, बड़े आनन्द वाली चीज ग्रहण करेगा। मोह दशामें पदपदार्थों की और बुद्धि होने के कारण इस जीवको अपने आत्मस्वरूपमें रुचि नहीं है और न यह विकल्पोंका बोझा हटाना चाहता है। विकल्पोंका ही मौज मानता है। मोह बढ़ाकर, ममता बढ़ाकर, राग बसाकर यह जीव अपनेको कुशल और बड़ा सुखी मानता है, फिर इसे आत्मीय सत्य आनन्द कैसे प्राप्त हो? जो बड़े स्वादिष्ट पदार्थोंका सेवन करने वाला है उस पुरुष को जूठा खाने में कोई अभिलाषा नहीं होती। जूटे पदार्थोंको मनुष्य घृणाकी दुष्टि देखते हैं। तो यो ही यह समझो कि ये रमणीक समस्त पदार्थ अनेक बार भोग लिए गए वे झूठे हैं। उनमें मुझ ज्ञानीकी क्या इच्छा हो?

**स्पर्शनेन्द्रियविषयकी अरम्यता** – भैया ! कुछ निर्णय तो करो कि कौनसा विषय ऐसा है जो हितकारी हो, जिसमें रमण करना हो? कोई भी विषय नहीं है। यह कामी पुरुष कामवासवनाके वश होकर शरीरके रूपको बहुत रमणीक मानता है। मगर रूप क्या है? अरे थोड़ी सी देरमें नाक निकल पड़े तो बड़ा सुन्दर जंचने वाला रूप भी किरकिरा हो जाता है, घृणा आने लगती है। जिसे जानते हैं कि यह बहुत अच्छी छवी है, क्रान्ति है, रूप है, सुडौल है, और जरा नाकमल बाहर निकल आये, थोड़ा ओठोसे भिड़ जाय और इतना ही नहीं, कुछ अंदाज भी हो जाय तो वहाँ फिर रति नहीं हो सकती। घृणा होने लगती है।

शरीर की असारता – अहो, कर्मोने तो मानो इस अपवित्र मनुष्य शरीरको इसलिए बनाया कि यह जीव विरक्त होकर अपने आत्महितके मार्गमें लगे। भीतर से बाहर तक सारा शरीर अपवित्र ही अपवित्र है। जैसे केलेके पेड़में सार नहीं रहता, उसे छीलते जावो तो पत्ते निकलते जायेगे, सब खत्म हो जायेगे, पर सारकी बात कुछ न मिलेगी। जैसे वह केले का पेड़ असार है ऐसे ही जानो कि इस शरीर में कुछ सार नहीं है। अपवित्र वस्तुओंको सबको हटा दो फिर क्या मिलेगा देहमें बहुत अन्दरसे बाहर तक अपवित्रता ही अपवित्रता नजर आती है इस शरीर में। भीतर हड्डी, फिर मांस, मज्जा, खून, चमड़ा, रोम है। कही कुछ भी तत्वकी बात नहीं मिलती है। यदि कुछ तत्वकी बात मिलती हो तो बताओ, पर मोह का ऐसा नशा है इस जीवपर कि जो असार है, जिस शरीर में कुछ सारकी बात नहीं

है, अपवित्र ही अपवित्र है पूरा और फिर भी इस शरीर को निरखकर मोही पुरुष कुछ कल्पना बनाकर मौज मानते हैं।

**नर देहमें जुगुप्सा और असारता** – भैया! पृथ्वीमें, वनस्पतिमें इनमें तो कुछ सार मिल जायगा, जितने ये काम आ रहे हैं पृथ्वी और वनस्पति प्रयोगमें आ रहे हैं, पर यह मनुष्यका शरीर किसी काम आता है क्या? मर जानेके बाद बड़ी जल्दी जलावो ऐसी लोगोको आकुलता हो जाती है। देर तक मुर्दा न रहे, कोई लोग तो यह शंका करते हैं कि देर तक मुर्दा रहने से घरमें भूत न बस जाय। कोई अपवित्र दुर्गन्धित वातावरण न हो जाय, इससे डरतें हैं, उसका मुख भयानक हो जाता है सो उससे डरते हैं। घरके ही लोग उस मुर्देकी शक्ल भी नहीं देख सकते हैं, छुपते हैं। किस काम आता है यह शरीर, सो बताओ? इस शरीर से भले तो उपयोग की दृष्टि से पृथ्वी और वनस्पति हैं, इनका फिर भी आदर है, हीरा—जवाहरात, सोना—चांदी ये सब पृथ्वी ही तो हैं, इनमें भी जीव था, अब जीव नहीं रहा तो मुर्दा पृथ्वी है, किन्तु इस मृतक पृथ्वी का कितना आदर है? वनस्पतियों में काठ आदि का कितना आदर है, कितनी ही उस पर कलात्मक रचनाएँ की जाती हैं पर मनुष्य शरीर का क्या होता है, क्या आस्था है इसकी, कौन रखता है इसे?

**शरीर की कृतघ्नता** – यह शरीर प्रीति के योग्य नहीं है और फिर अपने आपके शरीर को भी कह लो, यह शरीर भी प्रीति के योग्य नहीं है, इसे आराम से रखो, कही इसे कष्ट न हो जाय। अरे क्या डरना, जैसे सर्प को दूध पिलाओ तो विष ही उगलेगा ऐसे ही इस शरीर को कितना ही सजाओ, कितना ही गद्दा तकियों पर रखे रहो, दूसरे का भी काम न करना पड़े, शरीर पर कितनी ही मेहरबानी करो पर शरीर की और से क्या उत्तर मिलेगा? रोग, अपवित्रता से सारी बातें और अधिक इसमें फैल जाती हैं और अन्त में यह साथ न जायगा। कितना ही इससे मरते समय लड़ो—अरे शरीर ! तेरे लिए हमने जिन्दगी में बड़े—बड़े श्रम किये, संकल्प विकल्प आकुलता व्याकुलता के कितने ही प्रसंग आये, उनमें मैंने तुझे बड़े आराम से रक्खा, तू मेरे साथ तो चल। तो इस जीव के साथ एक कण भी चलता है क्या?

**वैभव की असारता** – कौन सा ठाठ है ऐसा सारभूत जिसमें इतना रमा जा रहा है? वह वैभव रमने के लायक नहीं है तिसपर भी कितना इसका बेढंगा नाच है, कितना भी वैभव मिल जाय तो इसे थोड़ा लगता है। मुझे तो यह थोड़ा ही है, हम तो बड़े कष्ट में हैं, कुछ ढंग से गुजारा ही नहीं चलता है। ज्ञानी जीव इस वैभव को झूठा समझता है। करने योग्य काम तो निर्विकल्प होकर ज्ञानप्रकाश का अनुभव करना है और सारी बातें मायामयी हैं, व्यर्थ हैं, केवल बरबादी के ही कारण हैं। ज्ञानीपुरुष इन पुद्गल से प्रीति नहीं रखता है। किस भव में ये विषयभोग नहीं मिले, सूकर, कूकर, कीट, पंतग जो कुछ भी भव धारण किया क्या उन सब भवों में विषयभोग नहीं भोगे ? इस जीव के लिए खेद की बात यह है



कि जैसे अग्नि कभी यह नहीं कहती कि मुझे ईंधन अब न चाहिए, अब मैं तृप्त हो गयी हूँ। उसमें तो जितना ही ईंधन डालो उतनी ही वह बढ़ती चली जायगी, ऐसे ही ये विषयभोग के साधन हैं, जितने ही भोगविषयो के साधन मिलते जायेंगे उतनी ही तृष्णा बढ़ती चली जायगी।

**गुण ग्रहण की भावना** – भैया ! सच बात तो यह है कि जब तक होनहार अच्छा नहीं आने को होता है तब तक इस जीव को ज्ञान भी नहीं जगता, विवेक नहीं होता। जिसका होनहार ही खोटा है उसको धर्म की रीति से ज्ञान की बात नहीं रुचती है। वह तो सर्वत्र दोष ही दोष निरखता रहता है। उसके सर्वत्र दोष ही दोष का ग्रहण होगा। धर्मीजनो में कुछ अच्छी भी बात है, पर इस और दृष्टि नहीं जाती। धर्म खराब है, कुछ जैनियो का उदाहरण दे दिया, अमुक यों है, अमुक यों है। अरे तुम्हें अमुक से क्या मतलब ? धर्म में जो वस्तुस्वरूप बताया है उस स्वरूप का आचरण करके तुम्ही ठीक बनकर उदाहरण बन जावो। धर्म मानने वाले लोगो के दोष निरखकर कौनसी सिद्धि हो जायगी ? तुम उसके गुण देखो, धर्म में क्या गुण है, धर्म में क्या प्रकाश है, यह सिद्धान्त वस्तुस्वरूप को किस प्रकार कह रहा है, उसको निरखो। जब ध्यान में आयगा – अहो, ऐसा स्वतंत्र स्वरूप मेरा है ज्ञानानन्दमात्र, आनन्द जगेगा और समस्त झंझटो का परित्याग हो जायगा, समस्त संकट टल जायेंगे। ये भोग-भव में भोगे हैं। इन भोगे हुए भोगों में मुझ ज्ञानस्वरूप आत्मा की इच्छा क्यों हो? ऐसी भावना ओर आचरण बनाना चाहिए।

**कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।**

**स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थ को वा न वाञ्छति।।31।।**

**कर्म और जीव में अपने-अपने प्रभाव की और झुकाव** – कर्म कर्मोंके हित की बात करते हैं और जीव जीव के हित को चाहता है। सो यह बात युक्त ही है कि अपने-अपने को प्रभाव बढ़ाने के लिए कौन पुरुष स्वार्थ को नहीं चाहता है? इस श्लोक में बताया है कि कर्मों के उदय से होता क्या है? कर्म बँधते हैं, कर्म कर्मों को ग्रहण करने के लिए स्थान देते हैं। कर्मों में कर्म बन्धन है। कर्मों से कर्म आगे संतान बढ़ाते चले जाते हैं। तो इन कर्मों ने कर्मों का कुटुम्ब बनाने की ठानी। और यह जीव, अंतरंग से पूछो इससे कि यह क्या चाहता है? यह अपना हित चाहता है; आनन्द, शान्ति चाहता है। भले ही कोई भ्रम ही जाय और उस भ्रम में सही काम न कर सके, यह बात दूसरी है किन्तु मूल प्रेरणा जीव को जीव के हित की भावना से उठती है। इस जीव ने जीव का हित चाहा और कर्मों ने कर्मों का कुल बढ़ाया सो यह बात लोक में युक्त ही है कि प्रत्येक जीव अपनी अपनी बिरादरी का ध्यान रखता है, कुल को बढ़ाता है। कर्मों ने कर्मों को बढ़ाया, जीव न जीव का सम्बन्ध चाहा।

**लोकयुक्तता**— संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि जो बलवान होता है वह दूसरे को अपनी ओर खींच लेता है। जब कर्म बलिष्ठ होगा तो वह अनेक कर्मों का आकर्षण कर लेगा और जब जीव बलिष्ठ होता तो यह जीव अपने स्वभाव का विकास कर लेगा। अपना-अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए सभी पदार्थ उद्यत है। ये कर्म उदय में आते हैं तो कर्मों के उदय के निमित्त से जीव में क्रोधादिक कषाये उत्पन्न हाती है और उन कषाय भावों के निमित्त से कर्मों का बन्धन होने लगता है। फिर उनका उदय आता है। जीव के भाव बिगड़े, नवीन कर्म बँधे, इस तरह से यह संतति चलती रहती है। इन कर्मों ने इस प्रकार से कर्मों की संतति बढ़ायी है।

**जीव और कर्म में निमित्त नैमित्तिक सम्बंध होने पर भी स्वतंत्रता** — जीव में और कर्म में परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। जीव के भाव का निमित्त पाकर कर्मों का बन्धन होता है। अर्थात् कार्माणवर्गणाएँ स्वयं ही कर्म रूप से प्रवृत्त हो जाती है, और कर्मों का उदय होने पर यह जीव स्वयं रागादिक भावों में प्रवृत्त हो जाता है। ऐसा इन दोनों में परस्पर में निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है, फिर भी किसी भी पदार्थ का परिणमन किसी अन्य पदार्थ में नहीं पहुँचता है। जैसे यही देख लो — बोलने वाला पुरुष और सुनने वाले लोग इन दोनों को परस्पर में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। बोलने वाले का निमित्त पाकर सुनने वाले शब्दों को सुनकर और उनका अर्थ जानकर ज्ञानविकास करते हैं, यो उनके इस ज्ञानविकास में कोई वक्ता निमित्त हुआ और वक्ताको भी श्रोताओं को निरखकर धर्मचर्चा सुनाने की रुचि हुई। ये कल्याणार्थी है ऐसा जानकर वक्ता उस प्रकार से अपना भाषण करता तो यों वक्ता को बोलने में श्रोतागण निमित्त हुए और श्रोतागणों के सुनने और जानने में वक्ता निमित्त हुआ। ऐसा परस्पर में निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है। फिर भी वक्ता ने श्रोताओं में कुछ परिणमन नहीं किया और श्रोताओं ने वक्ता में कुछ परिणमन नहीं किया। ऐसे निमित्तनैमित्तिक सम्बंध का यथार्थ मर्म तत्वज्ञानी पुरुष जानता है।

**निमित्तनैमित्तिक चक्र में जीव का कल्याण** — इस निमित्तनैमित्तिक भाव के चक्र में यह जीव अनादि काल से संसार में जन्म मरण करता चला आ रहा है। इस पर कैसी मोहनी धूल पड़ी है अथवा इसने मोह की शराब पी है कि इसे जो कुछ आज मिला है, जिन जीवों का समागम हुआ है, जो धन वैभव साथ है यह उसको अपना सब कुछ मानता है, यही मेरा है। अरे न तेरे साथ कुछ आया और न तेरे साथ जाएगा। ये तो तेरी बरबादी के ही कारण हो रहे हैं। उनका निमित्त करके, आश्रय करके उनको उपयोग का विषय बनाकर अपनी विभाव परिणति रच रहे हैं, क्या कल्याण किया उन समागमों के कारण? कुछ भी कल्याण नहीं किया, लेकिन यह मोही जीव कूद-कूदकर सबको छोड़कर केवल इने गिने दो चार जीवों को अपना सब कुछ मान लिया। कितना लाखों का धन कमाया, वह किसके लिए है? केवल उन्हीं दो चार जीवों के आराम के लिए। उसकी दृष्टि में जगत

के शेष जीव कुछ नहीं है। यहाँ कितना बड़ा पागलपन छाया है? दुःखी होता जाता है, और दुःख का कारण जो अज्ञान है, मोह उसे छोड़ना नहीं चाहता है।

**निर्माहता का आदर** – धन्य है वे गृहस्थ जन जो गृहस्थी के सम्पदा के बीच रहते हुए जल में भिन्न कमल की नाई रहते हैं। यह जो आगम में लिखा है कि ज्ञानी पुरुष जल में भिन्न कमल की तरह रहते हैं तो क्या कोई ऐसे होते नहीं हैं? किनके लिए लिखा है? न रहे जल में भिन्न कमल की भांति, खूब आसक्ति रक्खे तो उससे पूरा पड़ जायगा क्या? मरते हुए जीव को दो चार आदमी पकड़े रहें तो जीव रूक जायगा क्या? अथवा कोई कितनी ही मिन्नते करें कि ऐ जीव! तुम अभी मत जाओ तो क्या वह रूक जायगा? उसका क्या हाल होगा? बहुत मोह किया हो जिसने, वह भी क्या रूक सकता है? मोह का कैसा विचित्र नशा है कि अपने आत्मा की जो निरूपम निधि है, ज्ञानानन्दस्वरूप है उस स्वरूप को तो भुला दिया और बाह्यपदार्थों में रत हो गया, समय गुजर रहा है बहुत बुरी तरह से। शुद्ध ज्ञान हो, सच्चा ज्ञान बना रहे तो वहाँ कोई क्लेश हो ही नहीं सकता। जब यथार्थ ज्ञान से हम मुख मोड़े हैं और अज्ञानमयी भावना बनाते हैं तब क्लेश होता है।

**आत्मप्रभाव के लिए संकल्प** – जो कर्मों से घिरा हुआ है, जिस पर कर्म प्रबल छाये हैं, बड़ी शक्ति के कर्म हैं ऐसे जीव पुनः कर्मों का संचय करते हैं, और जिनके कर्म शिथिल हो गये, ज्ञान प्रकाश जिनका उदित हो गया है ऐसे ज्ञानी पुरुष ज्ञानानन्दस्वरूप में आनन्दमय निज स्वभाव में स्थित रहा करते हैं। कर्म कर्मों को बढाये, जीव जीव का ही हित चाहे, ऐसी बात जानकर है मोक्षार्थी पुरुषो! जब कर्म अपनी हठपर तुले हुए हैं तब हम मुक्ति से प्रीति क्यों नहीं करते, क्यों संसार की भटकना, क्लेश, इनमें ही प्रीति करते हैं? कर्मों ने ऐसी हठ बनायी है तो हम अपने स्वभाव विकास की हठ बनावें ना? कर्म या चलते हैं चले। कर्म क्या करेंगे? कुछ धन नष्ट हो जायगा, या जीवन जल्दी चला जायगा या यशज्ञ नष्ट हो जायगा। इन तीन बातों के सिवाय और क्या हो सकता है, सो बताओ?

**शुद्ध ज्ञानरूप साहस** – भैया ! अन्तरंग में परमप्रकाशज्ञ पावो। धन चला जाय तो चला जाय, वह दूर तो रहता ही था और दूर चला गया। कहाँ धन आत्मा में लिपटा है? वह तो दूर-दूर रहता है। यह धन दूर-दूर तो रहता ही था और दूर हो गया। इस घर में न रहा, किसी और घर में चला गया। जो धन है उसका बिल्कुल अभाव कहाँ होगा? जो इस मायामयी दुनिया में अपना झूठा पर्याय नाम नहीं चाहते हैं उन पुरुषों को यश बिगड़ने का क्या कष्ट होगा ? हाँ अपने आप में कोई दुर्भावना न उत्पन्न हो फिर तो वह मौज में ही है, उसकी शान्ति को किसने छीना है ? ऐसा साहस बनावो कि दो-एक नहीं, सारा जहान भी मुझे न पहिचाने, अगर अपयश गाता फिरे तो सारा जहान गावे उससे इस अमूर्त आत्मा को कौन सी बाधा हो सकती है ? सत्यमेव जयते। अंत मे विजय सत्य की ही होती है। यदि शुद्ध परिणाम है, शुद्ध भावना है तो इस जीव का कहाँ बिगाड़ है, कर्म क्या करेंगे

? इन तीन पर ही तो ये कर्म आक्रमण कर सकते हैं। ज्ञानी पुरुष को इन तीन की भी कुछ परवाह नहीं होती है।

**यश अपयश के क्षोभ से विरक्त रहने में भलाई** – आत्मा का कल्याण तब होता है जब यह समस्त परविषयक विकल्पो को तोड़कर केवल शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र अपना अनुभव बताता है ऐसा करने में उसने समस्त यश अपयश को छोड़ ही तो दिया। अपयश होने में जो बुराई है वही बुराई यश में भी है। अपयश से तो यह जीव दुःख मानकर संक्लेश करता है और पाप का बंध करता है और यश होने पर यह जीव रौद्र आशय बनाता है, रौद्रानन्दी बन जाता है, उसमें क्रूरता, बहिर्मुखता बढ़ती जा रही है और उसमें जो संक्लेश हुआ, जो कलुषता बनी, बहिर्मुख दृष्टि बढ़ी, उनके निमित्त से जो कर्मों का बंध हुआ उनके उदयकाल में क्या दुर्गति न होगी? जितना बिगाड़ अपयश से है उतना ही बिगाड़ यश से है। अज्ञानी जीव को तो सर्वत्र विपदा है। वह कहीं भी सुख शान्ति से रह ही नहीं सकता। ज्ञानी जीव को सर्वत्र शान्ति है, उसे कोई भी वातारण स्वरूप से विचलित नहीं कर सकता है, अज्ञानी नहीं बना सकता है।

**मूढ़ता में क्लेश होने की प्राकृतिकता पर दृष्टान्त** – कोई उद्वण्ड पुरुष हो और उसे हर जगह क्लेश मिले तो उसका यह सोचना व्यर्थ है कि अमुक लोग मेरे विलोधी हैं और मुझे कष्ट पहुँचाते हैं। अरे कष्ट पहुँचाने वाला कोई दूसरा नहीं है। खुद ही परिणाम बिगाड़ते हैं और कष्ट में आते हैं। कोई एक बुद्धिहीन मूर्ख पुरुष था। उसे लोग गाँव में मूरखचंद बोला करते थे। वह गाँव वालों से तंग आकर घर छोड़कर गाँव से बाहर चला गया, रास्ते में एक कुँवा मिला, वह उस कुँवे की मेड़ के ऊपर कुँवे में पैर लटकाकर बैठ गया। कुछ मुसाफिर आए और बोले कि अरे मूरखचंद कहाँ बैठे हो ? तो वह पुरुष उठकर उन मुसाफिरो के गले लगकर बोलता है – भाई, और भई सो भई पर यह तो बताओ कि तुमको किसने बताया कि मेरा नाम मूरखचंद है ? मुसाफिर बोले कि हमको किसी ने नहीं बताया, तुम्हारी ही करतूत ने बताया कि तुम्हारा नाम मूरखचंद है।

**क्लेश का कारण मोह** – इस संसार में जो जीव दुःखी है वे मोह की उद्वण्डता से दुःखी हैं, किसी दूसरे का नाम लगाना बिल्कुल व्यर्थ है कि अमुक ने मुझे यो सताया। व्यर्थ की कल्पनाएँ करना बेकार बात है। मैं स्वयं ही अज्ञानी हूँ इस कारण अज्ञान से ही क्लेश हो रहे हैं। संसार की स्थिति किसी ने अब तक क्या सुधार पायी है? बड़े- बड़े महापुरुष हुए जिनके नाम के पुराण रचे गए हैं, पुराणों में जिनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है उन्होंने भी तो स्वांग रचा था, घर बनवाया, गृहस्थी बसायी, बाल बच्चे हुए, राजपाठ हुआ, युद्ध भी किया, सारे स्वांग तो रचे उन्होंने भी, क्या संसार की इस स्थिति को पूरा कर पाया ? वैसी ही चलती गाड़ी बनी रही। कुछ दिन घर रहे, फिर छोड़ा कोई तप करके मोक्ष गए, कोई स्वर्ग गए, कोई बुरी वासना में मरकर नरक गए। सबका विछोह हुआ, लो कहीं का

ईट कही का रोड़ा। जोड़ा तो बहुत था पर अंत में सब कुछ बिछुड़ गया। क्या किसी ने पूरा कर पाया?

**व्यर्थ की चिन्ता** – सब व्यर्थ की चिन्ता मचा रखी है मोही प्राणियो ने। मुझे इतनी जायदाद मिल जाय, मैं इस ढंग का कार्य बना लूं फिर तो कुछ चिन्ता ही न रहेगी। अरे भाई जब तक पर्याय मूढ़ता है तब तक बेफिक्र हो ही नहीं सकते। एक फिक्र मिट गई तो उसकी सवाई एक फिक्र और लग जायगी जिसमें उस फिक्र से भी ड्योढ़ी ताकत बनी हुई है। कहाँ तक मिटावोगे ? फिक्र तो तब मिटेगी जब फिक्र की फिक्र छोड़ी जाय। जो होता हो हाने दो। कर भी क्या सकता है कोई इसमें? उदय होगा तो स्वतः ही अनुकूल बुद्धि चलेगी, स्वतः संयोग मिलेगा और वह कार्य बनेगा। कौन करने वाला है किसी दूसरे का कुछ। यह मनुष्य जीवन बाहरी विभूतियों के संचय के लिए नहीं पाया है। अपना उद्देश्य ही कर लो। जो उस पर चेलगा अर्थात् सत्य मार्ग पर चेलगा उसी को ही फल मिलेगा। धर्म का पालन इसी को ही कहते हैं।

**सपद्धति ज्ञानप्रयोग का अनुरोध** – भैया! केवल पूजन स्वाध्याय का सुनना या अन्य प्रकार से धर्म पालन को शौक निभाना इतने मात्र से काम नहीं चलता किन्तु कुछ अपने में अन्तर लाये, कुछ ज्ञानप्रयोग करे, जो कुछ सुना है, समझा है, जाना है उसको किसी अंश में करके दिखाये। किसे दिखाये ? दूसरे को नहीं। अपने आपको दिखा दे। जो बात धर्म पालन के लिए बतायी गई है वहाँ धर्म है, केवल रूढ़िवाद में क्या रखा है। कोई एक सेठ था, रोज शास्त्र सुनने आता था। एक दिन देर में आया तो पंडित जी ने पूछा – सेठ जी आज देर से क्यों आए ? सेठ जी बोले – पंडित जी वह एक जो छोटा मुन्ना है ना, 10 वर्ष का, वह भी हठ करने लगा कि मैं भी शास्त्र सुनने चलूंगा। फिर जब बहुत उसे मनाया, आठ आने पैसे देकर सनीमें का टिकट कटाया, उसे भेजा तब यहाँ आ पाये। पंडित जी बोले – सेठ जी बच्चा भी आ जाता, शास्त्र सुन लेता तो क्या नुकसान था? तो तो सेठ जी कहने लग – पंडित जी! तुम तो बहुत भोले हो। हम शास्त्र सुनने की विधि जानते हैं कि शास्त्र सुनने की क्या विधि है। अपने कुर्ता में, चद्दर में सब धरते जाना फिर चलते समय उन सब कपड़ों को झटककर जाना। यह है सुनने की विधि। तो हम तो जानते हैं कि शास्त्र कैसे सुना जाता है, पर वह 10 वर्ष का बच्चा जिसे सुनने की विधि भी नहीं याद है, वह कही शास्त्र सुनने से विधि के खिलाफ हृदय में धारण कर ले और कुछ ज्ञान वैराग्य जगे, घर छोड़ दे तो हम क्या करेगे ? तो भाई यह शास्त्र सुनने की विधि नहीं है।

**कार्य की प्रयोगसाध्यता** – भैया! जो करना हो अपनी कुछ शान्ति का काम तो अन्तर में कुछ प्रयोग करना होगा। बातों से तो काम नहीं चलता। कोई मनुष्य प्यासा हो और वह पानी-पानी की 108 बार जाप जप ले तो कही पानी तो पेट में न आ जायगा,

प्यास तो न मिट जायगी। ऐसे ही शान्ति आती है शुद्ध ज्ञान से। शुद्ध ज्ञान का प्रकाश हो वहाँ शान्ति है, हम ज्ञानप्रकाश को ही न चाहें और वही ममता तृष्णा वही कषाय निकलती रहें तो धर्म पालन कहाँ हुआ? वह तो केवल बात ही बात है।

**कषायपरित्याग से शान्ति का उद्भव** – अनन्तानुबंधी क्रोध बताया है जहाँ धर्म के प्रसंग में भी क्रोध आए। और जगह क्रोध आए वह उतना बुरा नहीं है। अनन्तानुबंधी मान बताया है कि धर्मात्माजनों के सामने अपना अभिमान बगराये। और जगह अभिमान करे वह प्रबल अभिमान नहीं कहलाता मगर धर्मात्माजनो के समक्ष भी अपना मान करे। मंदिर में आये तो हाथ जोड़कर नमस्कार करने तक में भी हिचकिचाहट हो या अन्य साधु संतो के प्रति, सधर्मी जनो के प्रति धर्म के नाते से धर्मीपन को दिखने के कारण अभिमान कोई बगराये तो उसे अनन्तानुबंधी मान कहते हैं। धर्म के मामले में कोई माया करे, छल, कपट करे तो उसे अनन्तानुबंधी माया कहते हैं, और धर्म के ही प्रसंग में कोई लोभ करे तो उसे अनन्तानुबंधी लोभ कहते हैं। जहाँ अनन्तानुबंधी कषाय वर्त रही हो वहाँ आनन्द के स्वप्न देखने से आनन्द का काम कैसे पूरा किया जा सकता है ? इस तत्त्वज्ञान की बात को हृदय में धरे और विवेकियो से उपेक्षा करे तो यह जीव अपना प्रभाव बढ़ा सकता है और कल्याण कर सकता है।

**परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव ।**

**उपकुर्वन्परस्याज्ञो वर्तमानस्य लोकवत् ॥32॥**

**स्वोपकार का ध्यान** – हे आत्मन् ! तू परोपकार को छोड़कर स्वोपकार में रत रह। अज्ञ लोक की तरह मूढ बनकर दृश्यमान शरीर आदि परपदार्थों में उपयोग को क्यों कर रहा है? इस श्लोक में शब्द तो ये आये हैं कि तू परके उपकार को तज दे और अपने उपकार में लग। यह सुनने में कुछ कटु लग रहा होगा कि पर के उपकार की मनाही की जाती है। पर के मायने हैं शरीरादिक बाह्यपदार्थ। तू शरीर का, धन वैभव का उपकार करना छोड़ दे और आत्मा जिस तरह शान्ति सन्तोष में रह सके वैसा उपकार कर। जैसे कोई मूढ अज्ञानी शत्रु को मित्र समझकर रात-दिन उसकी भलाई में लगा रहता है। उसका हित हो, अपने हित अहित का कुछ भी ध्यान नहीं रखता है। भ्रम हो गया। है तो शत्रु पर मान लिय मित्र। कोई मायाचारी छली कपटी पुरुष है और उसका इतना मीठा बरतावा है कि हमने उसको अपना मान लिया। अब अपना मानने के भ्रम से उसके उपकार में बुद्धि रहती है। पर क्या वह हित कर देगा, क्या हानि कर देगा? इस और यह ध्यान नहीं रखता है। उसके हित की साधना में ही अपना सर्वस्व सौंप देता है।

**तत्त्वज्ञान से स्वोपकार की रूचि** – जब इसको यह परिज्ञान हो जाता है कि मेरा मित्र नहीं है, शत्रु है, तभी से यह मनुष्य उसका उपकार करना छोड़ देता है। यो ही यह

शरीर जीव का शत्रु है। जीव का अहित इस शरीर के कारण हो रहा है अतएव यह शरीर शत्रु की तरह है लेकिन मोह में इसने मान लिया मित्र। यह शरीर मेरा बड़ा उपकारी है इतना भी भेद नहीं करता कि शरीर है सो मैं हूँ। मुझे अपना काम करना है, शरीर का काम करना है, यह भी नहीं किन्तु उसे आत्मा स्वीकार कर लिया और उस पर के उपकार में यह मोही जीव लग गया है। सो जहाँ यही कहा गया है कि प के उपकार को तज, निज के उपकार में लग। जिन प्रसंगों में अन्य जीवों का उपकार किया जा रहा है वहाँ भी यह जीव यदि यह ध्यान रख रहा है कि मैं इस पर का उपकार का काम कर रहा हूँ तो भी उसने गलती की। उसने पर माना है इस शरीर को तो वह भी जड़ के काम करता है।

**परमार्थतः पर के उपकार की अशक्यता**— जो ज्ञानी पुरुष है वह अन्य जीवों का उपकार करके यह ध्यान में लेता है कि मैंने किसी पर का उपकार नहीं किया है, किन्तु अपने ही आत्मा को विषय कषायों से रोककर अपना भला किया है। कोई जीव वस्तुतः किसी पर का उपकार कर ही नहीं सकता है। प्रत्येक जीव अपना ही परिणामन कर पाते हैं। जो जीव वस्तुस्वरूप से अबभिज्ञ है उन्हे शान्ति संतोष किसी क्षण नहीं मिलता है क्योंकि शान्ति का आश्रय जो स्वयं है जिसके आलम्बन से शान्ति प्रकट होती है, उसका पता नहीं है तो बाहर ही में किसी परपदार्थ में अपनी दृष्टि गड़ायेगा। होगा क्या कि पर तो पर ही है, उनमें दृष्टि अपनी रखने से बहिर्मुख बनने से स्वयं रीता हो गया। अब इसे कुछ शरण नहीं रहा। जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है वे जानते हैं कि मेरा स्वरूप ही मेरा शरण है। उन्हे किसी भी पदार्थ में, वातावरण में, स्थिति में विहलता नहीं होती है। वे सर्वत्र स्वतंत्र वस्तु का स्वरूप निरखते रहते हैं।

**शब्दजाल से आत्मा का असम्बन्ध** — सारा जहान यदि प्रशंसा करे, यश करे तो भी उन प्रशंसा के शब्दों से ज्ञानी के चित्त में क्षोभ नहीं होता है। क्योंकि वह देख रहा है कि ये सब भाषावर्गणा के परिणामन हैं, इन शब्दों का मुझ आत्मा में रंच प्रवेश नहीं है और न कुछ परिणामन ही कर सकते हैं। ऐसी स्वतंत्रता का भान होने से यह तत्त्वज्ञानी जीव प्रशंसा के शब्दों को सुनकर भी क्षोभ नहीं लाता है। हर्ष भी एक क्षोभ है। जो लोग प्रशंसा सुनकर मौज मानते हैं वे बहिर्मुख बनकर कषाय कर्मकलंक अपने में बरसाते हैं, उसका फल दुर्गतियों में भ्रमण करना ही है। कौन से शब्द इस जीव का क्या कर सकेंगे ? न इस भव में ये सब सहायक हैं और न पर भव में सहायक हैं। लोग आज भी ऐसा कहा करते हैं कि पुराने जो महापुरुष हुए हैं कृष्ण, महावीर आदि, हम उनके शब्दों का रिकार्ड कर ले, लेकिन जो शब्द परिणत हो जाते हैं। वे दूसरी क्षण में उस पर्यायरूप में नहीं रहते हैं। वे रिकार्ड कहाँ से हो सकेंगे? ऐसे ही ये शब्द जब कहने के बाद ही समाप्त हो जाते हैं। कुछ काल तक यदि ये गूँजते हैं तो उसके भी गूँजने का कारण यह है कि शब्दवर्गणा के निमित्त से अन्य वर्गणायें शब्दरूप परिणम जाती हैं और यों बिजली की तरह इसमें भी तरंग

उत्पन्न होती है, पर यह तरंग भी बहुत समय तक कहाँ ठहर सकेगी? ये शब्द न मेरे को अभी काम देते हैं, न आगे काम देंगे।

**शान्ति का मूल उपाय तत्वज्ञान** – ज्ञानी तो अपने ज्ञान के प्रकाश का रूचिया है और दूसरे जन भी इस ज्ञान का प्रकाश पायें, वस्तु का जो स्वतंत्र स्वरूप है वह सबकी दृष्टि में आए और सुखी हो जाएँ ऐसी भावना करता है। सुखी होने का मूल उपाय तत्वज्ञान है। अनेक उपाय कर डालिए, कितना ही धनसंचय कर लो पर धन से भी शान्ति नहीं। कितनी भी लोक में इज्जत बना लो पर इज्जत से भी शान्ति नहीं। जो जो उपाय करना चाहें आप कर डाले, पर एक तत्वज्ञान के बिना सारे उपाय शान्ति के लिए कार्यकारी नहीं है। जब भी जिसे शान्ति मिलनी होगी इस ही मार्ग से मिलेगी, खुद को खुद के यथार्थ ज्ञान से शान्ति मिलेगी। भेदविज्ञान का बड़ा महत्व है। कोई भी विपदा हो, विपदा कुछ भी नहीं, परपदार्थ के परिणामन अपने मन के अनुकूल न जंचे ऐसी कल्पना करते रहना बस यही विपदा है। विपदा भी किसी तत्व का नाम नहीं है। ऐसे चाहे लौकिक विपदा के प्रसंग भी आएँ किन्तु यह तत्वज्ञानी जीव अपने को सबसे न्यारा अमूर्त ज्ञानानन्द स्वभावरूप अनुभव करता है, इसके प्रताप से उसे कभी क्लेश नहीं होता है। कदाचित् क्लेश माने तो यह उसके किन्ही दर्जों तक अज्ञान का ही प्रसाद है।

**आचार्यदेव का आत्मोपकार का उपदेश** – आचार्य देव यहाँ यह कह रहे हैं कि तू पर का उपकार तजकर अपने उपकार में लग। यहाँ धन वैभव, इज्जत लोकसम्पदा को पर कहा गया है। उनके उपकार को तज और एक अपने उपकार में लग। अपना उपकार है निज को निज पर को पर रूप से जान लेना। गुप्त ही गुप्त कल्याण होता है, दिखावट, बनावट, सजावट से कल्याण नहीं होता है। भेदविज्ञान की तब तक शरण गहो जब तक सर्व विकल्प समाप्त न हो जाएँ। इस जीव को यथार्थ में संकट कुछ भी नहीं है। आज हम आप कितनी अच्छी स्थिति में ह, कीड़े, मकोड़े, पतंगों को देखो उनकी क्या दयनीय स्थिति है, अथवा मनुष्यों में ही देखो कोई भिखारी जनों की ऐसी दयनीय स्थिति है कि जिनको कई दिनों तक भी खाने का ठिकाना नहीं है, उनकी अपेक्षा हम आप आज कितनी अच्छी स्थिति में हैं, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि जैन सिद्धान्त का पाना अति दुर्लभ है। जैन सिद्धान्त एक ऐसे तत्वज्ञान का प्रकाश करता है कि जिस ज्ञान के आने पर सदा के लिए संकट काट लेने का उपाय मिलता है।

**पदार्थों का स्वतातन्त्र्य स्वभाव** – वस्तु के सम्बंध में जैन सिद्धान्त ने एक गहरी दृष्टि से प्रतिपादन किया है। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है। ये जो दृश्यमान पदार्थ पुद्गल स्कंध हैं ये एक चीज नहीं हैं, ये अनन्त परमाणुओं का पुञ्ज है। इनमें जो एक-एक परमाणु है वह द्रव्य है, यो एक-एक जीव करके अनन्त जीवद्रव्य है, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और एक अंसख्यात कालद्रव्य है। प्रत्येक पदार्थ 6 साधारण गुणों करके परिपूर्ण



है। प्रत्येक पदार्थ है, अपने स्वरूप से है, पर के स्वरूप से नहीं है। दूसरी बात यह है। तीसरी बात— अपने में यह द्रव्यत्वगुण रखने के कारण निरन्तर परिणमता रहता है। चौथी बात अपने में ही परिणमता है किसी दूसरे में नहीं। 5 वी बात – अपने प्रदेश से है। छठवीं बात – किसी न किसी के ज्ञान द्वारा प्रमेय है। इन 6 साधारण गुणों के वर्णन से आप यह देखेंगे कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है।

**अपनी वेदना मेटने का इलाज** – कोई भिखारी यदि जाड़े के दिनों में सुबह तीन चार बजे तड़के चक्कर लगाकर कपड़े माँगता है और आप लोग उसे कपड़े दे दें तो कही आप उस भिखारी का उपकार नहीं कर रहे है लेकिन व्यवहार में माना तो जा रहा है, परन्तु वहाँ क्या किया जा रहा है कि उस भिखारी की स्थिति जानकर अपने कल्पना करके खुद ही दुःखी हो गए, कुछ वेदना हो गयी, ओह यह कैसा दुःखी है? ऐसी कल्पना जगने के साथ आपके हृदय में वेदना हो गयी। उस वेदना को मिटाने का इलाज आप और क्या कर सकते है ? आपने अपना ही उपकार किया, उस भिखारी का कुछ उपकार नहीं किया। जो जीव अपने में यह निर्णय किए हुए है कि मेरा सुख, दुःख मेरे परिणमन से ही है, कोई अन्य जीव मुझमें कुछ परिणति नहीं बना देता है। भले ही बाहर में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है लेकिन परिणमना तो खुद की ही कला से पड़ रहा है। मैं किसी का कुछ करता भी नहीं हूँ। जिसमें जैसी कषाय उत्पन्न होती है उस कषाय की वेदना को शान्त करने का वह प्रयत्न करता है।

**ऋषि संतो की कृति में आत्मोपकार का लक्ष्य** – जैन सिद्धान्त तो यह प्रकट कर रहा है कि ये आचार्यदेव जिन्होंने इन हितकारक ग्रन्थों को लिखा है जिनको पढ़कर हम आप अपनी शक्ति के अनुसार अपना उपकार कर लेते है, इन आचार्यों ने भी वस्तुतः हमारा उपकार नहीं किया है किन्तु उन्होंने जो हम पामरों पर करुणा बुद्धि करके स्वयं में वेदना की थी, उन्होंने भी उस वेदना को शान्त करने के लिए यत्न किया है। लोग इस बात की हैरानी मानते है कि मैंने अपने पुत्र को इतना पढ़ाया, इतना योग्य बनाया, पर आज यह मुझसे विपरीत चलता है, ऐसा लोग खेद मानते है किन्तु तत्वज्ञान का उपयोग करें तो खेद नहीं माना जा सकता है। मैंने सर्वत्र अपने मन के अनुकूल अपनी वेदना को शान्त करने के लिए श्रम किया है, मैंने दूसरे जीव का परमार्थतः कुछ नहीं किया है। अब जिसकी जो परिणति है वह अपनी परिणति कर रहा है। मेरा जो कुछ कर्तव्य है वह मुझे करना चाहिए ऐसा ज्ञानी जीव के चित्त में विवेक रहता है। इस कारण वह कभी अधीर नहीं होता।

**समय के सदुपयोग का अनुरोध** – भैया ! मनुष्य जीवन और यह श्रावककुल, जैनधर्म के सिद्धान्त के श्रवण की योग्यता सब कुछ प्राप्त करके इस समय का सदुपयोग करना चाहिए। समय गुजर रहा है उम्र निकली जा रही है, मरण के निकट पहुंच रहे है ऐसी स्थिति में यदि सावधान न हुए तो यह होहल्ला तो सब समाप्त ही हो जायगा। तुम

अपने को भविष्य में कहाँ शान्त बना सकोगे? कोई यह न जाने कि हम मर गए तो आगे की क्या खबर है कि हम रहेगे कि नहीं रहेंगे, कहाँ जायेंगे, दीपक है, बुझ गया फिर क्या है, ऐसी बात नहीं है। खुब युक्तियों से और अनुभव से साच लो। जो भी पदार्थ सत् है उस पदार्थ का समूल विनाश कभी नहीं होता है, कैसे हो सकेगा विनाश ? सत्व कहाँ जायगा? भले ही उसका परिणमन कितने ही प्रकारो से चलता रहे किन्तु उस पदार्थ का सतव मूल से कभी नष्ट नहीं हो सकता। यह बात पूर्ण प्रमाणसिद्ध है।

**अपनी चर्या** – अब अपने आपके सम्बंध में सोचिए हम वास्तव में कुछ है। अथवा नहीं? यदि हम कुछ नहीं है तो यह बड़ी खुशी की बात है। यदि हम नहीं है तो ये सुख दुःख किसमें होंगे? फिर तो कोई क्लेश ही न रहना चाहिए। मैं हूँ और जो भी मैं हूँ वह कभी मिट भी नहीं सकता, यदि इस भव से निकल जाऊँ तो भी मैं रहूँगा। उसके लिए अपने और अन्य जीवों का परिणमन देखकर निर्णय कर लीजिए। जो जगत में जीव दीख अपने ज्ञान अज्ञान के अनुकूल सुख दुःख पाना होगा। यह सम्पदा, ये ठाठ ये समागम कितने समय के लिए है? जो इन समागमो को अपने विषयवासना में, विषयो की पूर्ति में ही खर्च करता है, तन, मन, धन, वचन सब विषयो की पूर्ति के लिए ही खर्च किए जा रहे हैं, तो यह अपने आपके उपयोग का बड़ा दुरुपयोग है। अपने लिए तो अपने खाने के लिए, पहिनने के लिए और श्रृंगार के लिए जितनी अधिक से अधिक सात्विक वृत्ति रक्खी जायगी उतना ही भला है, और शेष जो कुछ भी समागम है यह ध्यान में रखना चाहिए कि ये सब पर के उपकार के लिए है। मुझे इन विभूतियों को विषयसाधनो में नहीं व्यय करना है।

**स्व की सुध** – विषय साधना मेरा कुछ भला नहीं कर सकते हैं। ये विषयो के साधनभूत समस्त परपदार्थ है, इनके लिए कहा जा रहा है कि तू परका उपकार तज दे और निज के उपकार में तत्पर रह। है आत्मन्! अज्ञान अवस्था में तूने अपने चिदानन्दस्वभाव की सुध नहीं ली। जो आनन्द का निधान सर्वोत्कृष्ट है, जिस परमपारिणामिक भाव के आलम्बन से कल्याण होता है उस मंगलमय चैतन्यस्वरूप की सुध न ली जा सके और आदि परद्रव्य जो भी तुझे मिले है उनके संयोग में मौज माने, उनके पोषण में तू अपना ध्यान लगाये बड़े-बड़े कष्ट भी सहे, पर शरीर के आराम की ही बात तू सोचता रहे, यों पर के उपकार में रत रहे, इससे क्या सिद्धि है? अब उन शत्रु मित्र आदि परपदार्थों में आत्मीयता की कल्पना तू छोड़ दे।

**सहज स्वतत्व का उपयोग शान्तिदान में समर्थ** – जो मनुष्य समस्त जीवो में उस सामान्य तत्व को निरख सकता हैजिस तत्व की अपेक्षा से सब समान है, तो उसने ज्ञानप्रकाश पाया समझिये। जो इन अनन्त जीवो में से यह मेरा है, यह गैर है, ऐसी बुद्धि बनाता है वह मोह के पक्ष से रंगा हुआ है। उसे शान्ति का मार्ग कहाँ से मिलेगा, वह तो अपनी राग वेदना को ही शान्त करने का श्रम करता रहेगा, ये दृश्यमान पदार्थ तेरे कुछ

नहीं है और न तू कभी उन पदार्थों का हो सकता है। अतः विवेक ज्ञान का आश्रय कर, अपना हित सोच, शान्ति से कुछ रहने का यत्न तो बना, पर की और दृष्टि देने से अशान्ति ही होती है क्योंकि उपकार है स्वाश्रित और इस उपकार को तुमने अपनी कल्पना से बना लिया पराश्रित तो ये परपदार्थ भिन्न है, असार है अध्रव है तब इनकी और लगा हुआ उपयोग हमें कैसे शान्ति का कारण बन सकता है?

**आत्मध्यान का आदेश** – भैया ! आत्मध्यान ही सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। एतदर्थ वस्तु का सम्यग्ज्ञान चाहिए, स्वतंत्र-स्वतंत्र स्वरूप का भान होना चाहिए और इसके लिए कर्तव्य है कि हम ज्ञानार्जन में अधिकाधिक समय दें। गुरुजनों से पढ़े, चर्चाएँ करके, ज्ञानाभ्यास करके अपना उपयोग निर्मल बनाएँ। इस प्रकार यदि ज्ञान की रुचि जगी, धर्म की रुचि बनी तो हमें शान्ति का कुछ मार्ग मिल सकेगा, अन्यथा बहिर्मुखी दृष्टि में तो शान्ति नहीं हो सकती। इसे इन शब्दों में कहा गया है कि है आत्मन्! तू पर के उपकार में अभी तक लगा रहा, अर्थात् तेरा जो यह शरीर है वह पर है, और तू इन देहादिक के उपकार में अभी तक जुटा रहा। इसकी और से अपने उपयोग को हटाकर ज्ञानघन आनन्दनिधान अपने उपयोग को हटाकर ज्ञानघन आनन्दनिधान अपने शुद्ध चिदानन्दस्वरूप को निरख। इसके अनुभव में जो आनन्द बसा हुआ है वह आनन्द संसार में किसी भी जगह न मिल सकेगा। इस कारण अपने उपकार के लिए तत्त्वज्ञान का उपाय कर।

**गुरुपदेशादभ्यासात्संवितैः स्वपरान्तरम्।**

**जानाति यः स जानाति मोक्ष सौख्यं निरन्तरम्।।33।।**

**ज्ञानार्जन के उपायो में दिग्दर्शन** – जो जीव गुरुओ के उपदेश से अथवा शास्त्र के अभ्यास से अथवा स्वात्मतत्त्व के अनुभव से स्वपर के भेद को जानता है वही पुरुष मोक्ष के सुख को जानता है। यहां तत्त्वज्ञान के अर्जन के उपाय तीन बताये गए हैं। पहिला उपाय है गुरु का उपदेश पाना, दूसरा उपाय है शास्त्रों का अभ्यास करना और तीसरा उपाय है स्वयं मनन करके भेदविज्ञान अथवा स्वसम्बेदन करना। इन तीन उपायो में उत्तरोत्तर उपाय बड़े हैं। सबसे उत्कृष्ट उपाय स्वसम्बेदन है। मोक्ष सुख के अनुभव करने के उपायो में सर्वोत्कृष्ट उपाय स्वसम्बेदन है। उसके निकट का उपाय है शास्त्राभ्यास और सर्व प्रथम उपाय है गुरुजनों का उपदेश पाना।

**गुरुस्वरूप का निर्देशन** – गुरु वे होते हैं जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहो से विरक्त रहते हैं। बाह्य परिग्रह है 10 । खेत, मकान, अन्न आदि धान्य, रूपया रकम, सोना चाँदी, दासी, दास, बर्तन और कपड़े। इन दसों में सब आ गए और अन्तरंग परिग्रह है 14, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ और 9 प्रकार की नो कषायें। इन 14 परिग्रहो के और 10 परिग्रहो के जो त्यागी होते हैं उन्हें गुरु कहते हैं। गुरु आत्मतत्त्व का कितना अधिक रुचिया है कि

जिसके सिवाय एक स्वानुभाव की वाञ्छा के अन्य कुछ वाञ्छ नहीं है। वे ज्ञानध्यान तपस्या में ही जो निरत रहते हैं।

**तप, ध्यान व ज्ञान में परस्परता** – ज्ञान, ध्यान और तप में सबसे ऊँचा काम है ज्ञान। ज्ञान न रह सके तो दूसरा काम है ध्यान और ध्यान भी न बन सके तब तीसरा काम है तप। यहाँ ज्ञान से मतलब साधारण जानकारी नहीं है किन्तु रागद्वेषरहित होकर केवल ज्ञाताद्रष्टा नहीं रह सकता तो उसके लिए दूसरा उपाय कहा गया है ध्यान। ध्यान में चित एकाग्र हो जाता है और उस एकाग्रता के समय में धर्म की और एकाग्रता के काल में इसका विषयकषायों में उपयोग नहीं रह पाता, इस कारण यह ध्यान भी साधु का द्वितीय काम है और तपस्या भी साधुओं का काम है।

**बाह्य तपो में अनशन, ऊनोदर व वृत्तिपरिसंख्यान का निर्देश** – तपों में बाह्य तप 6 है – अनशन करना, भूख से कम खाना और अपनी अंतरायों की परीक्षा करने के लिए कर्मों से मैं कितना भरा हुआ हूँ, इसकी परीक्षा करने के लिए नाना प्रकार के नियम लेकर उठना, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन व कायक्लेश। पुराणों में आया है कि एक साधु ने ऐसा नियम लिया था कि कोई बैल अपनी सींग में गुड़ की भेली छेदे हुए दिख जाय तो आहार करूँगा। अब बतलाओं कहाँ बैल और कहाँ गुड़ और सींग में भेली दिखे, किसी समय दिख जाय यह कितना कठिन नियम लिया था? कितने ही दिनों तक उनका उपवास चलता रहा। आखिर किसी दिन कोई बैल किसी बनिया की दूकान के सामने से निकला, उस बैल ने गुड़ की भेली खाने को मुँह दिया, उस बनिया ने उस बैल को भगाना चाहा तो ऐसी जल्दबाजी के मारे बैल की सींग में भेली छिद गयी। जब वह बैल सामने से निकला तो मुनि महाराज की प्रतिज्ञा पूरी हुई और आहार लिया। यह सम्बंध अपने आपके भीतर से है, लोकदिखावे के लिए नहीं कि हम 10 जगह से लौटकर आयेंगे, लोगो में भबड़ मचेगी और आपस में चर्चा चलेगी कि महाराज की आज विधि नहीं मिली, क्या इनकी विधि है, यह तो बड़ाभारी तप कर रहे हैं। साधु कभी अपने अंतराय की परीक्षा करना चाहें तो करते हैं। समाज के बीच ही रहते हुए कौन सा कार्य ऐसा खिर गया है जिससे परीक्षा करने की मन में ठानी कि हम परीक्षा करेंगे अंतराय की। यह बहुत दुर्घर तप है। इसका अधिकारी एकांतवासी बनवासी बड़ा तपस्वी हो वह हुआ करता है।

**रस परित्याग, विविक्त शय्यासन व कायक्लेश तप का निर्देश व तपों की आदेयता**— रस परित्याग – एक दो रस छोड़ना –सब रस छोड़ना, रस छोड़कर भोजन करना रस परित्याग तप है। एकांत स्थान में सोना, उठाना, बैठना, रहना यही विविक्त शय्यासन है, और गर्मी में गर्मी के तप, शीत में शीत के तप और वर्ष काल में वृक्षों के नीचे खड़े होकर ध्यान लगाने का तप, और-और प्रकार के उनके काय क्लेश हो, इन बाह्य तपों को ये साधुजन किया करते हैं। तपस्या में उपयोग रहने से विषयकषायों से चित हट जाता है

और अपने आपके आत्मा के शोधन का उपयोग चलता है, इससे यह तप भी साधुओं को करने योग्य है। यों ज्ञान ध्यान तपस्या में निरत साधुजनों का उपदेश पाकर यह जीव अपने आप में निर्मलता उत्पन्न करता है, स्वपर का भेदविज्ञान होता है।

**शान्ति की साधना** – शान्ति के लिए लोग अन्य-अन्य बड़ा श्रम करते हैं। वह श्रम ऐसा श्रम है कि जितना श्रम करते जावो उतना ही फंसते जावो, अशांत होते जावों। जिसके पास किसी समय 100) की भी पूंजी न थी और वह आज लखपति हो गया तो उसकी चर्या को देख लो – क्या शान्ति उसने पा ली है ? बल्कि कुछ अशान्ति में वृद्धि ही मिलेगी। जितना अधिक धन अपने पास है उतनी ही चिन्ता उसकी रक्षा की बढ़ती जाती है। मैं धनी हूँ, मैं सम्पदावान हूँ, मैं इज्जत वाला हूँ – ये सब बातें अज्ञानी जनों के बढ़ती जाती हैं। तब अशान्ति बढ़ी या शान्ति हुई ? वस्तुतः सम्पदा न अशान्ति करती है और व शान्ति करती है। यह तो अपने-अपने ज्ञान की बात है। भरत चक्रवर्ती 6 खण्ड की विभूति को पाकर अशान्त न रहते थे और दिगम्बर दीक्षा धारण करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में ही उनके केवलज्ञान हो गया था। उन्होंने गृहस्थावस्था में बड़ी आत्मभावना की थी। घर में रहते हुए भी वैरागी का दृष्टान्त भरत का ही प्रसिद्ध है।

**भेदविज्ञान से मोक्ष सौख्य का परिचय** – साधु संतो के उपदेश से जो आत्मा और पर का भेदविज्ञान होता है वह आत्मस्वरूप को जानता है और मुक्ति में क्या सुख है, उस सुख को भी पहिचानता है। मुक्ति मायने है छुटकारा मिल जाना। द्रव्यकर्म, शरीर, रागादिक भाव इन सबसे छुटकारा मिलने का नाम है मुक्ति। इनसे छूटे रहने का मेरा स्वभाव है। यह जब तक अनुभव में न आए तब तक वह छुटकारे का क्या उपाय करेगा? यह मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप हूँ और मुझसे भिन्न ये समस्त जड़ पदार्थ हैं, वे मेरे कभी नहीं हो सकते। जब तक यों भेदविज्ञान नहीं होता तब तक आत्मा की पहिचान भी नहीं होती। चित्त तो लगा है बाहरी और, आत्मा की सुध कौन ले। और ऐसे प्राणी जो मूढ़ हैं, बहिर्मुख हैं, धन के लोलुपी हैं वे अपनी दृष्टि के अनुसार ही जगत में सबको यों देखेंगे कि सभी मोही हैं, अधर्मी हैं। पापी पुरुष ऐसा जानते हैं कि सभी ऐसा किया करते हैं क्योंकि उनके उपयोग में जो बसा हुआ है उसका ही दर्शन होगा।

**शास्त्राभ्यास की महती आवश्यकता** – दूसरा उपाय बताया गया है शास्त्राभ्यास का। शास्त्र का अभ्यास भी सिलसिलेवार ठीक ढंग से पढ़े बिना नहीं हो सकता। लोग घर के काम, दूकान के काम तो कैसा सिलसिले से करते हैं कपड़े का काम अथवा सोना चांदी का काम करेंगे तो उस अलमारी में अच्छी तरह रखेंगे, हर काम तो सिलसिले से करते हैं पर धर्म का कार्य ठीक ढंग से सिलसिले से नहीं करते हैं। शास्त्र पढ़ना हो तो कोई भी शास्त्र उठा लिए और उसकी दो लकीर देख ली, देखकर धर दिया और चल दिया। अगर चार – छः महिलाओं के शास्त्र का नियम हो तो वे सब एक शास्त्र उठा लेंगी जिसमें खुले

पन्ने होते हैं तो उस शास्त्र के पन्ने फिर क्रम से न रह पायेंगे क्योंकि एक महिला एक कागज उठायेगी दूसरी उस पर दूसरा कागज धरेगी। किसी किसी जगह तो इसी के लिए एक शास्त्र रिजर्व रहता है। तो इस तरह का शास्त्र का पढ़ना कुछ भी लाभ नहीं दे सकता है। संसारी काम से भी बढ़ करके सिलसिला चाहिए शास्त्राभ्यास के लिए। पहिले किन्ही गुरुओं से पढ़ना, क्रमपूर्वक पढ़ना, उसको कुछ अभ्यास में लेना और उसके बाद सिलसिले से उसे पढ़ना। यह शास्त्र का अभ्यास बढ़ाना बहुत काम है। इसमें समय देना चाहिए आजीविका के काम से ज्यादा।

**सांसारिक लाभ की उदयानुरूपता** – भैया ! आजीविकाका काम आपके हाथ पैरकी मेहनत से नहीं बनता, वह तो उदयाधीन है, जैसा उदय हो उस पुण्य के माफिक प्राप्ति होती है। आप 10 घंटे बैठें तो और दो घंटे बैठें तो, जो उदय में है वही समागम होता है। अगर लोग नियमितता जान जाये कि ये इतने बजे दूकान खोलते हैं, तो वे ग्राहक उतने ही समय में काम निकाल लेंगे। एक बजाज के ऐसा नियम है कि 500 का कपड़ा बिक जानेपर फिर दूकान बंद कर दें और अपने नियमपर वह बड़ा दृढ़ रहता है, सो उसकी दूकान के खुलनेका जो टाइम है उससे पहिले ही अनेक ग्राहक बैठे रहते हैं, यदि इसका 500 का कपड़ा बिक गया तो फिर हमें कुछ न मिलेगा। 500 का कपड़ा घंटा डेढ़ घंटामें ही बिक जाता है और अपनी दूकान वह बंद कर देता है।

**अनुकूल उदयमें सुगम लाभ** – भैया ! लाभकी बात उतनी ही है। जैसे पहिले कभी बाजारकी छुट्टी न चलती थी और आजकल बाजारकी छुट्टी चल रही है, तो बाजारकी छुट्टी हो जाने से व्यापार में हानि नहीं हुई। अगर कुछ हानि है तो वह और कारणों से हे ऐसे ही समय भी नियत हो गया। 10 घंटा दूकान खुलेगी, 8-9 बजे रातको बंद हो जायगी। गर्मी के दिनोमें मान लो 8 बजे खुलनेका टाइम हो गया, 12 घंटे दूकान चलें, पहिले कुछ समय नियत भी था। जितने समय तक चाहें उसमें जुटे रहे, तो समयकी बंदिशसे भी प्राप्ति में हानि नहीं हुई। तो यदि कोई एक भी व्यक्ति दृढ़ रहकर अपना हित करनेके लिए समय निकाले तो उसका उतने ही समयमें काम निकल सकता है। यह भी बहुत बड़ी आफत लगी है कि न स्वाध्याय सुन पाते हैं, न कभी धर्मका काम कर पाते हैं। चिन्ता ही चिन्ता रोजगार सम्बंधी लगी है, उसीमें ही प्रवृत्ति लगी रहती है। पर धन पाया और धर्म न पाया तो कुछ भी न पाया। जो पाया है वह तो मिट जायगा, किन्तु जो धर्मसंस्कार बन जायगा, जो ज्ञानप्रकाश होगा वह तो न मिटेगा, इस जीवको आनन्द ही वर्षायेगा।

**धर्मलाभ ही अपूर्व लाभ** – भैया ! शास्त्राभ्यास में बहुत समय दो और श्रम भी करो, और व्यय भी करना पड़े तो होने दो, यदि अपने आपका ज्ञान हो जायगा तो समझो उसने सब कुछ निधि पा ली। तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर करके भी यदि एक धर्मदृष्टि पायी, आत्मानुभव जगा तो उसने सब पाया। यह ही एक बात न हो सकी और

केवल बहिर्मुखदृष्टि ही रही तो उसने क्या पाया ? जो पाया वह सब एक साथ मिट जायगा। लोग यह सोचते हैं कि हम मर जायेंगे, सारा धन यही रह जायगा तो वह अपने बालबच्चों के नाती पोतोंके ही तो काम आयगा। मगर मरकर वह जिस भी जगह पैदा होगा उसके लिए तो अब नाती बेटे कुछ भी नहीं रहे। न उन नाती पोतों के लिए वह कुछ रहा। भला यह तो बतावो कि आपके पूर्व जन्मका माता पिता कौन है, कहाँ है, कुछ भी तो याद नहीं है। वे चाहे जो सुख दुःख भोग रहे हों, पर अपने लिए तो वे कुछ नहीं है। इस कारण यह ममताकी बात इस जीवको हितकारी नहीं है।

**ज्ञानार्जन व ज्ञानदानकी सातिशय निधि** – भैया ! जैसे अपने आपमें ज्ञानप्रकाश हो वह काम करनेके योग्य है। शास्त्राभ्यासका उपाय प्रथम तो है गुरुमुखसे अध्ययन करना, दूसरा है दूसरोको उपदेश देना। जो पुरुष दूसरोको विद्या सिखाता है उसकी विद्या दृढ़ हो जाती है। ज्ञानका खजाना एक अपूर्व खजाना है। धन वैभव यदि खर्च करो तो वह कम होता है पर ज्ञानका खजाना जितना खर्च करोगे उतना ही बढ़ता चला जायगा। तो दूसरो को पढ़ाना यह भी शास्त्राभ्यास का सुन्दर उपाय है। ज्ञानार्जनका तीसरा उपाय है धर्मकी चर्चा करे, जो विषय पढ़ा है उसका मनन करे, यों शास्त्राभ्याससे स्व और परका भेद विज्ञान करना चाहिए। तीसरा उपाय है स्वसम्वेदन। आत्मा अपने आपको जाने, अनुभव करे उसे स्वसम्वेदन कहते हैं। स्व है केवल ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र, उसका सम्वेदन होना, अनुभव होना यह भी ज्ञानका उपाय है। इन सब उपायों से ज्ञानका अर्जन करना चाहिए।

**आत्मानुभूतिके आनन्दसे मुक्तिके आनन्दका परिचय** – जो साधु संत ज्ञानी पुरुष आत्मा और परको परस्पर विपरीत जानता है और आत्माके स्वरूपका अनुभव करता है उसमें जो इसे आनन्द मिलेगा उस आनन्दकी प्राप्तिसे यह जान जाता है कि मुक्तिमें ऐसा सुख होता है। जब क्षणभरकी निराकुलतामें, शुद्ध ज्ञानप्रकाशमें उसे इसका आनन्द मिला है तो फिर जिसके सब मूल कलंक दूर हो गए हैं, केवल ज्ञानानन्दस्वरूप रह गया है। उन अरंहत सिद्ध भगवंतोको कैसा सुख होता होगा? वह अपूर्व है और उसकी पहिचान इस ज्ञानीको हुई है। कोई गरीब 4 पैसेका ही पेड़ा लेकर खाये और कोई सेठ एक रुपयेका एक सेर वही पेड़ा लेकर खाये पर स्वाद तो दोनो को एकसा ही आया, फर्क केवल इतना रहा कि वह गरीब छककर न खा सका, तरसता रहा, पर स्वात तो वह वैसा ही जान गया। इसी तरह गृहस्थ ज्ञानी क्षणभरके आत्मस्वरूपके अनुभवमें पहिचान जाता है— भगवंतोको किस प्रकारका आनन्द है, भले ही वह छककर आनन्द न लूट सके लेकिन जान जाता है। यों यह ज्ञानी पुरुष आत्मज्ञानसे मुक्तिके सुखको निरन्तर पहिचानता रहता है।

**स्वस्मिन् सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।**

**स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः।।34।।**

**स्वयंके द्वारा ही स्वयंके कल्याणका यत्न** – यह जीव उत्तम प्रयोजनकी अपने आपमें भी अभिलाषा करता है और उत्तम प्रयोजनके कार्यका खुद ही ज्ञान करता है और हितका प्रयोग भी यह स्वयं ही करता है। इस कारण आत्माका गुरु वास्तवमें आत्मा ही है। लोकमें जब किसीका कोई अभीष्ट गुजर जाता है और उसके हृदय बड़ा धक्का लगता है तब उस विहल पुरुषको समझाने के लिए अनेक रिश्तेदार अनेक मित्र खूब समझाते हैं और उपाय भी उसके मन बहलानेका करते हैं किन्तु कोई क्या करे, जब उसके ही ज्ञानमें सही बात आये, भेदविज्ञान जगे, तब ही तो उसे संतोष हो सकेगा, दूसरे हैरान हो जाते हैं, पर स्वयं समझे तो समझ आये। इससे यह सिद्ध है कि स्वयंके किएसे ही फल मिलता है। यहाँ मोक्षमार्ग प्रकरणकी बात कही जा रही है। उत्तम बातकी अभिलाषा यह जीव स्वयं ही करता, स्वयंमें करता और ज्ञान व आचरण भी स्वयं करता है। तब अपना घर परमार्थ से तो स्वयं ही है, किन्तु इससे प्राक् पदवीमें यह दोष ग्रहण नहीं करना चाहिये कि लो शास्त्र में तो कहा है कि आत्माका गुरु आत्मा ही है। अब दूसरा कौन गुरु है, सब पाखण्ड है, सब ऐसे ही है, ऐसा संशय न करना चाहिए क्योंकि जिस किसीको भी अपने परमार्थ गुरुका काम बना, ध्यान बना, ज्ञानप्रकाश हुआ उसको भी प्रथम तो गुरुका उपदेश आवश्यक ही हुआ।

**आत्मलाभमें देशनाकी प्रथम आवश्यकता** – भैया ! कोई भी हो वह पुरुष किसी न किसी रूपमें ज्ञानी विरक्त गुरुवोका उपदेश लगे तब उसकी आँखे खुलती है। प्रथम गुरुकी देशना सबको मिली है, कोई ऐसे पुरुष होते हैं जिनको गुरु को कोई नियोग नहीं मिला और स्वयंही अपने आप तत्त्वज्ञान जगा, उनको भी इस भवमें नहीं तो इससे पूर्वभवमें गुरुकी देशना अवश्य मिली थी। यह तो शास्त्र का नियम है कि सम्यक्त्वकी उत्पत्ति में 5 लब्धियाँहोती है। सम्यग्दर्शन किसके होता है और किस विधि से होता है, उसके समाधानमें कहा गया है कि 5 लब्धियाँ हो तो सम्यग्दर्शन हो उसमें देशना तो आ ही गई।

**सम्यक्त्वकी पांच लब्धियोंमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धि** – सम्यक्त्वकी लब्धियोंमें पहिली लब्धि है क्षयोपशम लब्धि। कर्मोका क्षयोपशम हो, उदय कुछ कम हो तब इसकी उन्नतिका प्रारम्भ हाता है। जब इस प्रकारका क्षयोपशम हो तो दूसरी लब्धि पैदा होती है उसका नाम है विशुद्धि लब्धि। किसी उत्कृष्ट चीज के लाभका नाम लब्धि है, परिणाम उसका उत्तरोत्तर निर्मल होता जाता है। जिसकी कषाये मंद हो वही पुरुष तो गुरुके सम्मुख बैठ सकेगा, गुरुकी विनय कर सकेगा, गुरुकी बात ग्रहण कर सकेगा। ऐसा व्यक्ति जो कषायोंमें रत रहता है वह गुरुकी देशना सुनेगा ही क्यों? तो जब विशुद्धि बढ़ी, जब यह गुरुके उपदेशका लाभ प्राप्ता करता है। यहाँ तक तो कुछ बुद्धिपूर्वक उद्यमकी बात रही। अब इसके बाद स्वयं ही ऐसा परिणाम निर्मल होता है। जिसके प्रतापसे कर्मों का बंध और बहुत बड़ी स्थिति वह घटाने लगता है, कम स्थितिका कर्म बाँधने लगता



है। और उसही दरम्यानमें 34 अवसर ऐसे आते हैं जिनमें जो नियत प्रकृतियाँ हैं उनका बंध रुक जाता है। यह मिथ्यादृष्टि जीव की ही बात कह रहे हैं अभी। जिसको सम्यक्त्व पैदा हुआ है ऐसे मिथ्यादृष्टि की निर्मलता बतायी जा रही है। यों बंधापसरण भी करते हैं और स्थितिका बंध भी कम करते जाते हैं। तो इसके बाद फिर करणलब्धि पैदा होती है।

**सम्यक्त्वकी नियामिका करणलब्धि** – प्रायोग्यलब्धि नाम है उसका जिससे बंधापसरण होता है और स्थिति कम होती है इन चार लब्धियों तक तो अभव्य भी चल सकता है जिसको कभी सम्यग्दर्शन नहीं होना है, ऐसा अभव्य जीव भी चार लब्धियोंका लाभ ले सकता है, किन्तु करणलब्धि उनके ही होती है, जिनको नियमसे अभी ही सम्यग्दर्शन होना है, उन करणोका नाम है अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इन करणोका 8वे, 9वें गुणस्थान से सम्बन्ध नहीं है। जो अभी कहे जा रहे हैं, ये तो मिथ्यादृष्टिके हो रहे हैं अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। सम्यक्त्व उसके प्रतापसे उत्पन्न होता है। तो इस विधिसे आप जान गये होंगे कि सम्यग्दर्शनके लिए गुरुका उपदेश आवश्यक है, लेकिन यहाँ परमार्थ स्वरूप कहा जा रहा है कि गुरुका उपदेश भी मिले और न माने जरा भी तो क्या लाभ होगा? जैसे कहावत है कि पंचोकी आज्ञा सिर माथे पर पनाला यहीं से निकलेगा, ऐसे ही शास्त्रोकी बात सिर माथे, गुरुकी बात सिर माथे, पर धन वैभव घर, कुटुम्ब इनमें मोह वहीका वही रहेगा। इनमें अन्तर न आए तो उसका फल खुद को ही तो मिलेगा।

**स्वयंका हित स्वयंके ही द्वारा संभव** – भैया ! सत्य आनन्द चाहो तो मोहमें ढिलाव खुदको ही तो करना पड़ेगा। ऐसा कोई गुरु न मिलेगा जिससे कह दें गुरुजी कि आप ऐसा तप कर लो जिससे मुझे सम्यग्दर्शन हो जाय। जैसे पंडोसे कह देते हैं ग्रहशान्ति के लिए कि तुम एकलाख जाप हमारे नामपर कर दो तो हमारा उपसर्ग टल जायगा। उसका उपसर्ग टले या न टले, पर उस पंडाका उपसर्ग तो तुरन्त टल जायगा। जो सामग्री लिखी-इतना सोना, इतना चाँदी, पंचरत्न, अनेक नाम ऐसे रख लिए कि पंडाका उपसर्ग तो टल जाता है। भला, दूसरेके विग्रहको कौन टालेगा? ऐसा वस्तुका स्वरूप ही नहीं है। कोई गुरुको नामका ध्यान करे, तप करे, उपदेश सुने, सत्सगमें रहे किन्तु खुदके ही परिणामोंमें योग्य परिवर्तन न करे तो काम न चलेगा। तब स्वयंका गुरु स्वयं ही हुआ। जो आत्महितकारी उपदेश देता है अथवा अज्ञान भावको दूर करता है वही वास्तवमें मेरा गुरु है, यह तो व्यवहारकी बात है, ऐसे आचार्य उपाध्याय आदिक हो सकते हैं, लेकिन वे निमित्तरूप रहें इस कारण व्यवहारमें गुरु हुए।

**औपचारिक व्यवहार** – क्या कोई गुरुजन शिष्यके आत्माको, भक्तोके उपयोगको सम्यग्दर्शन रूप परिणामा सकते हैं? कभी नहीं। व्यवहारमें लोग कहा करते हैं कि तुम्हारे सुखसे हमें सुख है, तुम्हारे दुःख में हमें दुःख है, यह सब मोह में कहनेकी बात है, ऐसा

कभी हो ही नहीं सकता कि किसी दूसरेके परिणमनसे किसी दूसरे को सुख दुःख मिले। यह तो एक मोहमें बकवाद है। कितने ही लोग कहते हैं कि हमारा दिल तो तुम ही में धरा है, पर ऐसा हो ही नहीं सकता कि किसीका दिल किसी दूसरेके दिलमें धर जाय। जिस वस्तुका जो परिणमन है वह उस वस्तुमें ही सन्निहित रहेगा, अन्यत्र पहुंच नहीं सकता। जो ऐसी गप्पें मारते हैं उनकी पूरी परीक्षा करना हो तो उनके मनके खिलाफ दो एक काम कर बैठो, सब निर्णय सामने आयागा।

**परमार्थ गुरु** – आजकल कितना अच्छा हमें संयोग मिला है? गुरुजनोका हितकारी उपदेश भी मिलता है लेकिन स्वयं ही इस प्रकार की अभिलाषा करे, ध्यान जमायें, आचरणकरे तो मोक्षमार्ग नहीं मिलता, वह केवल निमित्तरूप कारण है इसलिए वास्तविक गुरु तो आत्माक आत्मा ही है क्योंकि आत्मसुखकी प्राप्ति हो, मोक्ष मिले ऐसी रूचि भी इसको ही करना होता है। परमार्थसे मेरे हितरूप तो मोक्ष ही है ऐसा यथार्थज्ञान इसको ही करना होता है, ऐसा यत्न, ऐसी भावना और इस प्रकारकी प्रवृत्ति इस ही को करना पड़ती है। तब गुरु स्वयंका स्वयं ही हुआ ना। कोई दोष बन जाय तो इसको ही अपनी निन्दा, गर्हा, आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, ध्यान ये सब इसको ही करने पड़ते हैं तब दोषो की शुद्धि होती है। कल्याणके लिए विषय सुखों से सुख मोड़ना प्रथम आवश्यक है। यह भी एक तप है जो सुगम मिले हुए विषयसाधनोमें भी आसक्ति उपन्न नहीं होती। वह बात स्वयंको ही करना पड़ता है।

**स्वयंके कार्यमें स्वयंका कर्तृत्व** – भैया ! जैसे और कामोमें लोग कहते हैं चलो रहने दो, यह काम हमी करें आते हैं। शायद कोई ऐसा भी कह देता हो कि चलो तुम यहाँ ही बैठो हम ही दर्शन किए आते हैं, तुम्हारा जगह पर मंदिरका दर्शन हम कर आयेगें और कहे आयेगें कि हमारे बबूका भी दर्शन ले लो। ऐसा तो शायद कोई भी न कहता होगा, और ऐसा कह भी दिया यदि किसीने तो क्या दर्शन हो गया? ध्यान और ज्ञानके अंतः प्रयोगकी बात तो सबसे अनोखी बात है। खुदको ही ज्ञान ध्यान तपमें रत होना पड़ता है और स्वयं ही स्वयंमें प्रसन्न रहे तब मोक्षमार्ग मिलता है, इसलिए आत्माका गुरु यह आत्मा ही हुआ, आत्मा चाहे तो अपनेको संसारी बनाए और चाहे तो मोक्ष सुखमें ले जाए, दूसरा मेरी परिणतिका अथवा स्वभावका कर्ता धर्ता नहीं है। स्वयं ही शुभ भाव करता है तो उत्तम गति पाता है और स्वयं ही कुभाव करता है तो खोटी गति पाता है, और शुभ और अशुभ भावोका परित्याग करके आत्माके शुद्ध चेतन्यस्वरूपमें जब यह विचरने लगता है तो कर्म बंधनोको तोड़कर मुक्तिको भी यह अकेले प्राप्त करता है। यही जीव भ्रमी बनकर संसारमें रूलता है।

**कथन और आचरण** – विषयोंसे मुझे सुख मिलता है ऐसी भीतरमें वसना बसी है, मुखसे कुछ भी कहे, धर्मके नामपर ज्ञान और वैराग्यकी बात भी कहें किन्तु प्रतीतिमें वही

विषय विषरस भरा है सो ऐसी हालत हो जाती है जैसे सुवा पाठ रटता रहता है, उड़ मत जाना, नलनी पर मत बैठ जाना, बैठ जाना, तो दाने चुगनेकी कोशिश न करना, दाने चुगना तो उसमें औंधं न जाना औंधं भी जाना तो नलनीको छोड़कर उड़ जाना। पाठ याद है लेकिन अंतरंग मं प्रेरणा जगती है विषयवासनाकी, तृष्णकी। मौका पाकर वह तोता पिंजड़े से उड़ गया, नलनी पर बैठ गया, दाने चुगने लगा, उलट गया और कही मैं गिर न जाऊं इस ख्यालसे वह नलनीको ही पकड़े रहता है। ऐसे ही जिसके अन्तरमें भ्रमवासना बसी है वह पूरा भी करता जाय, पाठ भी पढ़ता जाय, साथ ही विषयमें बुद्धि भी बनी है, ऐसा भ्रमी पुरुष शान्ति संतोष कहाँ से पायगा? विवेक जाग्रत हो तो जैसे वह तोता नलनी को छोड़कर उड़ जायगा।

**स्वयंकी उलझन और सुलझन** – भैया ! विवेक जागृत हो तो भीतरमें ही तो एक सही ज्ञान बनाना है। कुछ घरके लोगोसे यह नही कहना है कि तुम नरकमें डुबाने वाले हो, ऐसी गालियां नही देना है किन्तु अन्तरंग में ऐ समझभर बना लेना है कि मेरा मात्र मैं ही हूं जैसा भी मैं अपने को रच डालूँ। इस अज्ञानी प्राणीने अपने ही अज्ञानसे अपने ही अन्यायसे इन संसारके बन्धनोको बढ़ाया है। अब बन्धनोको कौन तोड़ेगा। यह आत्मा स्वयं ही तोड़ेगा। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति रूप यह स्वयं ही परिणमेगा। अरहंत अवस्था तो इसेक स्वयंके ही स्वसम्बेदनसे प्रकट होगी और समस्त कर्मों से मुक्त होकर शाश्वत सुख और पूर्ण निरञ्जनताको यही अकेला प्राप्त करेगा।

**स्वयंका कर्तव्य** – इससे यह शिक्षा लेनी है कि हमारे करने से हमारा कल्याण है दूसरे के प्रयत्न से हमारा कल्याण नही है। घरके आंगनामें कोई आसपासकी भीत गिर जाय और आंगनमें इकट्टी हो जाय तब तो यह बुद्धि चलती है कि यह आंगन हमें ही साफ करना पड़ेगा, कोई दूसरा साफ करने न आ जायगा। ऐसे ही यहा समझो कि भ्रमसे खुदमें दोष भर गए है तो उन दोषो का निराकरण खुदके ही पुरुषार्थसे होगा, दूसरा कोई मेरी गंदगी निकालने न आ जायगा।

**ज्ञानवैभव** – यथार्थ ज्ञान होना सबसे अलौकिक वैभव है। धन, कन, कंचन, राजसुख सब कुछ सुलभ है किन्तु आत्माके यथार्थ स्वरूपका यथार्थ बोध होना बहुत कठिन है। यह वैभव जिसने पाया है समझिए उन्होने सब कुछ प्राप्त कर लिया, एक इस ज्ञाननिधि के बिना यह जीव वैभव के निकट बसकर भी हीन है, गरीब है, अशान्त है। इसलिए सब प्रकार से प्रयत्न करके एक इस आत्मज्ञानको उत्पन्न करे, यही शरण है।

**नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति ।**

**निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेधर्मास्तिकायवत् ।।35 ।।**

जो पुरुष अज्ञानी है, तत्वज्ञानकी जिनमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है अथवा कहिए अभव्य है वे किसी भी प्रसंगसे ज्ञानी नहीं हो पाते हैं। और जो ज्ञानी है, जिनके तत्वज्ञान हो गया है वे आज्ञानी नहीं हो सकते। अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानको प्राप्त नहीं करते और ज्ञानी जीव मोहको प्राप्त नहीं होते ।

**ज्ञान विकास व अज्ञान परिहार** – जैसे बाहर रस्सी पड़ी हुई है और उसमें किसीको सांप का भ्रम हो गया है तो जब तक सांपका भ्रम बना हुआ है उस भ्रमको ज्ञान नहीं हो पाता है, और जब ज्ञान हो गया, जान लिया कि यह रस्सी ही है तब उसके भ्रम नहीं हो पाता है, अथवा अज्ञानी से ज्ञानी बननेके लिए स्वयंमें ही तो अज्ञानका परिहार करना होगा और स्वयंमें ही ज्ञानका विकास करना होगा। गुरु विकास नहीं करते। विकास हो रहा हो तो अन्य गुरु जन निमित्तमात्र होते हैं। जैसे जीव पुद्गल जब चलनेको उद्यत होते हैं तो धर्मद्रव्य निमित्त है, पर धर्मद्रव्य चला नहीं देता। पानीमें मछली है, जब वह चलती है तो उसके चलामें पानी कारण है, पर पानी मछलीको चलाता नहीं है। चलना चाहे मछली तो निमित्त मौजूद है। ऐसे ही जो पुरुष अज्ञानको छोड़कर ज्ञानी होना चाहता है अथवा ज्ञानी होनेको उद्यत है उसको गुरुजन निमित्त मात्र है।।

**उपादान सिद्धता** – भैया ! जो ज्ञानी बनना चाहता है उसको कहाँ रुकावट है। शास्त्र है, गुरु है, साधर्मियोका संग है, सब कुछ प्रसंग है, कहाँ अटक है कि मुझे साधन नहीं है, मैं कैसे ज्ञान पैदा करूँ? जिसे ज्ञान नहीं पैदा करना है उसको निमित्त ही कुछ नहीं बबन पाते हैं। वह ही चीज दूसरो के लिए निमित्त बन गई जो ज्ञानी होना चाहते हैं और जो ज्ञानी नहीं होना चाहते हैं उनके लिए कुछ निमित्त नहीं है। प्रत्येक पदार्थमें परिणमन की शक्ति है। पदार्थ में जो शक्ति है उसका परिणमन स्वयंका ही कार्य बनता है। उस कार्य के समय अन्य पदार्थ निमित्त मात्र है। जैसे इस समय जो श्रोता यह रुचि करता हो कि मुझे तो अपने ज्ञानस्वरूपमें अपने उपयोगको लगाना है और अपना ध्यान अच्छा बनाना है तो उसके लिए तो शास्त्र के वचन निमित्त हो जायेगे, पर जिनके ऐसी रुचि नहीं है, जिनका उपयोग भ्रममें बना हुआ है उनके लिए ये शास्त्र के वचन निमित्त नहीं है। सब जीवोके स्वयंके उपादान की विशेषता है।

**उपादान और निमित्त प्रसंग** – पूर्व श्लोक में कहा गया था कि परमार्थसे आत्मा का आत्माही गुरु है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा स्वयं ही अपनेमें उत्तम हितकी अभिलाषा रखता है, उसका ज्ञान और उस रूप आचरण भी यह स्वयं करता है इस कारण अपना गुरु यह स्वयं है। ऐसी बात आनेपर यह शंका होती है तो फिर गुरुजन और उनके उपदेश ये सब बेकार है क्या? उसके उत्तरमें यह कहा गया कि वास्तवमें तो जितने भी कार्य होते हैं, चाहे कोई ज्ञानरूप परिणमे चाहे कोई अज्ञानरूप परिणमें तो यह उसके उपादानसे होता है। वहाँ अन्य जन, पदार्थ तो निमित्तमात्र होते हैं और उसके उदाहरणमें दृष्टान्त देते हैं, जैसे जीव

पुद्गल जब चलने को उद्यत होते हैं तो अपनी उपादान शक्ति से चलते हैं। उस समयमें धर्मास्तिकाय निमित्तमात्र है।

**सिद्धिका आधार और उसका निमित्त** – भैया उपादान व निमित्तकी स्वतंत्रता के अनेक उदाहरण ले लो। चूल्हे पर ढंडा पानी रखा हुआ है, तो पानी जो गर्म होता है वह आगकी परिणति से नहीं गर्म होता है, उस पानी में स्वयं गर्म होने की शक्ति है। वह पानी अपने उपादानसे ही गर्म होता है। हाँ उस सम्बंधमें निमित्त अग्नि अवश्य है, पर आग की परिणति पानीमें आकर पानीको गर्म कर रही हो, ऐसा नहीं है। जैसे आप सब सुन रहे हैं, जो बातें हम कह रहे हैं वे बातें आप सब ज्ञानमें ला रहे हैं, स्वयं ही अपने अन्तरमें ज्ञान का पुरुषार्थ करके जान रहे हैं, हम आपमें ज्ञानकी परिणति नहीं बना सकते हैं। हाँ उस तरहके ज्ञानके विकासमें ये वचन निमित्त मात्र हो रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके उपादानसे परिणत होता है, बाह्यपदार्थ निमित्तरूप सहकारी होते हैं।

**अयोग्य उपादानमें विवक्षित सिद्धिका अभाव** – जिसमें परिणमनेकी शक्ति नहीं है उसमें कितने ही निमित्त जुटे, पर वह परिणमता नहीं है। जैसे कुरड़ मूँगमें पकनेकी शक्ति नहीं है तो आप उसे चार घंटे भी गर्म पानीमें पकावें तो भी नहीं पक सकती। अज्ञानी पुरुष में अभव्यमें, जिसका होनहार अच्छा नहीं है ऐसे मिथ्यादृष्टियोंमें ज्ञान ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं है, अतएव वहाँ कितने ही निमित्त मौजूद हो तों भी वे लाभ नहीं उठा सकते, क्योंकि उपयोग गंदा है। जिन निमित्तोंको पाकर सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी बन सकता है उन ही निमित्तोंको पाकर मिथ्यादृष्टि मोही अज्ञानी जीव दोष ग्रहण करने लगता है। यह सब अपने-अपने उपादानके योग्यताकी बात है।

**लब्धिके बिना विकासका अवरोध** – यदि आत्मामें एक ज्ञान प्राप्त करनेका क्षयोपशम नहीं है, तत्त्वज्ञानकी योग्यता नहीं है उन अभव्य जनोंको सैकड़ों धर्माचार्योंके उपदेश भी सुननेको मिलें तो भी वे ज्ञानी नहीं हो सकते, क्योंकि कोई पदार्थ किसी भी अवस्थाको छोड़कर कोई नई अवस्था बनाए तो उसमें उस पदार्थ की क्रिया और गुणोंकी विशेषता है, दूसरा तो निमित्त मात्र है। प्रयोग करके देख लो – बगुला पढ़ नहीं सकता कभी तोतेकी भाँति, वह अक्षर नहीं बोल सकता तो बगुलाको पालकर यदि उसे वर्षों तक भी सिखावो तो क्या वह बोल लेगा? नहीं बोल सकता। उसमें उस तरह परिणमनेकी शक्ति ही नहीं है। तोतेमें बोलने की योग्यता है, चाहे वह न समझ पाये बोलने को भाव, किन्तु उसका मुख उसकी जिहा व चोंच ऐसी है कि कुछ शब्द वह मनुष्योक्त तरह बोल सकता है। कितने ही लोग तो तोतेको चौपाई तक सिखा देते हैं। कोई गद्यमें बात सिखा देते हैं। वह तोता बोलता रहता है। तो जैसे बगुला सैकड़ों प्रयत्न करनेप भी बोल नहीं सकता है इसी प्रकार अभव्य जीवोंके अज्ञानी जीवोंके चूँकि तत्त्वज्ञान उत्पन्न करनेकी योग्यता नहीं है, इस कारण कितने ही ज्ञानी पुरुषोंके उपदेश मिले, कितने ही निमित्त साधन मिलें तो भी वे ज्ञानी नहीं

बनाये जा सकते हैं। उपादान ही विपरीत है तो वे ज्ञानको कैसे ग्रहण करेंगे? बल्कि वे अज्ञान ही ग्रहण करेंगे।

**योग्यतानुसार परिणमन** – जब तीर्थकरोंका समवशरण होता था उस मसवशरणमें अनेक जीव अपना कल्याण करते थे और अनेक जीव उस समय ऐसे भी थे कि प्रभुको मायावी, इन्द्रजालिया, ऐसे अनेक गालियोंके शब्द कहकर अपना अज्ञान बढ़ाया करते थे, वे कल्याणका पथ नहीं पा सकते थे। हुआ क्या, प्रभु तो वहीके वही, अनेकोने तो कल्याण प्राप्त कर लिया और अनेकोने दुर्गतियोंका रास्ता बना लिया। ये सब जीवोंकी अपनी-अपनी योग्यताकी बातें हैं। जो पुरुष अज्ञान दशाको छोड़कर ज्ञान अवस्थाको प्राप्त करना चाहते हैं वे अपनी ही योग्यतासे ज्ञानी बनते हैं। अन्य जन तो निमित्तमात्र हैं, ऐसे ही जो पुरुष पाप करना चाहते हैं पापोंमें मौज मानते हैं वे अपनी ही अशुद्ध परिणतिसे पापोंका परिणाम बनाते हैं। अन्य जो विषयोंके साधन हैं वे निमित्तमात्र हैं।

**योगीश्वरों का ज्ञानसे अविचलितपना** – जो योगीश्वर सम्यग्ज्ञानके प्रकाशसे मोहान्धकारको नष्ट कर देते हैं, जो तत्व दृष्टि वाले हैं, यथार्थ ज्ञानी हैं, शान्तस्वभावी हैं, ऐसे योगीश्वर किसी भी प्रसंगमें अपने ज्ञानपथको नहीं छोड़ते हैं। यह साहस सम्यग्दृष्टिमें है कि कैसा भी विपदा, कैसा भी उपसर्ग आ जाय तिसपर भी वे अपने ज्ञानस्वभावको नहीं छोड़ सकते। परपदार्थ कैसे ही परिणममें, पर सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष उसके ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहते हैं। किसी कवि ने कहा है कि गाली देने वाला पुरुष गाली देता है और सज्जन पुरुष विनय प्रकट करता है, तो जिसके समीप जो कुछ है उससे वही तो प्रकट होगा।

**परिणमनकी उपादानानुसारिता** – ज्ञानी पुरुष दूसरोंके गुण ग्रहण करता है, दोष नहीं और अज्ञानी पुरुष दूसरोंके गुण नहीं ग्रहण कर सकता, दोष ही ग्रहण करेगा। जो जैसा है वह वैसा ही परिणमता है, कहाँ तक रोका जाए ? मूर्ख पुरुष किसी सभा में सज्जधकर बैठा हो तो कहाँ तक उसकी शोभा रह सकती है? आखिर किसी प्रसंगमें कुछ भी शब्द बोल दिया तो लोग उसकी असलियत जान ही जायेंगे। तोतला आदमी बड़ा सज्जधकर बैठा हो मौजसे तो उसकी यह शोभा कब तक है जब तक कि वह मुखसे कुछ बोलता नहीं है। बोलने पर तो सब बात विदित हो जाती है। जो लोग भीतरसे पोले हैं और आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है और बहुत बड़ी सजावट करके लोगोंमें अपनी शान जतायें तो देखा होगा कि किसी प्रसंगमें वे हँसेगे तो वह हँसी कुछ उड़ती हुई सी रहती है, और जानने वाले जान जाते हैं कि ये बनकर हँस रहे हैं, इनके चित्तमें इस प्रकारकी स्वाभाविक हँसी नहीं है जो स्वाभाविक बात आ सके। कहाँ तक क्या चीज दबाई जाय, जिसमें जैसा उपादान है वह अपने उपादानके अनुकूल ही कार्य करेगा।

**प्रत्येक प्रसंग में ज्ञानी की अन्तःप्रतिबुद्धता** – तत्वज्ञानी पुरुष ज्ञानका ही कार्य करेगा और अज्ञानी पुरुष अज्ञानका ही कार्य करेगा। जैसे स्वर्ण धातुसे लोहेका पात्र नहीं बनाया जा सकता और लोहे की धातुसे स्वर्णका पात्र नहीं बनाया जा सकता अथवा गेहूं बोककर चना नहीं पैदा किया जा सकता और चना बोककर गेहूं नहीं पैदा किया जा सकता। ऐसे ही अज्ञानी जीव, अभच्य जीव धर्मके नाम पर बहुत बड़ा ढोंग रचे तिस पर भी उनके अतरंग ज्ञान कैसे प्रकट हो सकता है और ज्ञानी पुरुष किसी परिस्थितिमें अयोग्य भी व्यवहार करता हो तो भी वह भीतरमें प्रतिबुद्ध रहता है। श्री रामका दृष्टान्त सब लोग जानते हैं। जब लक्ष्मणकी मृत्यु हो गई थी उस समय उनको कितनी परेशानी और विहलता थी? जब सीताका हरण हुआ था उस समय भी कितनी विहलता थी? उस समय के लोग उन्हें अपने भीतरमें पागल कहे बिना न रहते होंगे, वह स्थिति बन गयी थी। किन्तु वे महापुरुष थे, रहे।

**श्रीरामकी अन्तःप्रतिबुद्धताका उदाहरण** – भैया ! कैसे जाना कि राम संकटकाल में भी प्रतिबुद्ध थे? तो एक दो दृष्टान्त देखलो। जिस समय श्रीराम और रावणका युद्ध चल रहा था उन दिनोंमे रावण शान्तिनाथ चैत्यालयमें बैठकर बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा है। लोगो ने राम से कहा कि रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा है। उसने यह विद्या यदि सिद्ध कर ली तो फिर उसका जीतना कठिन है, इस इस कारण विद्या सिद्ध ने होने दे, उसमें विघ्न डाले, उसका उपयोग भ्रष्ट कर दे, इसकी ही इस समय आवश्यकता है। तब राम बोले कि वह चैत्यालयमें बैठा है, अपनी साधना कर रहा है, उसमें विघ्न करनेका हमें क्या अधिकार? रामने इजाजत नहीं दी कि तुम रावणकी इस साधनामें विघ्न डालों। विवेकी थे तभी तो विवेकीकी बात निकली। फिर क्या हुआ यह बात अलग है। कुछ मनचले राजाओ वहाँ जाकर थोड़ा बहुत उपद्रव किया। राजाओं द्वारा उपद्रव किया जाने पर भी रावण अपनी साधनासे विचलित नहीं हुआ। तब जो विद्या अनेक दिनोंमें सिद्ध हो सकती थी वह मिनटोंमें ही विद्या सिद्ध हो गई।

**निर्भयताके लिये अन्तःसाहसकी आवश्यकता** – भैया! खुद मजबूत होना चाहिए फिर क्या डर है? स्वयं ही कायर हो, भयशील हो तो दुःखी होगा ही। कोई दूसरा पुरुष उसे कदाचित् भी दुःखी नहीं कर सकता। मैं ही दुःखके योग्य कल्पना बनाऊँ तो दुखी हो सकता हूँ। क्या दुःख है, दुःख सब मान रहे हैं। हर एक कोई यह अनुभव करता है कि मेरे पास जो वर्तमानमें धन है वह पर्याप्त नहीं है, मेरी पोजीशको बढ़ाने वाला नहीं है। इस कल्पना से सभी जीव दुःखी हैं और देखो तो कही दुःख नहीं है, जिसके पास जो स्थिति है उससे भी चौथाई होती तो क्या गुजारा न होता? जिसके पास इस सम्पत्तिका हजारवा भाग भी नहीं है क्या उसका गुजारा नहीं होता है? होता है और उनके सद्बुद्धि है तो वे

धर्ममे लगे हुए है। क्या कष्ट है, पर कल्पना उठ गई इससे सुख सुविधाओ का भी उपयोग सही नहीं किया जा सकता।

**बुद्धिके अनुसार घटनाका अर्थ** – जिसका जैसा उपादान है। वह अपने उपादानके अनुकूल ही कार्य करेगा। एक नावमें कुछ लोग बैठे थे। कुछ गुण्डोने उनको गालियाँ दी तो वे समतासे सहन कर गए। वे गुन्डे यह कहते जाये कि ये चोर है, बदमाश है, झूठे है, ढोगी है आदि तो साधु कहते है कि ये लोग ठीक कह रहे है हम चोर है, बदमाश है। झूठे है अन्यथा इस संसारमें क्यो भटकते? आप लोग इन पर क्यो नाराज होते हो? खैर जब तक बातें हुई तब तक तो ठीक, लेकिन एक उद्दण्ड ने एक साधुके सिरमें तमाचा भी मार दिया। तो वह साधु कहता है कि आप लोग इस पर नाराज मत होओ। यह भाई यह कह रहा है कि तुमने अपना सिर प्रभुके चरणोंमें भक्तिपूर्वक नमाया नहीं है इसलिए यह सिर तोड़ने योग्य है, यह मुझे शिक्षा दे रहा है। नाराज मत होओ। चीज वहीकी वही है, चाहे गुण ग्रहण करने लायक कल्पना बना लें और चाहे दोष ग्रहण करने लायक कल्पना बना ले। ज्ञानी पुरुष गुणग्रहणकी कल्पना बनाते है और अज्ञानी पुरुष दोषग्रहण करनेकी कल्पना बनाते है जो पुरुष दूसरोके दोष ग्रहण कर रहा है उसने देसरेका बिगाड़ा क्या, खुदका ही उसने बिगाड़ कर लिया।

**योग्यताकी संभालमें ही सुधार** – जितने भी पदार्थ हे वे सब अपनी योग्यताके अनुकूल परिणमते है। इन सब कथनोसे यह रस्पष्ट किया गया है कि ज्ञानी बनने की सामर्थ्य भी अपनी आत्मामे है और अज्ञानी बननेकी सामर्थ्य भी अपनी आत्मामें है। गुरुजन तो बाह्य निमित्त कारण है। जिसे कामी बनना ही रुचिकर है उसको फोटो या कोई स्त्री पुरुष रूपवान कुछ भी दीखे तो सब निमित्तमात्र है, पर स्वयं में ही ऐसी कलुषता है योग्यता है जिसके कारण वे काम के मार्ग में लग जाते है। कोई पुरुष क्रोधस्वभाव वाला है, उसको जगह-जगह क्रोध आने का साधन जुट जाता है और कोई शान्तस्वभावी है तो उसे किसी भी विषय में क्रोध नहीं आता है। इससे यह जानना कि अपनी योग्यता संभाले बिना अपने आपका सुधार कभी हो नहीं सकता हे।

**उपादान के परिणमन में अन्य का निमित्तपना** – भैया! दूसरे का नाम लगाना क्या करे, अमुक है, ऐसा है इसलिए हमारा काम नहीं बनता, ये सब बहानेबाजी है। राजा जनक के समय में एक गृहस्थ आया, जनक बैठे थे। बोले महाराज हम बहुत दुःखी है, मुझे गृहस्थी ने फंसा रक्खा है, धन वैभव ने हमें जकड़ रक्खा है, मुझे साधुता का आनन्द नहीं मिल पाता है, तो आप कोई ऐसा उपाय बताओ कि वे सब मुझे छोड़ दे ? तो जनक से कुछ उत्तर ही न दिया गया। और सामने जो खम्भा खड़ा था उसको अपनी जोट में भर कर कुछ चिल्लाने लगे कि भाई-भाई मै क्या करूँ, मुझे तो इस खम्भे ने जकड़ लिया है। मै कुछ जवाब नहीं दे सकता। मुझे यह खम्भा छोड़ दे तो फिर जवाब दूँ । तो गृहस्थ



बोला— महाराज ! कैसे आप भूली – भूली बातें करते हैं। अरे खम्भे ने आपको जकड़ लिया है कि आपने खम्भे को जकड़ लिया है ? तो राजा जनक कहते हैं कि बस यही तो तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है। धन, दौलत, कुटुम्ब ने तुमको फंसा रक्खा है कि तुमने खुद उनको फंसा रक्खा है तो कोई किसी को न ज्ञानी बना सकता है, न अज्ञानी बना सकता है। निमित्त मात्र अवश्य है। इस कारण ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरुओं की सेवा सुश्रूषा करना कर्तव्य है, उनमें श्रद्धा भक्ति कर्तव्य है, परन्तु परमार्थ से अपने आत्मा को ही अपना मार्ग चालक जानकर अपने पुरुषार्थ और कर्तव्य का सदा ध्यान रखना चाहिए।

**अभवच्चित्तविक्षेप एकान्ते तत्त्वसंस्थितिः।**

**अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजातमनः।।36।।**

**आत्मतत्त्वाभ्यास की प्रेरणा** – जिसके चित्त में किसी भी प्रकार का विक्षेप नहीं है अर्थात् रागद्वेष की तरंग की कलुषता नहीं है, तथा जिसकी बुद्धि एकान्त में तत्त्व में लगा करती है ऐसा योगी निज तत्त्व का विधिविधान सहित योग साधना समाधि सहित ध्यान का अभ्यास करता है। आत्मस्वरूप के अभ्यास का उपाय क्या है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्लोक में यह बताता है कि रागद्वेष का क्षोभ न हो तो तत्त्वचिन्तन का अभ्यास बने। रागद्वेष का क्षोभ न हो इसके लिए यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान चाहिए। सो सर्वप्रयत्न करके अध्यात्मयोगार्थी को आत्मतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये।

**सर्वत्र ज्ञान लीला** – भैया! सब कुछ लीला ज्ञान की है, सर्वत्र निहार लो, जो आनन्द में रत है, योगी है उनके भी ज्ञान की लीला चल रही है। जो दुःखी पुरुष है, जो दुःख की कल्पना बनाते हैं तो कल्पना भी तो ज्ञान से ही सम्बन्ध रखने वाली चीज हुई ना, कुछ तो ज्ञान में आया, किसी प्रकार की जानकारी तो बनायी उसका क्लेश है। वहाँ भी ज्ञानकी एक लीला हुई। जो पुरुष आनन्द में रत है उसने भी अपना विशुद्ध ज्ञान बनाया, उस विशुद्ध ज्ञान का उसे आनन्द है, वहाँ तो ज्ञान की विशुद्ध लीला है ही। यो योगी अपने तत्त्वचिन्तन का अभ्यास बनाता है।

**चित्त का विक्षेप महती विपदा** – चित्त का विक्षिप्त हो जाना यह महती विपत्ति है। किसी धनी पुरुष के कोई पागल बिगड़े दिमाग का, कम दिमाग का या जिसके चित्त में विक्षेप होता रहे ऐसे दिमाग का बालक हो तो लोग इसके रक्षक माता पिताजन रिश्तेदार वगैरह हजारो लाखो का खर्च करके भी चाहते हैं कि उसके चित्त का विक्षेप बदल दे तो ऐसा उपाय करते हैं। पर हैरान हो जाते हैं, दुःखी ही रहते हैं। कदाचित् ठीक हो जाय तो उसके ही होनहार से वह ठीक होता है। दूसरे लोग उसमें कुछ अपना करतब नहीं अदा कर सकते हैं। चित्त का विक्षिप्त हो जाना यह जब तक बना रहेगा तब तक रागद्वेष का क्षोभ रहेगा। इस आकुलता के कारण आत्मस्वरूप का ध्यान नहीं बन सकता। किसी मनुष्य के द्वारा कुछ अपने को कष्ट पहुंचे, कष्ट तो नहीं पहुंचा, पर किसी मनुष्य का बोल सुनकर

उसकी चेष्टा निरखकर कुछ ऐसी कल्पना बनायी कि दुःखी हो गए, तो दुःखी हो जाने पर चित्त में ऐसा हठ होता है कि हम भी इसका कुछ बदला चुकायेगे, लेकिन ऐसे परिणाम का होना यह इसके लिए बहुत बड़ी विपत्ति है।

**अन्तः साहस** – दुनिया के जीव जो कुछ करते हो, करे, उनका उसी प्रकार का अशुभ कर्म का उदय है कि थोड़ी बुद्धि है, थोड़ी योग्यता है, उसके अनुकूल उन्होंने अपनी प्रवृत्ति की, उसको देखकर यदि हम भी चलित हो जायें अर्थात् क्षमाभाव से, सत्य श्रद्धा से, आत्मकल्याण की दृष्टि से हम भी चिग जाये तो हमने कौनसा अपूर्व काम किया? इससे यह बड़ी साधना है, बड़ा ज्ञानबल है कि इतनी हिम्मत भीतर में रहे कि लोग जो चेष्टा करे सो करते जायें पर हम तो अपने आपके सत्य विचार सत्य कर्तव्य में ही रत रहेगे। हाँ कोई आजीविका पर धक्का लगे, अथवा आत्महित में कोई बाधा आए और उस बाधा को दूर करने के लिए कुछ सामना करना पड़े, उत्तर देना पड़े तो वह बात अलग है, पर जहाँ न हमारी आजीविका पर ही धक्का लग रहा हो और न हमारी धर्मसाधना में कोई आ रही हो, फिर भी किसी प्रतिकूल चलने वाले पर रोष करना अथवा उससे बदला लेने का भाव करना, यह तो हित की बात नहीं है।

**क्षमा से अन्तःस्वच्छता** – भैया ! खुद को तो बहुत स्वच्छ रहना चाहिए क्योंकि बदला देने का परिणाम यदि रहा तो उससे चित्त में शल्य रहा, पापों का बंध बराबर चलता रहा जब तक कि बदला लेने का संस्कार मन में रहा आया हो। लाभ क्या उठा पाया, हानि ही अपनी की, कर्मबंधं किया, समय दुरुपोया में गुजारा और फायदा कुछ भी न उठाया। शान्त रहते तो बुद्धि स्वच्छ रहती, पुण्य बंध होता, धर्म में भी गति होती। तब गृहस्थ को कम से कम इतना तो अपना मनोबल बढ़ाना चाहिए कि जिस घटना में आजीविका आदि पर धक्का न लग रहो हो, आत्महित में बाधा न हो रही हो तो ऐसी घटनाओं में न कुछ क्षोभ लाना है और न कुछ प्रतिक्रिया करने का आशय बनाना है। योगी साधु पुरुष तो किसी भी परिस्थिति में चाहे कोई प्राण भी ले रहा हो तब भी उस घातक पुरुष पर रोष नहीं करते हैं उनके और उत्कृष्ट क्षमा होती है। चित्त में रागद्वेष का क्षोभ न मच सकेल ऐसा अपना ज्ञानबल बढ़ाना, यही आत्मा के हित की बात है।

**कल्पना की व्यर्थ विपदा** – भैया! मोटी बात सोचो, इस आत्मा का साथी कौन है? इस आत्मा के साथ जायेगा कौन? मरते हुए लोगो को देखा है, एक धागा भी साभ नहीं जाता है। खूब बढ़िया ऐसी बड़ी पहिना दो जिसे उतार भी न सकें या कैसे ही कपड़ों में गूँथकर रख दो, पर जीव जो मर रहा है उसके साथ कुछ भी जा सकता है क्या? मरने वाले मनुष्य की छाती पर नोटो की गठरी रख दो तो भी वह उसमें से कुछ ग्रहण कर सकता है क्या? कितना दयापूण वातावरण है वह। मोही पुरुष कितनी विपत्ति में पड़ा हुआ है, उसे सत्य मार्ग ही नहीं दीखता। एक राग के अंधकार में बहा जा रहा है और रागी

पुरुष ही सामने मिलते हैं, सो वे पुरुष इसको कुछ बुरा भी नहीं कहते। दूसरों की रागभरी चेष्टा को देखकर दूसरे रागी लोग उसकी सराहना ही करते हैं। तब कैसे इस राग की विपदा से दूर हो?

**अन्तः आश्रय का साहस** – धर्म का पथ बड़ा कटीला पथ है। जब तक कोई अपने में इतना साहस नहीं करता कि लो मै तो दुनिया के लिए मरा ही हुआ हूँ, अर्थात् मुझे दुनिया को कुछ नहीं दिखाना है। दस साल आगे मरने को समझलें कि अभी हम दुनिया के लिए मर गए। जो जीवित हूँ, वह केवल आत्मकल्याण के लिए शान्ति और संतोष से रहकर इन कर्मों को काटने के लिए जीवित हूँ, ऐसा साहस जब तक नहीं आता तब तक तो सही मायने में यह धर्म का पात्र नहीं होता। अब अपने को टटोल लो कि हमें किस प्रकार का साहस रखना है, जिन जीवों में मोह पड़ा हुआ है, पुत्र हो, स्त्री हो, कोई हो उनके प्रति उनको विषय बनाकर जो उपयोग विकल्पों में गुथें रहते हैं भला बतलाओ तो सही कि इन विकल्प जालों से कौन सा आनन्द पाया, कौन सा प्रकाश पाया?

**व्यामोह विपत्** – व्यामोही प्राणियों के कितना अंधकार बना हुआ है, अन्तर में श्रद्धा यह बैठी है कि यह तो मेरा है, बाकी दुनिया गैर है। भाईचारे के नाते से व्यवस्था करना अन्य बात है। व्यवस्था करना पड़ती है, ठीक है, किन्तु अंतरंग में यह श्रद्धा जम जाय कि मेरे तो ये ही हैं तीन साड़े तीन लोग, और बाकी सब गैर है, ऐसी बुद्धि में कितना पाप समाया हुआ है, उसे कौन भोगेगा? प्रकट भी दिखता है कि किसी का कुछ कोई दूसरा नहीं है। देखते भी जाते हैं, घटनाएँ भी घट जाती हैं, तिस पर भी वासना वही रहती है। एक अहाने में कहते हैं कि कुत्ता की पूँछ को किसी पुँगेरी में अर्थात् पोले बांस में जो कि सीधा होता है उसमें पूँछ को रख दो तो पूँछ सीधी तो रहेगी किन्तु जब निकलेगी तो तुरन्त टेढ़ी हो जायगी, ऐसे ही कितनी मोह की तीव्र वासना भरी है अज्ञानी जीवों की। किसी गोष्ठी में या पंचकल्याण विधानों के दृश्यों में, या विद्वानों के भाषणों में या मरघटों में, किसी को जलाने जा रहे हैं अथवा समुदायों में ये भाव कर लेते हैं, चर्चा कर लेते हैं, ज्ञान की और वैराग्य की, पर थोड़ी ही देर बाद जैसे के तैसे ही रह जाते हैं। बड़ी विपदा है यह मोह की।

**निर्मोहता की अमीरी** – भैया ! मोह जिसका छूटे वही पुरुष सच्चा अमीर है। कौन पूछने वाला है, किसके लिए तृष्णा बढ़ाई जा रही है? कोई जीवन में अथवा मरण में साथी हो सकता हो तो निहारो जब तक चित्त में विक्षेप है तब तक इस जीव को साता हो ही नहीं सकती। इसलिए सबसे पहिले योगी को अपना चित्त शान्त रखना चाहिए। एक ज्ञान बढ़ाने का चस्का लगा लीजिए फिर दिन बढ़े अच्छे कटेंगे। इतना ज्ञान सीखा अब और आगे समझना है।

**प्राप्त बल का आत्महित में सदुपयोग** – जब तक आँखे काम दे रही है, जब तक इन आँखों से देखना बन रहा है तब तक स्वाध्याय करके, ज्ञान सीखकर क्यों न सदुपयोग कर लिया जाय? जब कदाचित् मान लो आँखों से दिखना बंद हो जाय तब क्या किया जाएगा? ज्ञानार्जन का उपाय फिर ज्यादा तो न किया जा सकेगा। भले ही बहुत कुछ सीखा हो तो ध्यान करके ज्ञान का फल पा सके। लेकिन जब तक ये इन्द्रियां सजग है, समर्थ है तब तक इनका सदुपयोग कर ले। कानों से जब तक सुनाई दे रहा है तो तत्व की बात सुनें ना, ज्ञान की बात वैराग्य की बात सुनें ना, महापुरुषों के चरित्र की बात सुने, जिनके सुनने से कुछ लाभ होगा। जब तक बोलते बन रहा है जीभ ठीक चल रही है तब तक प्रभुभक्ति गुणगान स्तवन कर लें ना। जब बल थक जायगा, कुछ बोल न सकेगें, जीभ लड़खड़ा जायगी फिर क्या कर सकेगें? जब तक शरीर में बल है, हाथ पैर चलते हैं तब तक गुरुओं की सेवा कर ले ना। जब स्वयं ही थक जायेगे, उठ ही न सकेगें फिर क्या किया जा सकेगा? जब तक यह बल बना हुआ है इस बल का उपयोग धर्म साधना के लिए करना चाहिए।

**धर्म साधना** – धर्म साधना मोह राग द्वेष उत्पन्न न हो, इसमें ही है। इसकी सिद्धि के लिए योगी पुरुष एकांत स्थान में रहने का अभ्यास करते हैं। एकांत निवास आत्मस्वरूप की बड़ी साधना है। एकांत निवास में जब रागद्वेष के साधन ही सामने नहीं है तो प्रकृति से इसके चित्त पर स्फूर्ति जाग्रत होती है। जब तक हेय और उपादेय पदार्थ का परिज्ञान न होगा तब तक कैसे आत्मस्वरूप का अभ्यास बन सकता है? सबसे बड़ी दुर्लभ वस्तु है तो ज्ञान है। धन, कन, कंचन, हाथी, घोड़ा दुकान वैभव ये कोई काम न आयेगें, पर अपना आत्मज्ञान एक बार भी प्रकट हो जाए तो यह अचल सुख को उत्पन्न कर देगा। इसलिए करोड़ों बातों में भी प्रधान बात यह यही है कि अनेक उपाय करके एक ज्ञानार्जन का साधन बना ले।

**विनाशीक वस्तु से अविनाशी तत्व के लाभ का विवेक** – यदि नष्ट हो जाने वाली चीज का व्यय करके अविनाशी चीज प्राप्त होती है तो इसमें विवेक ही तो रहा। यह वैभव धन खर्च हो जाता है त्याग हो जाता है और उस त्याग और व्यय करने से कोई हमें कुछ ज्ञान की सिद्धि होती है, दृष्टि जगती है तो ऐसी उदारता का आना लाभ ही तो है, अन्यथा तृष्णा में कृपणता में होता क्या है कि वियोग तो सबका होगा ही, इसमें ज्ञान से सूना-सूना रहने के कारण अंधेरी छाया रहेगी, दुःखी होंगे। कृपण पुरुष के कितनी विपत्ति है, इसका ज्ञान कब होता है जब कोई लुटेरे लूट ले, धन नष्ट हो जाय, तो लोगो को विदित होता है कि इसके पास इतना कुछ था। बताओ कौन सा लाभ लूट लिया राग की आसक्ति में और मोह ममता में?

**तत्वज्ञान का आदर** – भैया! जब तक एक ज्ञान का प्रकाश नहीं हो सकता तब तक आत्मा में शान्ति आ ही नहीं सकती। इस कारण यह कर्तव्य है कि इम स्व और पर का यथार्थ विवेक बनाएँ। मेरा आत्मा समस्त परपदार्थों से न्यारा ज्ञानानन्दस्वरूप है, ऐसा भान जिन संतो के रहा करता है ये ज्ञानी योगी पुरुष है। सब दशाओ में ज्ञान ही तो मदद देता है। धन कमा रहे हों तो वहाँ भी क्या ज्ञान बना रहकर, भोदूपना करके व्यापार का काम बन जायगा? वहाँ भी ज्ञानकला का ही प्रताप चल रहा है। किसी भी प्रकार की जो कुछ भी श्रेष्ठता है वह सब ज्ञान की कला के प्रताप से है। इस तत्वज्ञान का आदर करो, यही सहाय है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी जगत में सहाय नहीं है। जो जीवन में ज्ञानी होता है वह मरते समय भी अपनी ज्ञानवासना के कारण प्रसन्न रहता है।

**जगत् का खेल** – अहो कैसा है यह जगत का खेल, पहिले बनाया जाता और फिर मिटाना पड़ता। जैसे बच्चे लोग मिट्टी का भदूना बनाते हे बाद में बनाकर बिगाड़ देते है, अपना समय उस खेल में व्यर्थ गंवाते है ऐसे ही रागी मोही जन किसी काम को बनाते है तो वह भी क्या सदा तक बना रह पाता है? वह भी बिखर जाता है। तो क्या बुद्धिमानी हुई, बनाया और बिगाड़ा। बनानो में तो इतना समय लगा और बिगाड़ने में कुछ भी समय न लगा। जिन्दगी भर तो इतना श्रम किया और अंत में फल कुछ न मिला तो ऐसे व्यवसाय से, परिश्रमसे कौन सा अपने आपके आत्मा का लाभ उठाया?

**व्यवहार से लाभ**— भैया ! सब हिम्मत की बात है। जो पुरुष इतना तक समझने के लिए तैयार रह सकता है कि मैं तो इस दुनिया के लिए मरा हुआ ही हूँ, मैं इन मायामयी मोहीप्राणियों से, इन मोही मायामयी समागमों से मैं कुछ नहीं कहलवाना चाहता हूँ, मैं अपने आप में ही प्रसन्न हूँ, इतना साहस यदि किया जा सकता है तब धर्म पालन की बात बोलना चाहिए अन्यथा सब एक पार्ट अदा किया जा रहा है। जैसे दूकान किया, ऐसे ही पूजन भी किया, यह सब तफरी है एक तरह की। जिसको ज्ञान की दृष्टि नहीं है, जिसने अपना लक्ष्य विशुद्ध नहीं बना पाया है उनका दिल बहलावा है। खोटे-खोटे कामों में ही बहुत समय तक रहने पर फिर दिल नहीं लगता है, ऊब जाता है, अब उस दिल को कहाँ लगाये? तो कुछ यहाँ व्यवहार धर्म की बाते भी बना ली।

**व्यवहार धर्म की बाह्य सहायकता** – व्यवहार धर्म बुरा नहीं है, हमारी भलाई में सहायक है, पर जैसे हमारी भलाई हो सकती है उस प्रकार की दृष्टि बनाकर व्यवहार धर्म को करें तब ही तो भलाई हो सकती है जो पुरुष अपने को सबसे न्यारा अकिञ्चन केवल ज्ञानानन्द स्वरूप निहारेगा उसको त्रिद्वि सिद्धि होगी और जो बहिर्मुखदृष्टि करके अपना उपयोग, बिगाड़ेगा, भले ही पूर्वजन्म के पुण्य के प्रताप से कुछ जड़ विभूति मिल जाय किन्तु उसने किया कुछ नहीं है, आगे वह दुर्गति का ही पात्र होगा। इससे रागद्वेष न हो, ज्ञानप्रकाश बने ऐसा उद्यम करना इसमें ही हित की बात होगी।

यथा यथा समायति संवित्तौ तत्वमुत्तमम् ।

तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ।।37।।

**ज्ञान से विषयो में अरुचि** – अपने उपयोग में जैसे-जैसे यह आत्मतत्व विकसित होता जाता है वैसे ही वैसे ये सुलभ भी विषय रूचिकर नहीं होते हैं। जब सहज शुद्ध अंतस्तत्व के उपयोग से एक आनन्द झरता है तो उस आनन्द से तृप्त हो चुकने वाले प्राणियों को सुलभ भी विषय, सामने मौजूद भी विषय रूचिकर नहीं होता है। जब तक अपने स्वभाव को बोध न हो तब तक विषयों में प्रीति जगती है। जब कोई पदार्थ है तो उस पदार्थ का कुछ स्वरूप हो सकता है, उसे कहते हैं सहजस्वरूप। इस आत्मा का आत्मा की स्वरूप सत्ता के कारण क्या स्वरूप हो सकता है उसका नाम है सहज स्वरूप। यह उत्तम तत्व जिसके ज्ञान में समाया है उसे सुलभ भी विषय रूचिकर नहीं होते।

**नैमित्तिक भाव में स्वरूपता का अभाव** – जो किसी परद्रव्य के सम्बन्ध से इस आत्मा की बात बनती है वह आत्मा में होकर भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। जैसे दृष्टान्त में देखिये कि अग्नि के सम्बन्ध से पानी में गर्मी आने पर भी पानी का स्वरूप गर्मी नहीं है। यद्यपि उस पानी को कोई पी ले तो मुँह जल जायगा। गर्मी अवश्य है और वही गर्मी पानी में तन्मय है, इतने पर भी पानी का स्वरूप गर्म नहीं कहा जा सकता है। इस ही प्रकार कर्मों के उदयवश अपने उपयोग की भ्रमणा चल रही है, रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं, ये रागादिक आत्मा के ही परिणामन हैं, इतने पर भी ये रागादिक आत्मा के स्वरूप नहीं बन जाते हैं इतनी बात की खबर जिसे है उसने अपना मनुष्य जन्म सार्थक कर लिया है। शेष जो कुछ भी समागम मिला है वे सर्व समागम इस आत्मा के भले के लिए नहीं हैं, ये छूटेंगे और जब तक साथ है तब तक भी क्या यह जीव चैन से रह सकता है?

**स्व की विश्वास्यता** – भैया! इन समागमों में रंच भी विश्वास न करो और यह विश्वास करो कि मेरे ही स्वरूप के कारण मेरा जो स्वभाव है बस वही मेरा शरण है, वही मेरा रक्षक है। उसमें स्वयं आनन्द भरा हुआ है। ऐसे इसे सहज ज्ञानानन्दस्वरूप की जिन्हे सुध रहती है और इस स्वरूप के अनुभव से जो शुद्ध आनन्द का अनुभव जगा है उसके कारण इस ज्ञानी को ये सुलभ विषय भी रूचिकर नहीं होते हैं।

**परिस्थितिवश विषय में अरुचि से एक अनुमान** – अब जरा इस तरह भी अनुमान कर लो। जब किसी कामी पुरुष को कामविषयक वासना का विकल्प चलता है तो उसे जात कुजात अथवा किसी ही वर्ण का रूप हो, सब सुन्दर और रमणीक जंचता है, और यही उपयोग जब ज्ञानवासना को लिए हुए हो और यहाँ अतः प्रसन्नता धार्मिक जग रही हो तो सुन्दर से भी सुन्दर रूप हाड़ माँस का पिञ्चर है, इस प्रकार देखा करता है और भी दृष्टान्त देखो – जब भोजन करने में आसक्ति का परिणाम हो रहा हो उस समय भोजन कितना स्वादिष्ट और सरस सुखदायी मालूम होता है ? जब उपयोग बदला हो, किसी बाह्य

विकल्प में फंसा हो या कोई बड़ी हानि का प्रसंग आया हो जिससे चिन्तामग्न हो तो उस काल में वह भोजन ऐसा सरस स्वादिष्ट नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि उपयोग दूसरी जगह है। ज्ञानी संत का उपयोग इस सहज ज्ञानस्वरूप के अनुभव से निर्मल हुआ है, उसे यो सुलभ विषय भी रुचिकर नहीं होते हैं। यह बात युक्त ही है कि अधिक आनन्द मिल जाय तो हीन आनन्द की कोई चाह नहीं करता है।

**मोही की अस्थिरता** – इस मोही जीव को विषय-साधनो में रमने के कारण शुद्ध आनन्द नहीं मिला है इसलिए किसी भी विषय को भोगकर तृप्त नहीं हो पाते। तृप्त न होने के कारण किसी अन्य विषय में अपना उपयोग फिर भटकने लगता है। पंचेन्द्रिय के विषय और एक मन का विषय। इन 6 विषयों में से किसी भी एक विषय में ही रत हो जाय, यह भी नहीं हो पाता है।

**मोहोन्मत्त का विषयपरिवर्तन** – किसी को यदि स्पर्शन का विषय प्रिय है, काम मैथुन का विषय प्रिय है तो फिर रहो न घंटो उसी प्रसंग में, पर कोई रह नहीं पाता है। अतृप्ति हो जाती है, तब तृप्ति के लिये अन्य विषय खोजने लगता है। किसी को भोजन ही स्वादिष्ट लगा हो तो वह करता ही रहे भोजन, लेकिन नहीं कर पाता है फिर दूसरे विषय की याद हो जाती है। किसी को कोई मन का विषय रूच रहा है यश, पोजीशन, बड़प्पन रूच यत्न करता है? मोही जीव को कहीं भी तृप्ति का काम ही नहीं है। अज्ञान हो और वहाँ संतोष आ जाय यह कभी हो नहीं सकता। संतोष के मार्ग से ही संतोष मिलेगा। जिन अज्ञानी पुरुषों के उपयोग में भेदविज्ञान के प्रताप से यह शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप परमतत्व है उन्हें ये सुलभ विषय भी रुचिकर नहीं होते हैं।

**विषय साधनों की पराधीनता, विनश्वरता व दुःखमयता** – ये विषयभोग प्रथम तो पराधीन है। जिस विषय की चाह की जाती है उस विषय में स्वाधीनता नहीं है। किन्तु यह आत्मा का आनन्दमयी स्वरूप जिसको हमें ही देखना है, हमारा ही स्वरूप है, जिसके देखने वाले भी हम हैं, और जिसे देखना है वह भी शाश्वत हममें विराजमान है फिर वहाँ किस बात की आधीनता है? यह आत्महित का कार्य स्वाधीन है। जो स्वाधीन कार्य है उसके झुकाव में विकृति नहीं रहती है। और जो पराधीन कार्य है उसकी निरन्तर वाञ्छा बनी रहती है। पराधीन ही रहें इतना ही ऐब नहीं किन्तु ये नष्ट हो जाते हैं। ऐसा भी नहीं है कि ये विषय सदैव बने रहे। ये मायामय हैं, कुछ ही समय बाद ये नष्ट हो जाते हैं। पराधीन है और नष्ट हो जाते हैं। वे रहे आये पराधीन व विनाशीक तो भी मोही यह मान लेगा कि हम तो जब तक है तब तक तो मौज मिल जायगी। सो इतना भी नहीं है। जितने काल विषयों का समागम है उतने काल भी बीच-बीच में दुःख के ही कारण होते रहते हैं।

**वक्तव्य एक प्रसंग की भूमिका** – पुराण में एक कथानक पढ़ा होगा, आदिनाथ भगवान के पूर्व भवों में जब वज्रजंघ का भव था तो उनकी स्त्री श्रीमती हुई, और श्रीमती का विवाह जब न हुआ था तब उस श्रीमती कन्या ने देखा कि कबूतर और कबूतरी परस्पर में रम रहे हैं, इतना देखकर उसे कुछ जाति स्मरण हुआ। श्रीमति पहिले भव में देवी थी और वज्रजंघ ललितांग देव था। उस जातिस्मरण में उसे पिछले मौजो की सुध आयी और ललितांग देव का स्मरण हुआ तो उसने यह प्रतिज्ञा की कि वही जीव यदि मनुष्य भव में हो और सुयोग हो तो विवाह करूँगी अन्यथा ने करूँगी। अब पता कैसे लगे कि कौन है वह मनुष्य जो ललितांग देव था। श्रीमती को जातिस्मरण हुआ और उसे देव के समय की एक घटना भी चित्त में बनायी, सो चित्र पट में अनेक घटनाएँ लिखी व वह विशिष्ट घटना भी लिखी और कितनी ही परीक्षा के लिए झूठी घटनाएँ भी लिखी। तो पहिले समय में ऐसी प्रथा थी। उस चित्रावली को मन्दिर के द्वार पर रख दिया गया और एक धाय के सुपुर्द कर दिया गया। उस चित्रावली में कुछ पहली बनी हुई थी, ताकि जो शंकाओ को समाधान कर दे, उसे समझ ले कि यह ही वास्तव में पूर्वभव का पति था। बहुत से मनुष्य आये, झूठे कपटी भी आए और कुछ से कुछ बताकर अपना रौब जमाने लगे, पर किसी की दाल न गली।

**देवगति में कामलीला का एक प्रसंग** – वज्रजंघ स्वयं एक बार वहाँ से निकला और चित्रावली को देखा तो एक चित्र वहाँ ऐसा था कि ललितांगदेव के सिर में देवी ने जो लात मारी थी। उसका दाग बना था। उसको देखकर उसे भी स्मरण हो आया और वह प्रेम एवं वियोग की पीड़ा से बेहोश हो गया। होश होने पर धाय ने पूछा तो बताया कि यह चित्त हमारे पूर्वभव के देव के समय की घटना का है। यह देव जब देवी के साथ यथेष्ट बिहार करके रम रहा था तो किसी समय देवी अप्रसन्न हो गयी और उसने अपने पति ललितांगदेव के सिर में लात लगायी थी। जो मनुष्य भव में अप्रिय घटनायें होती हैं ऐसी अप्रिय घटनायें देवगति में भी हुआ करती हैं। जब स्वयं चित्त विषयवासना से व्याकुल है तो वहाँ बाह्य पदार्थ भी रमणीक लगते हैं और वहाँ अनेक उपद्रव सहने पड़ते हैं जब चित्त ज्ञान में है तो फिर ये बाह्य पदार्थ उसे रम्य नहीं मालूम होते हैं।

**ज्ञानी का चिन्तन और यत्न** – विचार कर रहे हैं ज्ञानी पुरुष कि ये भोग पराधीन हैं, मिटते हैं और जब तक भी विषय भोग बन रहे हैं तब तक भी दुःख बराबर चलता रहता है। और फिर इसमें नफा क्या मिलता है, केवल पापो का बंध होता है। ऐसे सुख में ज्ञानियों के आदर बुद्धि नहीं होती है। तत्त्वज्ञान में ज्यों ज्यों समाया जाता है त्यो त्यो ये सर्व विषय सुलभ भी हो तो भी रूचिकर नहीं मालूम होते जैसे सूखी जमीन मछलियों के प्राणो का घात करने वाली है और उन मछलियों को आग मिल जाये तो फिर उन मछलियों के भवितव्य की बात ही क्या कही जाय? तुरन्त मछलियाँ अग्नि में मृत्यु को प्राप्त



हो जाती है। ऐसे ही जिनका चित्त कामवासना से भरा है वे स्वयं व्याकुल हैं और फिर काम का कोई आश्रय मिले, विषय भोग के साधन मिलें और अन्य साधन कर्म जुट जायें तो उनके मन, वचन, काय सब कुत्सित हो जाते हैं वे महीन—महीने तक के लिए भी आहार आदि का त्याग कर देते हैं। जो पुरुष अपने आत्मकल्याण के लिए जान—जानकर इन विषयों को परित्याग करते हैं वे विषय सुखों को कैसे उपादेय मान सकते हैं ? अहो ! जीवन में एक बार भी यदि समस्त प्रकार के विकल्प त्यागकर, परम विश्राम में रहकर अपने सहज आनन्द निधि का स्वाद आ जाय तो इस जीव के सर्वसंकट मिट जायेंगे।

**आत्महित के लिए जीवन का निर्णय** – यह जगत मायारूप एक गोरखधंधा है, भटकाने और भुलाने वाला है। यहाँ यह मोही स्वयं भी कायर है और वातावरण भी उसे दुष्ट मिल जाय, ऐसा खोटा मिल जाय कि यह अपने इन्द्रिय को काबू में ही न रख सके ऐसे प्राणियों को तो बड़ा अनिष्ट ही है। अनादि काल से भूल भटककर इस मनुष्यभवंत में आये, अब सुन्दर अवसर मिला, प्रतिभा मिली, क्षयोपशम अच्छा है। कर्मों का उदय भी है, आजीविका के साधन भी सबके ठीक हैं, ऐसे अवसर में अब तृष्णा का परित्याग करके आत्महित के लिए अपना उद्योग करे। जरा विचारे तो, लखपति हो गए तो करोड़पति होने की चाह, करोड़पति हो गए तो अरबपति होने की चाह, यो चाह का कभी अन्त नहीं आता है। चाह का अन्त ज्ञान में ही आता है। वस्तु के समागम से चाह का अंत नहीं होता है। जीवन चलाने के लिए तो दो रोटियों का साधन चाहिए और ठंड गर्मी से बचने के लिए दो कपड़े का साधन चाहिए।

**वस्तुस्वरूप की समझ में चिन्ता का अनवकाश** – भैया ! कुछ यह चिन्ता हो सकती है गृहस्थी है इसलिए उसकी सभाल के लिए कुछ तो विशेष चाहिए। वे सब तो अपना—अपना भाग्य लेकर आये हैं, सो सब उदयानुकूल थोड़े से यत्न से काम हो जाता है और फिर ज्ञान है तो इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि कैसी भी स्थिति हो, हम उसमें भी अपना हिसाब बना सकते हैं पर जीवन हमारा केवल धर्म के लिए ही है। इतना साहस हो तो विनाशीक इस जीवनसे अविनाशी पदका काम पाया जा सकता है। जो मिट जाने वाली वस्तु है उसका ऐसा उपयोग बन जाय कि न मिट जाने वाली चीज मिले तो इससे बढ़कर और हिकमत क्या हो सकती है? ज्ञानी पुरुष पंचेन्द्रियके विषय साधनोंको सर्वथा हेय समझते हैं। ये ज्ञानी योगीशवर आत्मस्वरूपके सुगम परिज्ञानी हैं। जरा सी दृष्टि फेकी कि वह कारणसमयसार उनकी दृष्टिमें समक्ष है। जो ऐसे ज्ञानके अनुभवका निरन्तर स्वाद ले रहे हैं उनको इन विषयोंसे क्या प्रयोजन है?

**तत्वज्ञकी निष्कामता** – जैसे रोगसे प्रेरित रोगी पुरुष रोगका इलाज करता हुआ भी रोगको नहीं चाहता और इलाजको भी नहीं चाहता। कोई बीमार पुरुष दवा पीता है तो दवा पीते रहने के लिए नहीं दवा पीता है, किन्तु दवा न पीना पड़े, इसके लिए दवा पीता

है। इस रोगीके दिलसे पूछो, रोगी तो प्रायः सभी हुए होंगे। तो सभी अपने-अपने दिलसे पूछो, क्या दवा पीते रहने के लिए दवा पी जाती है? दवा तो दवा न पीना पड़े इसके ही लिए पी जाती है। ऐसे ही यहाँ निरखिये ज्ञानियोकी महिमाका कौन वर्णन करे, प्रवृत्ति एकसी है ज्ञानीकी और अज्ञानीकी। इस कारण कोई नहीं बता सकता है कि इसके चित्तमें वास्तविक उद्देश्य क्या है? लोग तो प्रवृत्ति देखकर यह जानेगें कि यह तो रोगी है, विषयोका रूचिया है, किन्तु घरमें रह रहा ज्ञानी, विषय प्रसंगमें आ रहा ज्ञानी, उसकी इन व्यवस्थाओको ज्ञानी पुरुष ही जानता है। अज्ञानी नहीं जान सकता है। चारित्र मोह का एक ऐसा प्रबल उदय है, उससे इसे कषायोकी पीड़ा हुई है अब वह कर्मजन्य कार्यों को कर रहा है किन्तु उन प्रवृत्तियोसे यह पुरुष उदास ही है। जिसे तत्व ही रूच राह है। और तत्वज्ञानसे सहज आनन्द मिल गया है उसके विषयोंमें प्रीति कैसे हो सकती है? भैया ! इसी सहज शुद्ध आनन्दके पानेका अपना यत्न हो और हम अधिकसे अधिक ज्ञानके अभ्यास में समय दे, यह एक अपना निर्णय बनाएँ।

**यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ।**

**तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम् ।।38 ।।**

**विषयोकी अरूचिमें ज्ञानप्रकाशकी वृद्धि** – ज्यों – ज्यों सुलभ भी विषय रूचिकर नहीं होते हैं त्यों-त्यों यह आत्माका शुद्ध तत्व ज्ञानमें विकसित होता रहता है । जब तक इन्द्रिय के भोगोंमें रूचि रहती है तब तक इस जीवके ज्ञान नहीं समा सकता है, क्योंकि ये भोग विषय ज्ञानके विपरीत हैं। जैसे कोई उल्टी दिशामें चले तो इष्ट स्थानमें वह नहीं पहुंच सकता है। मान लो जाना तो है इटावा और रास्ता चला जाय करहलकी ओर तो इटावा कैसे मिल सकता है? ऐसे ही विषयभोगोकी गैलमें तो चलें और चाहे कि मुझे प्रभुदर्शन, आत्मानुभव, उत्तमतत्वका प्रकाश हो जाय तो कैसे हो सकता है? जब तक भोगोकी रूचि न हटे तब तक ज्ञानप्रकाश न होगा। सभी भोग झूठे हैं, असार हैं। भोगोसे आत्माको संतोष होता हो तो बताओ। स्पर्शन इन्द्रियका विषय काम बाधा विषयक प्रसंग, इनसे आत्माको क्या लाभ मिलता है?

**भोगोसे अतृप्ति** – कोई गृहस्थ जिसके ज्ञानप्रकाश नहीं हुआ है, वैराग्य नहीं हुआ है, क्या वह यह हठ कर सकता है कि मैं आज विषय भोगूँ इसके बाद फिर मैं कल्पना भी न रक्खूँगा। ज्यों-ज्यों यह भोगता है त्यों-त्यों इसकी कल्पना बढ़ती है। क्या कोई ऐसा सोच सकता है कि आज मैं बहुत मीठी चीज ख लूँ फिर कलसे मैं इस चीज की तरफ ध्यान ही न दूँगा, ऐसा कोई कर सकता है क्या? कोई भोगोको भोगकर चाहे कि मैं तृप्त होऊँ तो यह नहीं हो सकता है। भोगोके त्यागसे ही तृप्ति हो सकती है, भोगोके भोगनेसे कभी तृप्ति नहीं हो सकती है। जैसे अग्निमें जितना ईंधन डालते जावो उतनी ही अग्नि बढ़ती जायगी, उनसे कभी ईंधन से तृप्त न होगी, इसी तरह जितना विषय भोग भोगो उतना ही भोगोसे

अतृप्ति बढ़ती जायगी, उनसे कभी संतोष न होगा। जैसे समुद्रमें जितनी नदियाँ मिलती जायेगी उतना ही समुद्र का रूप बढ़ता जायगा। समुद्र कभी यह न कहेगा कि मैं सन्तुष्ट हो गया हूँ, मुझे अब नदियाँ न चाहिएँ, अथवा ऐसे ही चाहे ईधनसे अग्नि तृप्त हो जाय, सूर्य पूरबके बजाय पश्चिममें ऊगे, कमल चाहे पत्थर पर पैदा हो जाये, पर भोग भोगने कभी तृप्ति नहीं हो सकती। जिसे भी संतोष मिलेगा त्यागसे ही मिलेगा।

**कल्याणमें तत्वज्ञानका विशिष्ट सहयोग** – ज्यो-ज्यो सुलभ भी विषय रुचिकर नहीं होते हैं त्यों-त्यों ज्ञानप्रकाश बढ़ता है। जो परिश्रम करके विषय साधन जुटाए जाएँ उसकी भी बात नहीं कर रहे, सुलभ अपने आप सामने हाजिर हो जाएँ भोगके साधन और फिर भी उनमें रुचि न जगे तो वहाँ ज्ञानप्रकाश बना है। जिसने अपने आत्माके ज्ञानानन्द स्वरूप का सम्बेदन किया है, जो अपने ज्ञानामृत रसका रुचिया है वह बाह्य पदार्थों में उदासीन रहता है। इन समस्त समागमोंको भिन्न और विनाशीक जानता है। यह भी बड़ी साधना है। तुमसे गृहस्थी छोड़ते न बने, न छोड़ो, पर इतना ज्ञान तो बनाए रहा कि ये सब भिन्न हैं, नियमसे नष्ट होंगे, इनका वियोग जरूर होगा, ऐसी बात हो तो मान लो और न हो तो मत मानो। यह निर्णय कर लो कि जितने भी जिसे समागम मिले हैं वे समागम उसके संगमें जायेगे क्या? कुछ भी तो न जायगा।

**स्वपरभेदविज्ञानका बल** – हम आपका कुछ भी यहाँ नहीं है, शरीर तक तो अपना है नहीं, फिर धन दौलत और घर मकानकी तो कौन कहे? शरीर में यद्यपि यह जीव रह रहा है तो भी शरीर के स्वक्षेत्रमें शरीर है, शरीरके परमाणुओं में शरीर है, वह आत्माका स्वरूप नहीं बन जाता है और जीवके स्वरूपमें जीव है वह शरीर नहीं बन जाता। तो जब शरीरमें भी यह आत्मा नहीं है अर्थात् शरीररूप नहीं बन पाता यह तो अन्यरूप तो बनेगा ही क्या? ये सब पदार्थ समागम भिन्न हैं कि नहीं? यदि समझमें आ गया हो कि वास्तवमें मेरे आत्माको छोड़कर ज्ञानानन्दस्वरूपको तजकर जो कुछ भी यहाँ दिख रहा है और मिल रहा है ये भिन्न हैं, ऐसा ज्ञान हो गया हो तो आप फिर धर्म कर भी सकते हैं और यदि ज्ञान ऐसा नहीं बना है तो पहिले यही ज्ञान बनावो, निर्णय कर लो, थोड़ासा भी विचार करने पर एकदम स्पष्ट हो जाता है कि ये अत्यन्त भिन्न हैं। तो बस मान लो ऐसा कि सारे समागम मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, मेरा उनसे कुछ नहीं है। क्या ये समागम तुम्हारे साथ अनन्तकाल तक रहेगे या 10,050 वर्ष तक भी रहेगे, ऐसी कुछ भी उम्मीद है क्या? कुछ भी तो उम्मीद नहीं है। तो ये सब समागम बिछुड़ेगे कि नहीं? मनसे उत्तरदो। अगर बिछुड़ेगे यह बात हृदय में जम गयी है तो इतना मन लो।

**समागमकी भिन्नता व विनश्वरताके परिज्ञानका प्रताप** – कोई पुरुष यदि इन दो बातोंको हृदयसे मान लेता है कि जो भी समागम है –मकान, परिवार, सम्पदा ये सब भिन्न हैं और ये कभी न कभी बिछुड़ेगे, इतनी बात यदि हृदय में घर कर गयी हो तो वह धर्मात्मा

पुरुष है और मानता हो कि ये तो मेरे ही है, न्यारे कहाँ है, अथवा ये तो मेरे ही साथ रहेगे कैसे बिछुडत्र सकते है, ऐसी मिथ्या प्रतीति हो तो अभी धर्म करनेकी योग्यता ही नहीं है। यह सब पहिली बात है। जिसे धर्म करना हो उसको पहिले ये दो निर्णय बनाने चाहिएँ। कोई पुरुष ज्यादा शास्त्र नहीं जानता है, भाषाएँ नहीं सीखा है, अथवा उपदेश किए गए विषयोको नहीं समझ पाता है, न समझ पाये, लेकिन उसे यदि इन दो बातोका पक्का श्रद्धान है कि मेरा तो यह शरीर भी नहीं है। मेरा तो मात्र मैं एक ज्ञानप्रकाश मात्र आत्मा हूँ और ये सब भिन्न चीजें है, दूसरी जगह पड़ी है, मेरेमे मिली हुई तक भी नहीं हे और ये सब विनाशीक है, इतना भी भान हो तो भी शान्तिका मार्ग मिल जायगा।

**संकटमोचक सहज अनुभव** – एक बार भी तो यह हिम्मत बनालो कि इन भिन्न पदार्थोके सजानेसे, अपने हृदय इन सब पदार्थो को रखने से अब तक आकुलता ही पायी है। मैं अब इन किन्ही भी पदार्थोको मनमें नहीं रखना चाहता हूँ। अपने उपयोगमें किसी भी बाह्य पदार्थको न ले तो सहज आराम बन जायगा। उस विश्राममें जो शुद्ध ज्ञानप्रकाशका अनुभव होगा यही अनुभव संसारके संकटोसे दूर कर देगा। ऐसा होनेके लिए ये दो बातें निर्णयमें होनी चाहिएँ (1) समस्त भोगोके साधन भिन्न है और (2) ये नियमसे बिछुडेगे, इतने ज्ञानपर भी वैराग्य होना सम्भव है और सुलभ विषय भी उसे रुचिकर न होंगे। यह बात केवल साधुवोंकी नहीं कही जा रही है, यह तो संज्ञी जीवोकी बात कही जा रही है। जो भी संज्ञी जीव है मन सहित यावन्मात्र मनुष्य अथवा पशु पक्षी तक भी उनके यदि ये विषय रुचिकर नहीं हो रहे है, श्रद्धा में उनसे हित नहीं माना है तो उन सबके यह उत्तम तत्वज्ञान प्रकाश आनन्दस्वरूप अनुभवमें आ जायगा, और जब यह अपना परमात्मा अपने अनुभवमें आ जाय तो सब कर्म और संकट नष्ट हो जायेगे। इतनी बड़ी कल्याणकी पदवी पानेकी मनमें इच्छा हो तो व्रत, नियम, संयम कुछ न कुछ अवश्य ही करना चाहिए। उनमें सुलभ विषयोकी भी इच्छा न रहेगी जो तत्वज्ञान करेगे।

**भोगोमें अतृप्ति, तृष्णा व बलक्षयका ऐब** – इन भोगोके भोगने में यह बड़ा ऐब है कि ये भोग आगमी कालमें तृष्णाको बढ़ाते है, संतोष नहीं पैदा करते। भोग भोगनेके बाद भोगने लायक नहीं रहते, इस कारण भोगोका त्याग करना पड़ता है, मगर तृष्णावान जीव त्याग कहाँ करना चाहते है? जैसे भोजन किया जाता है, कोई आसक्त होकर भी भोजन करे तो उसे भोजन छोड़ देना पड़ेगा, भोजन करता ही जाय ऐसा नहीं हो सकता। उसने जो भोजन छोड़ा तो क्या ज्ञान और वैराग्यके कारण छोड़ा ? अरे अब पेटमें समाता ही नहीं है इसलिए छोड़ना पड़ा। ऐसी ही समस्त विषयोकी बात है। किसी भी विषयोको यह मोही जीव त्यागता है तो क्या ज्ञान और वैराग्यसे त्यागता है? भोग भोगनेके बाद फिर भोग भोगने लायक नहीं रहता, यह इस कारण इसे त्यागना पड़ता है खूब इत्र फुलेल आदि सुगंधित चीजें सूँघते रहने के बाद वह कुछ समयको छोड़ देता है क्योकि कहाँ तक सूँघता

रहे। भोग भोगनेमें श्रम तो होता ही है। बिना राग, बिना प्रवृत्ति और बिना परिश्रमके कोई सा भी भोग नहीं भोगा जाता, उसको तो त्यागना ही पड़ता है।

**विषयो ऊब** – किसी सुन्दर रूपको निहारते रहो, सनीमा, थियेटर अथवा कोई सुरूप स्त्री, सुरूप पुरुष, किसी को भी निहारते रहो तो कहाँ तक निहारते रहोगे, आखिर पलक बंद ही करना पड़ेगा और अपना अलग रास्ता नापना ही पड़ेगा। तो उस मोही जीवने जो देखनेका विषय छोड़ा है वह क्या ज्ञान और वैराग्यके कारण छोड़ा है? अरे छोड़ना पडा है? छोड़ना नहीं चाहते है। ऐसे ही मानो रातके 10 बजे से खूब संगीत गायन सुना, नाच देखा धीरे-धीरे चार बज गए। आखिर उसको छोड़कर तो जाना ही पड़ता है। ऐसा तो है नहीं कि कोई 5-7 दिन तक लगातार नाच गायनमें बैठा रहे। नाच गायन खूब देखने सुननेके बाद अब उसमें शाक्ति नहीं रही कि ऐसे ही देखता सुनता जाय, इस कारण उसे छोड़ना पडता है तो ये भोग अतृप्ति ही पैदा करते है। कोई मनसे इन भोगोको छोड़ नहीं पाता है और जहाँ विषयोमें ऐसी आकांक्षा बन रही है वहाँ यह ज्ञानप्रकाश अपने अनुभवमें नहीं आ सकता है।

**अन्तर्मिलनमें प्रभुमिलन** – लोग भगवानके दर्शन करने को हैरान होते है। प्रथम तो इस मोही जीवको भगवानकी बात हो नहीं सुहाती, भगवान है भी कोई या नहीं, उसके स्वरूपका भान नहीं होता, और कोई भाव करता है तो भगवानके नाते से नहीं करता, मित्तु मेरे घरके बच्चे खुश रहे, मेरे धन खूब बढ़ता रहे इस स्वार्थके नातेसे भगवानकी सुध लेता है क्योंकि सुन रक्खा है ना कि भगवान सबको सब कुछ देता है। भगवानकी सुध लेना ही बड़ा कठिन है और कदाचित् किसीको सुध आए औश्र भगवानसे मिलनेकी अंतरंगमे उमंग भी करे, लेकिन वह अपने स्वरूपसे चिगकर बाहरमें कही भगवानको ढूँढा करे तो क्या भगवान मिल जायगा? आँखे तानकर, आसमानमें देखकर या किसी और दृष्टि देकर प्रभुसे कोई मिलना चाहे तो नहीं मिल सकता है, प्रभुका दर्शन करना चाहे तो नहीं कर सकता है। हाँ अपने ही आत्मामें जो शाश्वत विराजमान स्वरूप है, चैतन्यभाव है उस चैतन्यस्वरूप पर दृष्टिदे तो उसके दर्शनमें प्रभुता का दर्शन हो जायगा, किन्तु इतनी कठिन बात उस पुरुष मे कैसे आ सकती है जो व्यसनोका लोभी है, पापोको छोड़ना नहीं चाहता मोहमें पगा है, ऐसे पुरुषको प्रभुका दर्शन नहीं हो पाता है।

**ज्ञानप्रकाशमें विषयोकी अरुचिका विशिष्ट सहयोग** – जैसे-जैसे सुलभ विषय भी, भोग साधन भी रूचिकर नहीं मालूम होते वैसे ही वैसे इस ज्ञानमें यह उत्तम तत्व समाता जाता है। पहिले श्लोक में यह कहा था कि ज्यो-ज्यो ज्ञानस्वरूप ज्ञानमें आता रहता है त्यो-त्यो सुलभ भी विषय रूचिकर नहीं होते। वहाँ यह शंका होना स्वाभाविक है कि इसका भी कुछ उपाय है कि ज्ञान में यह उत्तम अंतस्तत्व समाता जाय। उसके उत्तर में दूसरे श्लोक में यह कहा है कि ये सुलभ विषय भी जब जीवोको रूचिकर न लगे, इन विषयोमें

प्रीति न जगे तो वह योग्यता आ सकती है कि ज्ञानमें यह उत्तम तत्व प्रकाश पाये। इन्द्रियाके विषयो से वैराग्य होवे तो आत्माका यह विशुद्ध स्वरूप अनुभवमें आने लगता है। भोगने के बाद तो कुछ विवेक बनता है कि अरे न भोगते भोग तो क्या था, बडा सुरक्षित रहता। जब ज्यादा पेट भर जाता है, कुछ अड़चन सी होने लगती है अथवा कोई उदर विकार हो जाता है तो वह सोचता है कि मैंने बड़ी चूक की, अधिक चीज खा ली, अगर न खाते तो कुछ भी नुकसान न था। यह कष्ट तो न होता जिसके दर्दके मारे यह बेचैनी हो रही है। तो भोग भोगनेके बाद फिर सुध आती है। यह कुछ यद्यपि जघन्य ज्ञानकी बात है, लेकिन भोगनेके बाद भी यदि यथार्थ रूपमें सुध आ जाय तो वह भी भली बात है। मोही प्राणियोको तो केवल विषय भोग, इन्द्रियविषयोके साधन जोड़ना, धन कमाना – ये ही सब रूचिकर लग रहे हैं। इन विषयोकी प्रीति तो स्वात्माके अनुभवमें बाधक है। यह सभी विषयोकी चाह और परिग्रहो की मूर्छा हअ जाये तो आत्मा आनन्दका स्वाद लेने लगता है।

**व्यर्थके कोलाहलसे अलाभ** – है आत्मन् व्यर्थ के कोलाहलसे क्या लाभ पा लोगे? दूसरे जीवोसे प्रीति बढ़ाना और दूसरोका भार अनुभव करना, दूसरोके लिए अपना सब कुछ न्यौछावर करना ये सब व्यर्थके कोलाहल है, इनमें मिलता कुछ नहीं है, आखिर मरना सबको पड़ता है। मरनेके बाद भी इस जीवको यहाँ के कामोसे कुछ लाभ मिले तो बतावो। जो जीव चला गया यहाँ से तो लोग शरीर को तुरन्त जलानेका यत्न करते हैं। भले ही कभी किसी बूढ़ेके मर जानेपर बहुत बड़ा विमान सजाया जाय, शंख बजाया, पर अब उस आत्माके लिए क्या है? उसने तो अपने जीवनमें जैसा परिणाम बनाया उसके अनुकूल कोई गति पा ली। अब दान, शील, उपकार, संयम कुछ सदाचार पालन किया, बाकी क्या लाभ हो सकता है?

**बहकावेका ज्ञानीपर अप्रभाव** – किसीके मरने पर उसका श्राद्ध करनेसे उस मरे हुए जीवको शान्ति मिलेगी ऐसा बहका कर लोगोने अपनी आजीविका बनायी है। साल भर बाद उसी दिन इतने लोगोको खिलावोगे, इतनी इतनी चीजें गंगा युमनाके किनारे बैठे किसी नियत पुरुषको पूज्य मानकर दे दोगे तो इतनी चीजें उस मरे हुए पुरुष के पास पहुंचा देंगे— ऐसा भ्रम डाल देते हैं। यह सब आजीविकाका साधन है दूसरोका। जो मर चुका है उसके पास कैसे क्या पहुंच जायगा। तुम जो करोगे सो तुम्हारे साथ रहेगा। उन पुरुषो ने जो किया सो उन कुछ विश्राम लेकर अपने आपमें देखो तो सही इन समस्त समागमोसे भिन्न कोई तेज स्वयंमें है अथवा नहीं। सब प्रकट हो जायगा।

**भोगत्यागकी प्राथमिकता** – भैया। यदि शान्तिकी चाह है तो आपको त्यागना पड़ेगा विषयोको। भोगोके त्यागे बिना ज्ञान प्रकाश मिल जाय, ऐसा कभी नहीं हो सकता। इस कारण जो आत्मस्वरूपके अनुभव के अनुयायी है उन्हें चाहिए कि विषयोको, ठाठबाटोंको, समागमोंको भिन्न, असार, हेय जानकर उनकी औरसे उपेक्षा करे, और एकांत बैठकर अपने

आपमें अपनेको एकाग्र कर लें। इस विधिसे यदि हमारा ज्ञानप्रकाश बढ़ेगा तो भोग अरुचिकर लगेंगे और यह ज्ञानका अनुभव ही रूचेगा। सब असार है, हेय है, एक अपना आत्मा ही सार है, उसको जानो यही धर्म है बतावो धर्ममें कहां मजहब है? यह अमुक धर्म है, यह अमुक धर्म है ऐसा मजहबोका कहां भेद है? आत्मा जब एकस्वरूप है तो धर्म भी एक स्वरूप है। आत्माका धर्म आत्मामें मिलेगा अन्यत्र न मिलेगा, सो अपने आत्मस्वरूपको सम्हालना यही एक धर्म है और इस धर्मके पालन से संसारके संकट नियमसे कटेंगे। एक सारभूत बात यहां कही है कि ऐसा ज्ञान बढ़ावो कि आपको भोग विषय भी रूचिकर न लगे।

**निशामयति निःशेषमिन्द्रजालोपमं जगत्।**

**स्पृहयत्यात्मलाभय गत्वान्यत्रानुत्प्यते।।39।।**

**जगत् इन्द्रजालेपमता** – योगी जन इस समस्त जगत को इन्द्रजालकी तरह समझकर इसे दूर करते हैं और आत्माकी प्राप्तिके लिए स्पृहा रखते तथा आत्मलाभके सिवाय अन्य किसी भावमें उपयोग कुछ चला जाय तो उसका बड़ा करते हैं। इस श्लोकमें तीन बातोंपर प्रकाश डाला है, प्रथम तो इस समस्त जगतको इन्द्रजालकी तरह निरखता है, इन्द्रजालका क्या अर्थ है? लोकमें तो ऐसी रूढ़ि है कि जैसे बोई तमाशगीर चीज तो कुछ नहीं है और लोगो को दिखाये, उसको इन्द्रजाल मानते हैं, यह भी अर्थ लगा लो तो भी कुछ हानि नहीं है क्योंकि जो कुछ दीखता है वह परमार्थमें ऐसा है ही नहीं, औश्र माही जीवको यही परमार्थ और सत्य नजर आता है, इस कारण यह भी अर्थ ले लो पर इसका वास्तविक अर्थ यह है कि जो कुछ यहां दृश्यमान है यह सब इन्द्रका जाल है इन्द्र मायने आत्मा। उस आत्मा की विकार अवस्था होने से जो कुछ परिणमन होता है उससे जो कुछ यह सारा जाल बिछा हुआ है यह इन्द्रजाल है। अंलकार न लेना कि यह आमूल इन्द्रजाल ही है यह सब कुछ। यह आत्माका जाल है।

**इन्द्रका जाल** – यह प्रभु जो अनादि अनन्त अहेतुक अन्तः प्रकाशभाव है, प्रत्येक जीव में विराजमान है। जीवो का जो स्वभाव है वही तो प्रभु है वह प्रभु पर्यायमें जकड़ा है, विकृत होकर जब यह अपना जाल फैलाता है तो इसका जाल भी बड़ा विकट है। यह प्रभु इतना समर्थ है कि सुधारका भी बड़ा विकट चमत्कार दिखाता है और विकारका भी बड़ा विकट चमत्कार दिखाता है। कोई वैज्ञानिक किसी भी प्रकार ऐसा इन्द्रजाल बना तो दे। उसमें इतनी सामर्थ्य नहीं है। भले ही वह अजीव पदार्थों को परस्परमें सम्बद्ध करके एक निमित्तनैमित्तिक पद्धति में कुछ असर दिखा दे। किन्तु इन्द्रजाल नहीं बना सकता है। तो यह योगी सर्वत्र इन्द्रजाल देखता है, इन्द्रका स्वरूप नहीं है यह, किन्तु इन्द्रका जाल है, इसी कारण वह किसी भी इन्द्रजालमें रमता नहीं है।

**विषयसाधनोकी जलबुद्बुदसम असारता** – भैया ! इस लोकमें रमण करने योग्य क्या है? जो कुछ है वह सब जलके बुद्बुदेकी तरह चंचल है, विनाशीक है, कुछ ही क्षण बाद मिट जाने वाला है। जैसे जलका बबूला देर तक ठहरे तो उस पर बच्चे लोग बड़े खुश होते हैं, और शानके साथ किसी बबूलेको अपना मानकर हर्षके साथ कहते हैं देखो मेरा बबूला अब तक ठहरा है। बरसातके दिन है, जब ऊपर से कमानका पानी गिरता है तो उसमें बबूले पैदा हो जाते हैं, बच्चे लोग उनमें अपनायत कर लेते हैं कि यह मेरा बबूला है, कोई लड़का कहता है कि मेरा बबूला है, अब जिसका बबूला अधिक देर तक टिक जाय वह बच्चा उठता है, मेरा बबूला अब तक बना हुआ है। ऐसे ही यह पर्याय, यह जाल यह शरीर बबूलेकी तरह है। इन अज्ञानी बच्चोने अपना-अपना बबूला पकड़ लिया है, यह मेरा बबूला है, यह बबूला कुछ देर तक टिक जाय तो खुश होते हैं, मेरा बबूला अब तक टिका हुआ है। यो यह योगी पुरुष इन्द्रजालकी तरह समस्त जगतको जान रहा है। यहां किससे प्रीति करे, कौन सहाय है, किसका शरण गहे, जो कुछ भी है वह सब अपने लिए परिणमता है।

**वस्तुमें अभिन्नषट्कारकता** – भैया ! यह लोक अपना ही स्वार्थ साधता है, इसमें गाली देनेकी गुञ्जायश नहीं है, किसीको स्वार्थी आदिका कहने की आवश्यकता नहीं है, वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि वह स्वयंसे सम्प्रदान हो सकता है। प्रत्येक पदार्थ स्वयं कर्ता है। स्वयं कर्म है, स्वयं करण है और स्वयं ही सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण भी है अर्थात् पदार्थ परिणमता है, यही तो करने वाला हुआ, और जिस रूप परिणमता है वही इसका कर्म हुआ। अपने ही परिणमनके द्वारा परिणमता है इसलिए यही साधन हुआ और जिस रूप परिणमता है वही इसका कर्म हुआ। अपने ही परिणमनके द्वारा परिणमता है इसलिए यही साधन हुआ और जिस रूप परिणमता है वही इसका कर्म हुआ। अपने ही परिणमनके द्वारा परिणमता है इसलिए यही साधन हुआ और परिणाम करके फल क्या पायगा, किस लिए परिणम रहा है, वह फलभी स्वयं है। किससे परिणमता है, किसमें परिणमता है, सो वह अपादान व अधिकरण भी स्वयं है।

**पदार्थ के परिणमन का सम्प्रदान** – पदार्थके परिणमनेका फल क्या है? वह फल है सत्ता रहना। प्रत्येक पदार्थके परिणमन का प्रायोजन इतना ही मात्र है और फल इतना ही मिलता है कि उसकी सत्ता बनी रहे, इससे आगे उसका कुछ फल नहीं है। यह समझदार है जीव इसलिए इसने बेईमानी मचा रक्खी है। जो समझदार नहीं है वे पदार्थ अब भी अपने ईमान पर टिके हुए हैं, वे परिणमते हैं मात्र अपना सत्व रखनेके लिए किन्तु ये विकारी, रागी जीव परिणमते ह तो न जाने कितने प्रयोजनाको बताते हैं। मैं संसारमें यश बढ़ा लूँ, सम्पदा बढ़ा लूँ, अनेक विषय सुखोके साधन छुटा लूँ, कितने ही प्रयोजन बनाते हैं। भले ही ये कल्पना में कितने ही प्रयोजन बनाएँ किन्तु एक संत पुरुषकी ओर से तो



प्रयोजन वहीका वही रहता है जो अचेतनको मिलता है, इससे अधिक कुछ नहीं है। यह जीवज्ञानरूप परिणामात है तो ज्ञानरूप परिणामनेका फल ज्ञान ही रहता है, इससे अतिरिक्त कुछ फल नहीं है। जो और कुछ फल खोजा जाता है वह सब मोहका माहात्म्य है। वस्तुतः अपनी सत्ता कायम रखनेके लिए ही पदार्थ परिणमन करते हैं। जैसे यह चौकी है, इसको कोई ल दे तो क्या हो गया इसका? इसका ही यो परिणमना हो गया।। न भी कुछ करे तो भी यह जीर्ण हाती जा रही है, परिणमती जा रही है। किसी भी रूप परिणमें, इन परिणमनोका प्रयोजन इतना ही मात्र है कि परमाणुवोंकी सत्ता बनी रहे, अब कोई भी चीज किसी भी प्रकार परिणमें उसका प्रयोजन यह मोही जीव अपनी कल्पनाके अनुसार बना लेता है।

**योगीकी आत्मस्पृहा** – यह समस्त जगत इन्द्रजालकी तरह है। इन सबको यह योगी शान्त कर देता है। इस सारे जगत्को यह रोगी ओझल कर देता है अपने उद्योगसे और होता क्या है कि अंधकार में सर्व पदार्थ ओझल हो जाते हैं। रहो, किसी प्रकार रहो। अब योगीके लिए यहाँ कुछ भी नहीं है, यो इन्द्रजालकी तरह इन समस्त पदार्थोंको यह ज्ञानी अपने उपयोगसे ओझल कर देता है। अब ज्ञानीके केवल आत्माकी ही स्पृहा रहती है और यह अंतस्तत्व ही उसके प्रोग्राममें, लिस्टमें रह जाता है। ये योगी केवल आत्मालाभकी स्पृहा करते हैं। मेरा आत्मा मेरेको मिले, ये भिन्न असार पदार्थ, इनका मिलना जुलना सब खतरेसे भरा हुआ है कोई रुच गया राग तो क्या वह कुछ बढ़वारीके लिए है? कोई अनिष्ट जंचा, द्वेष किया वह भी बरबादीके लिए है। मेरा शरण, रक्षक यह मेरा आत्मा मेरेको प्रकट हो, और मुझे कुछ न चाहिए।

**आत्मालाभकी आकांक्षा** – जैसे कोई जबरदस्त मुसाफिर किसी कमजोर मुसाफिरको दबाकर उसकी हानि कर दे और उसका झगड़ा बढ़ जाय तो वह कमजोर मुसाफिर यही कहता है कि बस मेरी चीज दिला दो, मुझे और कुछ न चाहिए। वह अपनी मांग करता है, यो ही यह बना बनाया गरीब एक बड़े फंद और बिडम्बनामें पड़ गया है। कहाँ तो यह अमूर्त निर्लेप ज्ञानमात्र अंतस्तत्व उत्कृष्ट पदार्थ है और कहाँ यह सुख दुःख पर्याय, कल्पना, शरीर इनमें बँधा फिर रहा है और अपने राग की जिस विषय में ममता की है उस विषयके पीछे-पीछे भटकता फिरता है। जैसे बछड़े वाली गायको हांकना नहीं पड़ता है यदि उसके बछड़ेको कोई गोदमें लेकर चलता जाय आगे, वह गाय उस बछड़ेके पीछे-पीछे हीडत्रती भागती चली जायगी। अपनी विपदाको भी वह न देखेगी, ऐसे ही यह मूढात्मा अपने रागका जो विषय बनाता है उस विषयके पीछे यह आत्मा दौड़ता भागता फिरता है। न अपनी विपदाको देखता है, न अपनी बरबादीका ख्याल है। ऐसा यह मोही जीव संसार-भ्रमणमें गोते लगा रहा है, किन्तु यह ज्ञानी पुरुष एक आत्मलाभकी ही स्पृहा करता है।

**मेरा और मैं का निर्देश** – मुझे तो मेरा मैं चाहिए अन्य कुछ न चाहिए, इस ही का नाम है योग धारण। योग मायने जोड़। मेरा मैं बिछुड़ा हुआ हूँ, इसका जोड़ कर दीजिए। मेरेको मैं मिल जाय यही है योग। जिसको मेरा कहा जा रहा है वह तो है उपयोके रूपमें ओर जिसे मैं कहा जा रहा है यह है परम पारिणामिक भावमय अंतस्तत्वके रूपमें। यह उपयोग कह रहा है कि मेरा मैं मिल जाय। मेरा जो आधारभूत है जिसपर मेरी स्पृहा चलती है, जिसपर मैं अपना चमत्कार दिखा पाता हूँ, अपना जौहर दिखाया करता हूँ ऐसा मेरा नाथ शरण मुझे मिल जाय यही मेरा नाथ है। न अथ। अथ मायाने आदि। जिसकी आदि नहीं है उसे नाथ कहते हैं। यह उपयोग यह परिणमन तो सादि है। जिसकी कुछ आदि हो उसकी क्या वखत करूँ। जिसकी आदि नहीं है उसकी वखत है। नई फर्म खुली हो किसीके नामपर तो उसका कुछ असर नहीं होता और पुरानी फर्म हो तो लोग बदलते नहीं हैं। उसे चाहे पोते और सन्तेमें भी बाँट हो। लोग सोचते हैं कि पुरानी फर्मका नाम न बदले, नहीं तो फिर ठिकानेकी सम्भावना नहीं है। जिसका आदि नहीं है ऐसा मेरा नाथ वही विश्वास के योग्य है। जिसकी आदि है वह मिट जायगा। ऐसे परिणमनोपर इस ज्ञानीका उपयोग नहीं थमता है। यह तो एक अंतस्तत्वके लाभ के लिए स्पृहा करता है।

**ज्ञानी का परोपयोगमें अनुताप** – यह अज्ञानी योगी अपने आत्ममिलनके लिए उद्यत है फिर भी पूर्व वासनावश उससे डिग जाय और किन्ही बाह्य अर्थों में लग जाय तो उसे ऐसा पछतावा होता है कि इतने क्षण हमने व्यर्थ में विकल्पोमें लगाये। ज्ञानी जन कभी उपवास करते हैं तो उस उपवास का उनके लक्ष्य क्या है? उस आहारके प्रसंग में जो पौन घंटेका समय लग जाता है उस समयमें जो आत्मतत्वसे चिगनेका विकल्प बनता है उसका वे पछतावा करते हैं निराहार रहने में वे खुश हैं, पर आत्मातत्वके उपयोगसे चिगनमें वे खुश नहीं हैं, इसलिए उनका आहार छूट जाता है, वे निराहारी हो जाते हैं।

**अज्ञानसे व्यवहारधर्ममें भी कर्तृत्व बुद्धि**— इस आहारत्यागमें धर्म लग जायगा, पुण्य बंध जायगा, मुझे उपवास करना चाहिए ऐसा सोचना विकल्पमूलक उपवास है। एक झंझट से बचे और अपने आत्मलाभमें लगे ऐसी दृष्टि ज्ञानी पुरुष के होती है अज्ञानी तो उपवासमें क्षोभ बढ़ाता है, एक दिन पहिले क्षोभ किया, जब उपवास किया तब क्षोभ, अंतमें क्षोभ किया। किसीने कई उपवास किया तो शरीर के कमजोर होते हुए भी यह कहता है कि भाई हमें तो कुछ भी नहीं कठिनाई मालूम पड़ रही है? हम ता बड़े अच्छे हैं ऐसे मायाचार को बढ़ावे, तृष्णाको बढ़ावे क्रोधको बढ़ावे घमंडको बढ़ावे इसी सभी चीजें बढ़ाने का ही वास्तवमें उसने कार्य किया, कुछ अपने हितका कार्य नहीं किया।

**ज्ञानी अर्न्तदृष्टि** –ज्ञानी पुरुष की दृष्टि को ज्ञानी ही कूत सकता है, अज्ञानी नहीं कूत सकता ह। गृहस्थ ज्ञानी यदि यथार्थादृष्टि है तो गोदमें बालकाको खिलाकर भी सम्बर और निर्जरा उसक बराबर चलती रहती है। कैसी है उसकी दृष्टि? वच्चे को खिलाता हुआ

भी यह ध्यान बना है कि कहाँ इस झंझट में लग गए हैं, न जाने अभी कितने वर्ष तक इस झंझट में लगना पड़ेगा, ऐसी भीतरमे धारणा हे उस ज्ञानीके। अज्ञानी तो यो देखेगे कि यह कैसा बच्चोसे मोह रखता है। अरे वह बच्चेको खिलाये नही तो क्या गड्ढे मं पटक दे करना तो पड़ेगा ही सब कुछ जैसे कि लोग करते है, पर उसकी दृष्टि अंतरमें इतनी विशुद्ध है कि उन कामोंमे रहकर भी उसके सम्वर और निर्जरा बराबर चलती रहती है। आत्मलाभकी इतनी विकट स्पृहा ज्ञानी पुरुषमें ही होती है।

**सजग वैराग्य** – जिसको वैराग्य ज्ञानसहित मिल गया है उसका वैराग्य आजीवन उहरात है। ज्ञानके बिना वैराग्य मुद्रा बनाना, यह तो लोकप्रतिष्ठा, बढावा आदिके लिए है। वैराग्य टिक सकेगा या नही— यह तो ज्ञान और अज्ञान पर निर्भर है। ज्ञान बिना वैराग्य में विडम्बनाएँ बढ जाती है और वह वैराग्यकी नही निभा पाता है और लोग भक्त भी ऊब जातें है, यह सब उसके एक अज्ञानका फल है। ज्ञानी पुरुष तो आत्मलाभके लिए स्पृहा रखता है अन्यत्र कही उपयोग जाय तो पछतावा करता है, ओह इतना समय मेरा व्यर्थ गया? ज्ञानी का साहस एक विलक्षण साहस है, और साहस भी क्या है? जो चीज छूट जायगी उसको अभीसे छूटा हुआ मान लेना है, और छूटा हुआ माननेके कारण उपेक्षा बन जाय और कभी थोड़ी हानि हो जाय, तो उसका खेद न आए तो इसमे कौनसे साहसकी बात है? इतना ही फेर रहा कि जो 10 वर्षके वाद छूटना था उसको अभी से छुटा हुआ देख रहे है। इतना ही किया इस ज्ञानीने, और क्या किया, पर मोही पुरुषोकी दृष्टि में यह बड़े साहस भरी बात है।

**अज्ञानी और ज्ञानीकी दृष्टि में साहसका रूप** – भैया ! साहस तो अनात्मीय चीजको पानेमें करना पड़ता है। जो चीज अपनी नही है उसे कल्पनामें अपनी ओर उसे जोड़ना धना, रक्षा करना इसमें साहस करना पड़ता है। अपने आपकी वस्तुको अपने आपमें उतानाना इसमें नै साहसकी बात है? लेकिन अज्ञानियों को ज्ञानियों की करतूतमें बड़ा मालूम हातो है। ज्ञानी सोचता है कि ये संसारी सुभट बड़े साहसी है। जिन परिजन, मित्रो और जड़ सम्पदावोसे इन्हे कष्ट मिलता है उनको सहकर उन्ही के प्रति इच्छा, वाञ्छा और यत्न बनाए रहते है, इतनी हिम्मत तो हमसे नही हो सकती, ऐसे ही अज्ञानियोंको ज्ञानियों की क्रियावोमें बड़ा साहस मालूम होता है। ओह! ये योगी जन कैसा इस समस्त जगतको इन्द्रजालकी तरह निरखतें है, कितनी इन्हें आत्मस्ववरूपकें प्रति अभिलाषा है।

**जालमें विविधरूपता** – जालमें विविधता होंती है, और जो जाल नही, एकत्व है उसमें विविधता नही होती है। जैसे मकड़ी जाल बनाया करती हे तो वह जाल एक लाइनसे नही बनता है। गोल मटोल, लम्बा चौड़ा, संकरा, नाना दशावोरूप होता है – व्यञ्जन पर्याय और एक व्यञ्जन पर्यायमें भी भिन्न भिन्न क्षेत्र में विभिन्न परिणमन पर्याय। यह शरीर एक है, पर पैरमें जो परिणमन है वह सिरमें नही है, किन्तु जो जाल नही है,

एकत्व है वहा यह बात न होगी कि जो एक जगह परिणमन है वह दूसरी जगह नहीं होता। एकत्वमें वही परिणमन सर्वत्र है पर जालमें परिणमनकी एकता नहीं है, विविधता है, इसी तरह गुण पर्याय का भी जाल देखो— ज्ञान गुण कही पैर पसार रहें है, तो श्रद्धा गुण कही मुख कर रहा है। ये समस्त गुण अपनी—अपनी ढफली बजा रहे है, यह इन्द्रजालका दृश्य, किन्तु एकत्व परिणमन हो तो वहां यह कुछ भी विविधता नहीं रहती है। जहां रत्नत्रयका एकत्व है वहां तो यह भी पहिचान नहीं हो पाती कि यह ज्ञानका परिणमन है और यह श्रद्धाका परिणमन है या चारित्र है, वहां तो एक एकत्वका ही अनुभवन है।

**इन्द्रजालका अवबोध** – यदि किसी कारणवश इन्द्रजालकी और रंच भी निगाह आती है। तो ज्ञानियोको संताप हुआ करता है जब तक आत्मको अपने असली स्वरूपका परिचय नहीं है तब तक ये बाह्य पदार्थ भले प्रतीत होते है। जब तक कौवाको यक कोयलाका बच्चा है यह पता नहीं रहता है तब तक जान लगाकर उसकी सेवा करता है। परिचय पड़ जाय तो उससे हट जाता है। भले ही इस अज्ञानी जीवको ये विषय अच्छे लगते है। पर जब स्वपर भेदविज्ञान करके ज्ञानी बने तो ये विषय इन्द्रजालके खेलकी तरह असार मालूम होते है। मिस्मरेजम वाले लोगोकी टोपी उठाकर जब झाड़ते है तो रूपये खनखनातें हुए गिरते नजर आते है। यदि रूपये यो खनखनाकर गिराते है तो वे सबसे क्यों एक एक आना मांगते है? वह तो एक इन्द्रजालका खेल है। है कुछ नहीं।

**ज्ञानियोकी उपेक्षा व उद्यम**— ज्ञानी पुरुषो ये इन्द्रियविषय निःसार विनश्वर मालूम होते है। अब आत्मस्वरूपको त्यागकर अन्य पदार्थोकी और उसकी दृष्टि नहीं जाती है। वह तो आत्मलाभ ही करना चाहता है। जो ज्ञानमें रत पुरुष है वे इन सब इन्द्रजालोको यो निरख रहे है। यह लक्ष्मी कुछ दिनों तक ही ठहरेगी, यह यौवन कुछ दिनों तक ही रहने वाला है, ये भोग बिहलीके समान चंचल है, यह शरीर रोगो को मंदिर है, ऐसा निरखकर ज्ञानी जीव परपदार्थोसे उपेक्षा करते है और ज्ञानानन्दमय अपने आत्मतत्वमें निरत होनेका उद्यम रखते है।

**इच्छत्येकान्तसंवासं निर्जनं जनितादरः।**

**निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम्।।40।।**

**ज्ञानीकी एकान्तसंवासमें वाञ्छा** – जब इस आत्माको अपने झुकावसे और परकी उपेक्षाके साधन से शुद्धज्ञानप्रकाशका अनुभवन हो जाता है उस समयमें जो अद्भुत आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दके फलमें उस आनन्दके लिए यह योगी बड़े आदरके साथ एकांत में रहना चाहता है, इच्छा करता है और अपने प्रयोजनवश, धर्मसाधनाके प्रयोजनसे कदाचित् कुछ कहना पड़े तो कह कर शीघ्र ही भूल जाता है। यह स्वानुभव प्राप्त योगियोकी कहानी बतायी जा रही है। धर्ममय यह आत्मा स्वयं है। जो कुछ यह मैं हूं उसकी ही बात कही जा रही है।

**धर्मका आधार** – भैया ! धर्म मिलेगा तो स्वयंमें ही मिलगा। बाह्य में जो भी आदर्श है, पूज्य है वे इस आत्मानुभवके मार्गके निर्देशक है, इस कारण उनकी भक्तिसे एक शुद्ध आनन्द मिलता है और अपने आपमें जो स्थिति उत्पन्न करना चाहते हैं, यह योग जिन्हे प्रकट हुआ है उनमें अपूर्व बहुमान, स्तवन, उपासनाका अपूर्व भाव होता है। जिसे जो आनन्द मिल गया है वह जैसे मिलता है उस ही उपायमें लगता है। जहाँ आनन्द नहीं है ऐसे साधनोसे हटता है। सब ज्ञानका माहात्म्य है। जब तक इस जीवको अपने आत्माका और परपदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका बोध नहीं होता है तब तक यह अपनी ओर आये कैसे और परसे हटे कैसे?

**वस्तुस्वरूपके प्रतिपादनकी विशेषता** – जैन शासन में सबसे बड़ी विशेषता एक वस्तुस्वरूपके प्रतिपादन की है। जीवको मोहही दुःख उत्पन्न करता है। वह मोह कैसे मिटे, इसका उपाय वस्तुस्वरूपका यथार्थ परिज्ञानकर लेना है। जगतमें अनन्तानन्तों तो आत्मा है, अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु है— एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य एक आकाशद्रव्य और असंख्यात काल द्रव्य है। इनका जो परिणमन है वह कही सूक्ष्म परिणमन है और कही स्थूल परिणमन है पर इन परिणमनोमें सर्वत्र एक रूप रहने वाले जो मूल पदार्थ है, जो अनेक दशावोमें पहुँच कर भी एक स्वभावरूप रहें वही समस्त परिणमनोका मूल कारण है। जैसे कि जो चिदात्मक गुणपर्याय है उन सृष्टियोका कारण यह चित्स्वरूप है और जितने जो कुछ ये दृश्यमान है इन दृश्यमान समस्त पदार्थों का मूल कारण अणु है। उस परमाणुमें भी परमाणु अकेला रह जाय तब भी परिणमन चलता है। उस परिणमनसे परिणत अणुको कार्य अणु कहते हैं और यह वह परिणमन जिस आधार में होता है उसे कारण अणु कहते हैं।

**मूल पदार्थका मोहियोको अपरिचय** – इन जीवो ने इन दृश्यमान पदार्थों का मूल कारण नहीं जान पाया और न यह समझ पाया कि ये प्रत्येक पदार्थ अपनेमें ही अपनेको अपने लिए अपने द्वारा रचते रहते हैं। किसीके विभाव परिणमनमें अन्य द्रव्य निमित्त होते हैं, किन्तु कोई भी निमित्तभूत परपदार्थ उपादानमें किसी परिणतिको उत्पन्न नहीं करते हैं। ऐसी वस्तुस्वरूपकी स्वतंत्रता एक सूत्रमें ही कह दी गई है— उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्। जो भी है वह निरन्तर नवीन पर्यायसे परिणमता है, पुरातन पर्यायको विलीन करता है और वह स्वयं कारण रूपमें ध्रौव्य बना रहता है। यो जब आत्मा के स्वरूप का भान होता है तो यह निर्णय होता है कि किसी भी पदार्थ का कोई पदार्थ कुछ नहीं लगता है। सर्व पदार्थ अपने अपने स्वतंत्र स्वरूप को लिए हुए हैं, ऐसा भान होने पर जो परपदार्थ से सहज उपेक्षा होती है और उस उपेक्षा से जो अपने आपके स्वभाव में झुकाव दृढ़ हुआ और एकत्व की दृष्टि बनी उसमें जो आनन्द प्रकट होता है। वह अलौकिक आनन्द है। उसका अनुभव कर चुकने

वाले योगी को अब किसी भी समागम में रहने की चाह नहीं रहती है, वह तो एकान्त वास का अनुरागी है।

**अज्ञानावस्था की वाञ्छाये** – अज्ञान अवस्था में यश और कीर्ति की चाह हुआ करती है कि मेरा लोक में बड़प्पन रहे, इस अज्ञानी को यह विदित नहीं है कि जिन लोगो में मैं बड़ा कहलाना चाहता हूँ वे लोग स्वयं दुःखी है, अशरण है, मायास्वरूप है— यह भान नहीं रहा, इसी कारण इन मायामयी पुरुषो में ये मायामयी पुरुष यश के लिए होड़ लगगा रहे है। दुःख और किस बात का है धन मे लोग बढ़ना चाहते है वह भी यश के लिए । यश की चाह अन्तर में पड़ी है तो नियम से जानना चाहिए कि उसके अज्ञानभाव है। जो कारण समयसार है, जो निज मूल शुद्ध चिदात्मक तत्व है उसका परिचय नहीं हुआ है इस कारण दर दर पर इसे परपदार्थो से भीख मांगनी पड़ती है।

**योगीश्वरो का आदर्श** – यह ज्ञानी पुरुष निर्जन स्थानो में एकांत का संवास चाहता है। उसे प्रयोजन नहीं रहा किसी समागम मे रमने का और आदरपूर्वक चाहता है। ऐसा नहीं है कि संन्यासी हो गया है इस कारण अलग रहना ही पड़ेगा। घर बसाकर तो न रहा जायगा ऐसी व्यवस्था नहीं है किन्तु आस्थापूर्वक वह एकान्त स्थान चाहता है। यह उन्नति के पद में पहुंचने वाले योगियो की कथा है। उन्होने निकट पूर्व काल में जो मार्ग अपनाया था, ज्ञान किया था वह ज्ञान हम आप सब श्रावकजनो के करने योग्य है, जिस मार्ग से चलकर योगी संत महान् आत्मा हुए है, वे चलकर बताते है, कि इस रास्ते से हम यहां आ पाये है, इसी उत्कृष्ट पथ से चलकर तुम अपने आपके उत्कृष्ट पद को पा लो।

**अज्ञान और उद्वण्डता**— बेवकूफी और धूर्तता – इन दो ने जगत के जीवो को परेशान कर दिया है। बेवकूफी तो यह है कि पदार्थ का यथार्थ स्वरूप न विदित हुआ और एक का दूसरे पर अधिकार सम्बन्ध दीखने लगा। यह तो है इसका अज्ञान और इतने पर भी अपने को महान् माल लेना। कोई छोटी बिरादरी का हो तो वह भी अपने को छोटा स्वीकार नहीं कर सकता है, कोई निर्धन हो वह भी अपनी दृष्टि में अपने को हल्का नहीं मान सकता है। एक तो अज्ञान रहा और अज्ञान होने पर भी अपने में बड़प्पन की बुद्धि रहे, जिससे अभिमान बने और भी प्रतिक्रियाये करने का यत्न होना यह है इस मोही जीव की धूर्धता । अज्ञान ही होता, सरल रहता ता भी अधिक बिगाड़ न था, किन्तु अज्ञान होने पर भी अपने आप में बड़प्पन स्वीकार करना यह और कठिन चोट है, इससे परेशान होकर यह जीव चौरासी लाख योनियो में भटक रहा है।

**जीव का सर्वत्र एकाकीपना** – यह जीव अकेला ही जन्ममरण करता है, सुख दुःख भोगता है, रोग शोक आदि वेदनाएँ पाता है, स्त्री पुत्रादि को लक्ष्य मं लेकर यह अपने रागद्वेष और मोह का विस्तार बनाया करता है, यहां कोई भी इस जीव का साथी नहीं है।

वे सब केवल व्यवहार में स्वार्थ बुद्धि से रंगे हुए इस जन्म में ही साथी हो सकते हैं। कोई भी कभी मेरी विपदा में रच साथ नहीं दे सकता है। ऐसी समझ द्वेष के लिए नहीं करना कि ये कोई साथी नहीं है, क्यों द्वेष करना? क्या तुम हो किसी के साथी? जब तुम किसी के साथी नहीं हो तो कोई दूसरा तुम्हारा साथी कैसे हो सकता है? यह तो वस्तुस्वरूप ही है। यह द्वेष के लिए समझ नहीं बनाना, किन्तु उपेक्षा परिणाम करने के लिए ध्यान बनाना है।

**व्यामोहवृत्ति** – यह मोही आत्मा अपनी भूल से ही इन परजीवों को अपनी रक्षा का कारण समझता है। ये मेरी रक्षा करेंगे। कबो समय आने पर जिसका विश्वास है वही विपदा का कारण बन जाए। लेकिन मोह में जो दिमाग में आया, क्योंकि शुद्ध मार्ग का तो परिचय नहीं है सो अपनी कुमति के अनुसार दूसरों का रक्षक मानता है और उन्हें त्यागने में भय मानता है मैं इस रक्षक का त्याग कर दूँ तो कहीं मेरा गुजारा न खत्म हो जाय ऐसा भय मानता है और कभी वियोग हो जाय, होता ही है, जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग नियम से होता है। तब यह अज्ञानी बड़ा क्लेश मानता है।

**अज्ञान की कष्टरूपता** – जो संयोग में हर्ष मानते हैं उनको वियोग में कष्ट मानना ही पड़ेगा। जो संयोग के समय भी वियोग की बात का ख्याल रखते हैं कि जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग अवश्य होगा, तो उनके संयोग के समय भी आकुलता नहीं रहती और वियोग के समय भी आकुलता नहीं रहती। यह मोही जीव जब अपने अभीष्ट का वियोग देखता है तो यह व्याकुल होने लगात है। अज्ञान दशामें कही जाय तो इसे कष्ट है, क्रोध में रहे तो भी अज्ञान से कष्ट है। गृहस्थी त्यागकर साधु संन्यासी का भी भेष रख ले तो वहां भी कष्ट है कष्ट किसी परिस्थिति से नहीं होता है किन्तु अपने अज्ञान भाव के कारण कष्ट होता है, और शुद्ध ज्ञान होने पर कष्ट मिट जाता है, यह अपने में विवेक जागृत करता है। विवेक क्या है? विवेचन करने का नाम विवेक है, अलग कर लेने का नाम विवेक है। विवेक शब्द का अर्थ ही अलग कर लेना है। अपने आपको समस्त परपदार्थों से विविक्त देखना, अपने एकत्वस्वरूप को आकना यही वास्तविक विवेक है। ,

**विवेक वृत्ति** – जब यह जीव विवेक उत्पन्न करता है, मैं अकेला ही हूँ, मेरा कोई दूसरा साथी नहीं है, मैं मेरे द्रव्यत्व और अगुरुलघुत्व स्वरूप के कारण अपने आप में ही निरन्तर परिणाम करता हूँ। जो भी परिणति मुझमें होती है, सुख हो अथवा दुःख हो, इन सबका मैं अकेला ही कर्ता और भोक्ता हूँ। दूसरे जन मेरी ही भांति अपना मतलब चाहते हैं इन समागमों में रहना कष्टदायी मालूम होने लगात है। अपने आत्मस्वरूप से चिगकर किसी बाह्य की ओर विकल्प करना पड़े इसे यह कष्ट मानता है। क्यों विकल्प किया जा रहा है? कुछ हित की सिद्धि है क्या इसमें? वे सब विकल्प मेरे प्राणघात के लिए हैं अर्थात्

शुद्ध जो चिदानन्दस्वरूप है उसका आवरण करने के लिए है। उन विकल्पों से यह दूर रहना चाहता है।

**अन्तस्तत्त्व के रूचिया का अन्त आश्रय** – विकल्पों से निवृत्ति के अर्थ ही वह निर्जन स्थान में रहने की अभिलाषा करता है, क्योंकि साधन सामने रहे तो वे विकल्पों के निमित्त बन सकते हैं इसलिए उन समागमों को ही छोड़कर किसी निर्जन स्थान में यह रहने की चेष्टा करने लगता है, करता है, परन्तु सदा एकांत में रह जाना बड़ा कठिन है। क्षुधा, तृषा की वेदना का कारणभूत शरीर साथ लगा है उसकी वेदना को शान्त करने के लिए कुछ समागम होना ही पड़ता है। ये योगी क्षुधा की शान्ति के लिए नगर में भिक्षावृत्ति करते हैं, अथवा कभी किसी से वचनालाप का प्रसंग होता है तो अवसर पर बोल देते हैं। बोलने के बाद फिर उन सबका यह विस्मरण कर देता है। क्या-क्या चीजें स्मरण में रखे, किन्हीं परपदार्थों को अपने उपयोग में बसाये रहने का क्या प्रयोजन है? कौन सा कर्ज चुकाना है, कौन सी आफत है जिससे वह बाह्य पदार्थों को अपने उपयोग में रखे, नहीं रखना चाहता है।

**वृत्ति की प्रयोजनानुसारिता** – लाख बात की बात तो याद रहती है और सब प्रयोजनों की बात याद नहीं रहती है। जैसे गृहस्थजनों को, व्यापारियों को गृहस्थी और व्यापार की बात बहुत याद रहती है, कैसा थान है, कहां धरा है, कैसा रंग है, कैसी क्वालिटी का है, सारा नक्शा अब भी खिंच सकता है, सब चीजों को भाव ताव याद रहता है। देखने की भी जरूरत नहीं है, शकल देखकर बता देते कि यह इस भाव का है। तो उस बाह्यरूचिक गृहस्थों को व्यापारियों को ये सब बातें तो याद रहती हैं पर धर्म की बातें या ज्ञान सीखते हैं तो याद नहीं रहती है, ठीक है, अंत में यह ज्ञान ही प्रयाजन हो जायगा। अभी तो गृहस्थी के जंजाल का प्रयोजन है, उसकी सुध बहुत रहती है, धर्म और ज्ञान की सुध नहीं रहती है। जब विवेक जगेगा, जब यह उपयोग कुछ मोड़ खायगा, तब इस जीव को ज्ञान की सुध बनेगी, अन्य सब बातें भूल जायेगी।

**अप्रयोजनिक विषय का विस्मरण** – खाने के लालसावंती को कितना याद रहता है कि कल क्या खाना है? जो कल खाना है उसका साधन अभी से ही जुटाते हैं, ज्ञानीसंत पुरुष भोजन करते हैं, पर उन्हें भोजन की कुछ याद नहीं रहती है। भोजन के समय तो चूँकि उनके पास विवेक है सो उसकी बात समझने के लिए याद रखना पड़ता है, पर प्रयोजन एक ज्ञान का साधुओं का ही है, इस वजह से भोजन करते हुए में भी भोजन के स्वाद में वे मौज नहीं मानते हैं क्योंकि उनका उपयोग ज्ञान की ओर लगा हुआ है। भोजन करते जा रहे हैं पर वे उसके ज्ञाना द्रष्टा रहते हैं।



**लोकदृष्टि की प्राकृतिकता**— जो मन लगाकर खाये उसको भक्ति पूर्वक खिलाने का भाव नहीं होता है, जो मन न लगाकर खाये उसको सभक्ति खिलाने का भाव होता है। यह सब विशेषता है। जो मन लगाकर नहीं खाते हैं उनको ही साधु कहते हैं। उनको आहार दान देने में उत्सुकता गृहस्थ जनों को रहती है, यदि कोई मौज मानकर खाये तो गृहस्थ का परिणाम खिलाने में बढ़ नहीं सकता है, मन हट जायगा, यह प्राकृतिक बात है। जैसे गृहजस्थजन भी भोजन के लिए मना करते जाएँ तो खिलाने वाले मनाकर खिलाते हैं, और लाओ—लाओ कहें तो परोसने वाले के उमंग नहीं रहती है। ऐसे ही जो जगत से उपेक्षा करके अपने स्वरूप की ओर मोड़ करते हैं उनकी सेवा में जगत दौड़ता है और जो जगत की ओर मुख किए हुए हैं उनकी ओर से यह जगत मुड़ता है।

**ज्ञानी का तात्विक उद्यम** — यहाँ यह कहा जा रहा है कि यह योगी ज्ञानी पुरुष चूँकि एक अलौकिक आनन्द का अनुभव ले चुका है। अपने आपके स्वरूप में, इस कारण उसकी प्राप्ति के लिए ही इसका उद्यम होता है और यह निर्जन स्थान में पहुँचना चाहता है। इस आत्मध्यान के प्रताप से मोह दूर हो जाता है, और जहाँ सबको मन में बसाये रहें तो यह मोह कष्ट देता रहता है, छुट्टी नहीं देता है। विविक्त निःशक शुद्ध ज्ञानप्रकाश जो है वह सर्व संकटों से मुक्त है, उसके ध्यान से ये मोह राग द्वेष बिल्कुल ध्वस्त हो जाते हैं।

**आत्मनिधि के रक्षण का पुरुषार्थ** — भैया! सब कुछ न्योछावर करके भी ज्ञानानुभव का आनन्द आ जाय तो उसने सब कुछ पाया है। सब कुछ जोड़कर भी एक ज्ञानस्वरूप का परिचय नहीं हो पाया तो उसने कुछ नहीं पाया है। लाखों और करोड़ों की सम्पत्ति भी जोड़ ले तो भी एक साथ सब कुछ छोड़कर जाना ही पड़ता है, और ज्ञानसंस्कार, ज्ञानदृष्टि शुद्ध आनन्द की प्राप्ति कर लेना ये सब शरीर छोड़ने पर भी साथ जाते हैं। जो ज्ञान और आनन्द की निधि है वह कभी छूटती नहीं है। जो आत्म की निधि नहीं है वह कभी आत्मा के साथ रहती नहीं है। गुरु परम्परा में बतायी हुई पद्धति के अनुसार जो आत्मस्वरूप का अभ्यास करता है वह योगी ध्यान के जो भी साधन औश्र स्वरूप हैं उनका साक्षात्कार करता है अर्थात् जिस समय आत्मस्वरूप के चिन्तन में यह योगी लीन हो जाता है उस समय उसे संसार का कोई भी पदार्थ, अपने प्रयोजन का कोई भी तत्व समझिये इसे अदृश्य हो जाता है।

**ज्ञानस्वरूप के आश्रय का प्रसाद** —जो अपने ज्ञान को बाह्य पदार्थों की ओर जानने के लिए लगाए उसके ज्ञान का विकास नहीं होता है और जो बाह्य पदार्थों से हटकर केवल अपने केन्द्र को ही जानने का यत्न करे तो स्वयं ही ज्ञान का एक ऐसा विकास होता है कि यह लोकालोक समस्त एक साथ स्पष्ट विज्ञान होने लगात है। आनन्द में बाधा देने वाली दो बातें हैं— एक तो ज्ञान न होना, दूसरी इच्छा बनाना। जब किसी वस्तु का ज्ञान नहीं है और इच्छा बनी हुई है तो आकुलता होती है। किसी वस्तु का ज्ञान नहीं है तो न

रहने दो, तुम उसके ज्ञान की इच्छा और मत करो, फिर आकुलता कुछ नहीं है। इच्छा न हो ऐसी स्थिति तब बनती है जब कि ज्ञान स्पष्ट हो, इस कारण पदार्थ के स्वरूप का परिज्ञान करके केवल ज्ञाताद्रष्टा रहने का अभ्यास करे और इच्छा न करे तो वह परमात्म स्थिति इसके निकट ही है। स्वयं ही तो परमात्मस्वरूप है, इसकी और आये तो क्लेश दूर हो। इस प्रकार यह योगी परमार्थ एकांत निज आत्मतत्त्व की ही चाह करता है।

**ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति ।**

**स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्चन्नपि न पश्यति ।।41।।**

**समाधिनिष्ठ योगी का व्यवहार** – जिस पुरुष ने आत्मतत्त्व को स्थिर कर लिया है अर्थात् जो समाधिनिष्ठ योगी आत्मास्वरूप का दृढ़ अभ्यासी हो जाता है वह प्रयोजनवश कदाचित् कुछ बोले भी, तो बोलता हुआ भी अतः बोल नहीं रहा है कही जाय वह तो जाता हुआ भी अन्तरंग से जा नहीं रहा है, कही देखे भी, तो वह देखता हुआ भी देख नहीं रहा है।

**आनन्द व धाय में उपयोग** – जिसको जहां रसास्वादन हो जाता है उसका उपयोग वहां ही रहता है। जिसे जो बात अत्यन्त अभीष्ट है उस अभीष्ट में ही वह स्थित रहता है। ज्ञानी को ज्ञान अभीष्ट है इसी कारण वह अन्य क्रियाएँ विवश होकर करे तो भी वह अन्य क्रियावो का कर्ता नहीं है जैसे फर्म के मुनीम की केवल अपने परिवार से सम्बन्धित आय पर ही दृष्टि है, वहां ही ममत्व है, और जो लाखों का धन आए उसमें ममत्व नहीं है। तो वह हिसाब किताब रखकर भी, सब कुछ सम्हालता हुआ भी कुछ नहीं सम्हाल कर रहा है, अथवा जैसे धाय बालक को पालती है, पर धाय का प्रयोजन तो मात्र इतना ही है कि हमारी आजीविका रहेगी, गुजारा अच्छा चेलगा। इतने प्रयोजन से ही उसको ममत्व है। तो वह बालक का श्रृंगार करके भी वस्तुतः श्रृंगार नहीं कर रही है। ऐसे ही जिस ज्ञानी पुरुष को अध्यात्मरस का स्वाद आया है वह प्रत्येक प्रसंगों में चाहता है केवल अध्यात्म का रसास्वादन। जब वह कुछ भी बाह्य में क्रिया करे तो भी उन क्रियावो का वह करने वाला नहीं है।

**योगीश्वर का व्यवहार** – शुद्ध आत्मतत्त्व का परम आनन्द पा लेने वाले योगी के एक सिर्फ आत्मदृष्टि के अतिरिक्त अन्य सब बातें, व्यवसाय पदार्थ, नीरस और अरुचिकार मालूम होते हैं, किसी भक्त पुरुष को कहीं उपदेश भी देना पड़े तो वह उपदेश देता हुआ भी न देने की तरह है। कर्मों के उदय की बात वीतराग पुरुषों के भी हुआ करती है। अरहंत, तीर्थंकर परमात्मा हो गए, उनको अन्तरंग से कुछ भी बोलने की इच्छा नहीं है, लेकिन कर्मों का उदय इस ही प्रकार का है कि उनकी दिव्यध्वनि खिरती है, उनके उपदेश दिव्यध्वनि रूप में होते हैं। जब वीतराग परमात्मा के भी किसी स्थिति तक कर्मोदयवश योग होता है, बोलना पड़ता है, यद्यपि उनका यह बोल निरही है और

सर्वागनिर्गत है, किन्तु यह अवस्था आत्मा के सहज नहीं होती है। तब जो राग सहित है ऐसे योगीश्वर जिनको वीतराग आत्मतत्त्व से प्रेम किन्तु रागांश शेष है उन्हें कोई अनुरोध करता है तो वे उपयोग भी देते हैं, अथवा कोई समय निश्चित कर दिया लोग जुड़ जाते हैं तो बोलना भी पड़ता है, किन्तु वह योगी बोलकर भी न बोलने की ही तरह है।

**प्रत्येक प्रसंग में आत्महित दृष्टि** – जो आत्महित का अभिलाषी है वह अन्तरात्मा अपने उपयोग को यहाँ वहाँ न घुमाकर अपना अधिक समय आत्मचिन्तन में ही लगाते हैं। उनका बोलना भी इसी के लिए है। वे उपदेश देने के प्रसंग में भी अपने आप में ज्ञान का बल भरते हैं। प्राक्पदवी में आत्मध्यान के काम में लगने पर भी वासनावश शिथिलता आ जाती है और उपयोग अन्यत्र चलने लगता है तो वह योगी दूसरो को कुछ सुनाने के रूप से अपने आप में अपनी शिथिलता को दूर किया करते हैं, वे अपनी दृष्टि सुदृढ़ बनाते हैं। जो जिसका प्रयोजक है, जिसने जो अपना प्रयोजन सोचा है वह सब प्रसंगों में अपने प्रयोजन की सिद्ध जैसे हो उस पद्धति से प्रवृत्ति करता है।

**ज्ञानी के क्रिया में आसक्ति का अभाव** – भैया! स्वपर के उपकार आदि कारणों से उन्हें वचन भी कुछ कहने पड़ेगे तो बोलते हैं, पर न बोलने की तरह है। शरीर से कुछ करना पड़े तो करते हैं, पर न करने की तरह है किसी भी क्रिया में ज्ञानी की आसक्ति नहीं है, अन्य बातें कुछ भी उनके धार्मिक प्रसंग की बातें हैं उन बातों को भी वे अन्तरंग रुचि से नहीं करते हैं, अर्थात् यही मेरा ध्येय है ऐसी उनकी रुचि नहीं रहती है। किन्तु सहज अंतः प्रकाशमान जो अंतस्तत्त्व है उसकी सिद्धि के लिए व्यवहार धर्म का पालन करते हैं। इतनी परम विविक्ता इन ज्ञानी संतों के प्रकट होती है, ये कुछ करते हए भी न करने की तरह है। जो पुरुष आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य क्रियाओं में चिर क्षण तक उपयोग नहीं देते हैं वे ज्ञानबल से ऐसा बलिष्ठ बनते हैं कि वे आत्मस्वरूप से व्युत नहीं हो सकते। उनके आत्म शान्ति में किसी भी निमित्त से बाधा न हो सकेगी।

**सुख दुःखादि की ज्ञानकला पर निर्भरता** – सुख और दुःख दोनों का होना ज्ञान और अज्ञान पर निर्भर है। जो सांसारिक सुख है और दुःख है वे तो अज्ञान पर निर्भर हैं किन्तु सुखों में परम सुख अथवा शुद्ध आनन्द वह ज्ञान प्रकाश पर निर्भर है। यही बैठे ही बैठे किसी परपदार्थ से थोड़ा सम्बंध की दृष्टि मान ले तो चाहे वह अनुकूल हो और चाहे प्रतिकूल हो, दानो ही स्थितियों में सम्बंध बुद्धि वाला पुरुष दुःखी होगा। संसार के सभी जीव अपना दुःख लिए हुए भ्रमण कर रहे हैं। वे दुःखों को त्यागकर विश्राम से नहीं बैठ पाते हैं ज्ञान बिना सारा साज श्रृंगार, बडप्पन, महत्व, व्यापार, व्यवसाय चटकमटक सब व्यर्थ है। किसे क्या दिखाना है, कौन यहाँ हमारा प्रभु है जिसको हम अपना चमत्कार श्रृंगार साज धाज बताएँ? यह जो हमारा अमूर्त आत्मा है उसे तो कोई जानता नहीं। जो ये

दृश्यमान है, पिंड है, ये स्वयं अचेतन है। ये मैं हूँ नहीं, तब फिर किसी को कुछ भी जताने का अभिप्राय वह मिथ्या है।

**अहंकार व ममकार का दोष** – व्यामोही जीवों में अहंकार और ममकार ये दो दोष बड़े लगे हुए हैं। जिस पर्याय में यह जीव जाता है उस ही पर्याय को अह रूप से मानने लगता है, मैंने किया ऐसा, मैं ऐसा कर दूंगा, मेरा अब यह कार्य-क्रम है। एक तो पर्याय में अहंबुद्धि लगा ली है, यह अहंकार का महादोष इस जीव में लगा हुआ है। दूसरा दोष ममकार का है। किसी भी परपदार्थ को यह मेरा है ऐसा ममत्व परिणाम इस जीव के बना हुआ है। दोनों ही परिणाम मिथ्या हैं, क्योंकि न तो कुछ बाह्य मैं हूँ और न कुछ बाह्य मेरे है। यह संसार इस ही अहंकार और ममकार की प्रेरणा से दुःखी हो रहा है। ज्ञानी पुरुष के किसी भी परपदार्थ में आसक्ति नहीं होती है। वह किसी भी पर को अपना नहीं मानता, अपने से पर का कुछ सम्बन्ध नहीं समझता है।

**औपाधिकता** – देखो लोक में विचित्र प्रकृति के मनुष्य भी देखे जाते हैं। कोई मनुष्य तो इतनी कृपणता रखते हैं कि किसी भी स्थिति में रंच भी उदारता नहीं दिखा सकते हैं, चाहे कितना ही धन लुट जाय या कितनी ही आधिव्यधियाँ उपस्थित हो जाने से यो ही हजारों का धन लुट जाय, पर अपने हाथ से किसी भी धर्मप्रसंग के लिए कुछ देने का साहस नहीं कर पाते हैं और कितने ही पुरुष अपनी सम्पत्ति से अत्यन्त उदासीन रहते हैं, अपनी उदारता किसी भी धार्मिक प्रसंग में बनी रहती है। यह विचित्रता, ये जीव के परिणाम और कर्मों के उदय व क्षयोपशम की याद दिलाते हैं। इस जीव की कितनी विचित्र प्रकृतियाँ हो गयी हैं? मूल में जीव में केवल ज्ञाता द्रष्टा रहने की प्रकृति है पर अपनी उस मूल प्रकृति को तोड़कर, परप्रकृतियों से उत्पन्न हुई प्रकृतियों में यह लग गया है और उन प्रकृति परिणामों से दुःखी रहता है, संसार भ्रमण करता है। जो तत्वज्ञानी जीव है वे प्रकृति के जाल को त्यागकर अपनी शुद्ध प्रकृति में जाते हैं। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, चिदानन्दमात्र हूँ ऐसी उनकी दृष्टि रहती है। वे कही भी रागी नहीं होते हैं।

**मोह की अंधेरी** – मोह की अंधेरी आना सबसे बड़ी विपत्ति है और अपने आत्मा में ज्ञान का प्रकाश होना सबसे बड़ी सम्पदा है। इस बाह्य पृथ्वीकायक सम्पदा को कोई कहाँ तक सम्हालेगा? किसी भी क्षण यह सम्हाल नहीं पाता है। चीज जैसी आए, आए पर यह जीव किसी भी सम्पदा को सम्हालता हो ऐसी बात नहीं है। वह तो अपनी कल्पनावों में ही गुथा रहता है। इस मायामयी जगत में अपनी पोजीशन की धुन बनाना यह महाव्यामोह है। अरे अरहंत सिद्ध की तरह निर्मल ज्ञाताद्रष्टा रह सकने योग्य यह आत्मा आज इतने किवट कर्म और शरीर के बन्धन में पड़ा है। इसकी पोजीशन तो यही बिगड़ी हुई है। अब इस झूठमूठ पोजीशन की क्या सम्हाल करना है। पोजीशन की सम्हाल करना हो तो वास्तविक पद्धति से पोजीशन की सम्हाल करने में लग जाइए, यह स्वाथमयी दुनिया तुम्हारा हित न

कर सकेगी, तुम्हारे हित के करने वाले मात्र तुम ही हो, इससे अपने आपके कल्याण का उद्यम करना श्रेयस्कर है।

**ज्ञानी की दृष्टि** – ज्ञानियो के ऐसी शुद्ध दृष्टि जगी है कि वे उस दृष्टि को छोड़ नहीं सकते हैं। नट कितने भी खेल दिखाये और किसी बांस पर चढ़कर गोल – गोल फिरे, रस्सी पर पैरों से चले, इतने आश्चर्यजनक खेल नट दिखाता है, पर उस नट की दृष्टि किधर है, कार्य क्या कर रहा है और दृष्टि किधर है? उसमें भेद है। जो कर रहा उस पर दृष्टि नहीं है। मनुष्य भी जब चलता है तो जिस जमीन पर पैर रखता है उस जमीन को देखकर नहीं चलता है, अगर उतनी जगह को देखकर चले तो चल नहीं सकता है, गिर पड़ेगा। उसकी दृष्टि प्रकृत्या चार हाथ आगे रहती है। पैर जिस जगह रखा जा रहा है उस जगह को देखकर कौन पैर रखता है? क्रिया होती है, दृष्टि उससे आगे की रहती है। केवल क्रियावो पर ही दृष्टि रहे तो उसका मार्ग रूक जायगा, आगे बढ़ ही नहीं सकता है। यो यह ज्ञानी प्रत्येक क्रियावो में अपने अंतः स्वरूप में मग्न रहने का यत्न करता है।

**ज्ञानियों की अलौकिकी वृत्ति** – जिसने अपने आत्मतत्त्व को स्थिर किया है उसके ही ऐसी अलौकिक वृत्ति होती है। ज्ञानी और अज्ञानी का प्रवर्तन परस्पर उल्टा है। जिसे ज्ञानी चाहता है उसे अज्ञानी नहीं चाहता, जिसे अज्ञानी चाहता है उसे ज्ञानी नहीं चाहता। साधु संत ऐसे ढंग का कमण्डल रखते हैं कि किसी असंयमी को चुराने तक का भी भाव न हो सके, और की तो बात जाने दो। यह ज्ञानी अज्ञानियों से कितना उल्टा चल रहा है? दुनिया चटक मटक का बर्तन रखती है ओर वे साधु एक काठ का कमण्डल रखते हैं, और मौका पड़ जाय तो कुछ समय के लिए वन में पड़ी अस्वामिक मिट्टी का बर्तन या तूमड़ी आदि का वे प्रयोग कर लेते हैं, असंयमी जन पलंग गद्दा तकियों पर लेटने का यत्न करते हैं, ज्ञानी जन जमीन में ही लोटते हैं कभी कोई परिस्थिति आए तो वे कुछ तृण सोध बिछाकर लेट रहते हैं, कितनी परस्पर में उल्टी परिणति है। जो लोक न कर सके वह किया जाय उसका नाम है अलोक की वृत्ति। ऐसे अलौकिक निज परमार्थ कार्यों में दृष्टि होने पर भी कितनी ही परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि वे अन्य विषयक कार्य भी करते हैं किन्तु वे कार्य करते हुए भी न करते हुए की तरह हैं।

**वर्तमान संग मे ज्ञानी की अनास्था पर एक दृष्टान्त** – एक अमीर पुरुष रोगी हो जाय तो उसके आराम के कितने साधन जुटाए जाते हैं, अच्छा हवादार और मनः प्रिय कमरे में आसन बिछाना, कोमल पलंग गद्दे रोज-रोज कपड़े धुलकर बिछाए जाएँ, दो चार मित्र जन उसका दिल बहलाने के लिए उपस्थित रहा करे, समय समय पर डाक्टर वैद्य लोग आकर उसकी सेवा किया करे, एक दो नौकर और बढ़ा दिय जाये, कितने साधन हैं इतने आराम के साधन होने पर भी क्या रोगी यह चाहता है कि ऐसा ही पलंग मेरे पड़ने

को रात दिन मिला करे, ऐसा ही आराम रोज-रोज मुझे मिलता रहे? जब कोई पुरुष बिमार हो जाता है तो उसकी खबर लेने वाले लोग अधिक हो जाते हैं, हट्टे कट्टे में कोई ज्यादा प्रिय बातें नहीं बोलते। बीमार हो जाने पर रिश्तेदार, मित्रजन कुटुम्बीजन बहुत प्रेमपूर्वक व्यवहार करते हैं। इतना आराम होने पर भी रोगी पुरुष तो यह चाहता है कि मैं कब इस खटिया को छोड़कर दो मील पैदल चलने लगूँ। यो ही ज्ञानी वर्तमान संग में आस्था नहीं रखता है।

**ज्ञानी की प्रवृत्ति के प्रयोजन पर एक दृष्टान्त** – यह रोगी दवाई भी सेवन करता है और दवाई समय पर न मिले तो दवाई देने वाले पर झुंझला भी जाता है, दवा क्या देर से लाये? बड़ा प्रेम वह दवाई से दिखाता है, उस औषधि को वह मेरी दवा, मेरी दवा – ऐसा भी कहता जाता है, उसको अच्छी तरह से सेवता है, फिर भी क्या वह अंतरंग में यह चाहता है कि ऐसी औषधि मुझे जीवनभर खाने को मिलती रहे? वह औषधि को औषधि न खाना पड़े इसलिए खाता है, औषधि खाते रहने के लिए औषधि नहीं खाता। ऐसे ही ज्ञानी पुरुष अपने-अपने पद के योग्य विषयसाधन भी करे, पूजन करे, अन्य अन्य भी विषयो के साधन बनाएँ तो वहाँ पर ये ज्ञानी विषयो के लिए विषयो का सेवन नहीं करते, किन्तु इन विषयो से शीघ्र मुझे छुट्टी मिले इसके लिए विषयो का सेवन करते हैं। ज्ञानी की इस लीला को अज्ञानी जन नहीं जान सकते। ज्ञानी की होड़ के लिए अज्ञानी भी यदि ऐसा कहे तो उसकी यह कोरी बकवाद है।

**कर्मबन्ध का कारण** – कर्मबन्ध आशय से होता है। डाक्टर लोग रोगी की चिकित्सा करते हैं, आपरेशन भी करते हैं और उस प्रसंग में कोई रोगी कदाचित् गुजर जाय तो उसे कोई हत्यारा नहीं कहता है, और न सरकार ही हत्यारा करार कर देती है आशय उसका हत्यारा का नहीं था, और एक शिकारी शस्त्र बंदूक लिए हुए बन में किसी पशु पक्षी की हत्या करने जाय, और न भी वह हत्या कर सके तो भी उस सशस्त्र पुरुष को लोग हत्यारा कहते हैं, सरकार भी उसे हत्यारा करार कर देती है। आशय से कर्मबन्ध है, ज्ञानी जीव को अपने किसी भी परिणमन में आसक्ति नहीं है, अहंकार नहीं है। पर्यायबुद्धि सबसे बड़ा अपराध है। जो अपने किसी भी वर्तमान परिणमन में 'यह मैं हूँ' ऐसा भाव रखता है उस पुरुष के कर्मबन्ध होता है, और जो विरक्त रहा करता है उसके कर्मबन्ध नहीं होता है।

**सारभूत शिक्षा** – पूज्य श्री कुन्दकुन्द प्रभु ने समयासार में बताया है और अनेक अघ्यात्म योगियों ने अपने ग्रन्थों में बताया है। जो जीव रागी होता है वह कर्मों से बँधता है, जो जीव रागी नहीं होता है वह कर्मों से छूटता है, इतना जिनागम के सार का संक्षेप है। जिन्हे संसार संकटों से मुक्त होने की अभिलाषा हे उन्हें चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ को भिन्न और मायामय जानकर उनमें राग को त्याग दे। उनमें रूचि करने का फल केवल क्लेश ही है और विनाशीक चीज में ममता बना लेना यह बालकों जैसा करतब है। किसी पानी भरी

थाली में रात के समय चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो तो बालक उस प्रतिबिम्ब को उठाकर अपनी जेब में रखना चाहता है, पर ऐसा होता कहीं है। तब वह दुःखी होता है।

**पर की हठ का क्लेश** – एक बालक ने ऐसा हठ किया कि हमें तो हाथी चाहिए तो बाप न पास के किसी बड़े घर के पुरुष से निवेदन करके हाथी घर के सामने बुला लिया। अब लड़के के सामने हाथी तो आ गया, पर वह हठ कर गया कि मुझे तो यह हाथी खरीद दो। तो उसके घर के बाड़े में वह हाथी खड़ा करवा दिया और कहा, लो बेटा यह हाथी तुम्हे खरीद दिया है, इतने पर भी वह राजी न हुआ, बोला कि इस हाथी को हमारी जेब में धर दो। अब बतावो हाथी को कौन जेब में धर देगा? जो बात हो नहीं सकती उस बात पर हठ की जाय तो उसका फल केवल क्लेश ही है। जो बात हो सकती है, जो बात होने योग्य हो, जिस बात के होने में अपनी भलाई हो उस घटना से प्रीति करना यह तो हितकर बात है, पर अनहोनी को होनी बनाने की हठ सुखदायी नहीं होती है। ज्ञानी पुरुष तो अपने आपको जैसा चाहें बना सकते हैं, इस निर्णय के कारण अपने पर ही प्रयोग करते हैं। किसी परवस्तु में किसी प्रकार की हठ नहीं करते हैं। इस कारण ये अध्यात्मयोगी सदा अंतः प्रसन्न रहा करते हैं।

**किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन् ।**

**स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥४२॥**

**एकान्त अन्तस्तत्त्व की उपलब्धि** – कुछ पूर्व के श्लोको में यह दशार्था था कि जो लोक में उत्तम तत्त्व है, सारभूत वस्तु है वह निज एकान्त में ही प्रकट होती है। निज एकान्त का अर्थ है जिस चित्त में रागद्वेष का क्षोभ नहीं है। ऐसे सर्व विविक्त एक इस धर्मी आत्मा में ही उस तत्त्व का उद्भव होता है। जो लोक में सर्वोत्तम और शरणभूत है अपने आप में ही वह तत्त्व है जिसके दर्शन होने पर संसार के समस्त संकट टल जाते हैं। एक इस अन्तस्तत्त्व के मिले बिना चाहे कितनी ही सम्पदा का संचय हो जाय किन्तु संसार के संकट दूर नहीं हो सकते हैं जिसको बाह्य पदार्थों की चाह है उस पर ही संकट है और जिसे किसी प्रकार की वाञ्छा नहीं है वहाँ कोई संकट नहीं है।

**ज्ञानी के अन्तरंग में साहस** – ज्ञानी पुरुष में इतना महान साहस होता है कि कौसी भी परिस्थिति आए सर्व परिस्थितियों में मेरा कही भी रंच बिगाड़ नहीं है। अरे लोक विभूति के कम होने से अथवा न होने से इन मायामय पुरुषों ने तो कुछ सम्मान न किया, अथवा कुछ निन्दा भरी बात कह दी तो इसमें मेरा क्या नुक्सान हो गया? मैं तो आनन्दमय ज्ञानस्वरूप तत्त्व हूँ, ऐसा निर्णय करके ज्ञानी के अंतः में महान् साहस होता है। जिस तत्त्व के दर्शन में यह साहस और संकटों का विनाश हो जाता है, उस तत्त्व के दर्शन के लिए, उस तत्त्व के अभ्यास के लिए अनुरोध किया गया था।

**विषयोकी अरुचि व स्वसंवेदन** – ज्यो – ज्यो यह ज्ञानप्रकाशमात्र आत्मतत्व अपने उपयोग में समाता जाता है त्यों-त्यों स्थिति होती है कि ये सुलभ भी विषय उसको रुचिकर नहीं होते हैं, और विषयो का अरुचिकर होना और ज्ञानप्रकाशका बढ़ना – इन दोनों में होड़ लग जाती है। यह वैराग्य भी इस ज्ञानसे आगे-आगे बढ़ता है और यह ज्ञान वैराग्यके आगे-आगे बढ़ता है। इस अभीष्ट होड़के कारण इस योगी के उपयोग में यह सारा जगत इन्द्रजालकी तरह शांत हो जाता है। ये केवल एक आत्मलाभकी इच्छा रहती है, अन्यत्र उसे पछतावा होता है, ऐसी लगन जिसे लगी हो मोक्षमार्ग उसे मिलता है। केवल बातोंसे गपोड़ोंसे शान्ति तो नहीं मिल सकती है। कोई एक बाबू साहब मानो बम्बई जा रहे थे। तो पड़ौसी सेठानी, बहुवे आ आकर बाबूजीसे कहती है कि हमारे मुत्राको एक खेलनेका जहाज ला देना, कोई कहती है कि हमारे मुत्राको खेलने की रेलगाड़ी ला देना। बहुतो ने बहुत बातें कही। एक गरीब बुढ़िया आयी दो पैसे लेकर। बाबूजी को पैसे देकर बोली कि दो पैसाका मेरे मुन्ने को खेलने का मिट्टी का खिलौना ला देना। तो बाबू जी कहते हैं कि बुढ़िया माँ मुन्ना तेरा ही खिलौना खेलेगा, और तो सब गप्पें करके चली गयी। तो ऐसे ही जो शान्ति का मार्ग है उस मार्ग में गुप्त रहकर कुछ बढ़ता जाय तो उसको ही शान्ति प्राप्ति होगी, केवल बातोंसे तो नहीं। चित्तमें कीर्ति और यशकी वाञ्छा हो, बड़ा धनी होनेकी वाञ्छा हो, अचेतन असार तत्वो मे उपयोग रम रहा हो वहाँ शान्ति का दर्शन नहीं हो सकता है।

**अन्तस्तत्वके लाभकी स्पृहा** – यह योगी केवल एक आत्मलाभमें ही स्पृहा रखता है, यह एकांत आत्मतत्वको चाहता है और बाह्यमें एकांत स्थानको चाहता है। यहाँ कुछ भी बाह्य प्रयोग क्रियाकाण्ड बोलचाल आना जाना कुछ भी नहीं चाहता है। उसने अपने उपयोग में आत्मतत्वको स्थिर किया है, ऐसे योगीकी कहानी आज इस श्लोक में कही जा रही है कि वे योगी अंतरंग में क्या किया करते हैं?

**ज्ञानी की कृतिकी जिज्ञासा** – यहाँ जीवोंको करने करनेकी आदत पड़ी है इसलिए यह ज्ञानीमें भी करनेका ज्ञान करना चाहता है कि ये योगी क्या किया करते हैं इसका समाधान करनेसे पहिले थोड़ा यह बतायें कि यह अध्यात्मयोगी संत जो इस तत्वके अभ्यासमें उद्यत हुआ है इस योगाभासमें प्राक् पदवीमें क्या-क्या निर्णय अपने समयामे बनाया था? जिस आत्मतत्वकी उसे लगन लगी है वह आत्मतत्व क्या है? वह आत्मतत्व रोगद्वेष आदिक वासनावो से रहित केवल जाननहार रहनेरूप जो ज्ञानप्रकाश है यह आत्मतत्व है। यह ज्ञान प्रकाशरूप आत्मतत्व निर्विकल्प निराकुल निर्वाध है जिसमें कोई प्रकारका संकट नहीं है ऐसा शुद्ध प्रकाश है। यह प्रकाश इस आत्मामें ही अभिन्न रूपसे प्रकट हुआ है। इसका स्वामी कोई दूसरा नहीं है और न इसका प्रकाश किसी दूसरेके अधीन है। यह तत्व इस आत्मामें ही प्रकट हुआ, ऐसे उस ज्ञानामृतका बहुत-बहुत उपयोग



लगाकर योगी पान किया करता था। इसके फलमें अब पूर्ण अभ्यस्त हुआ है। अब ये योगी क्या किया करता है उसके संबंध में जिज्ञासुका प्रश्न है।

**कर्तृत्वबुद्धिका रोग** – करना, करना यही तो एक संसारका रोग है। यह जिज्ञासु रोगकी बात पूछ रहा है कि इस समय कौनसा रोग है, अर्थात् यह क्या करता है, जगत के जीव करनेके रोग में दुःखी है। सब बीमार है, कौनसी बीमारी लगी है? सबको निरखो किसी भी गाँव नगर शहर में नम्बर 1 के घर से लेकर अंतके नम्बर के घर तक देख आओ, सभी कुछ न कुछ बीमार हो रहे हैं, कुछ न कुछ करनेका संकल्प बना हुआ है। ये करनेके आशयकी बीमारीका दुःख भागते जा रहे हैं। क्या उस ही रोग की बातको यह जिज्ञासु पूछ रहा है? कोई एक रूई धुनने वाला था। वह विदेश किसी कारण गया था। वहां से पानी के जहाजसे आ रहा था। तो उस जहाज में मुसाफिर एक ही कोई था और एक यह स्वयं, किन्तु सारे जहाजमें रूई लदी हुई थी। हजारो मन रूई देखकर उस धुनियाके दिलमें बड़ी चोट पहुंची। हाय यह सारी रूई हमको ही धुननी पड़ेगी। बस उसके सिर दर्द शुरू हो गया, घर पहुंचते –पहुंचते तेज बुखार हो गया, कराहने लगा। डाक्टर आए, पर वहां कोई बीमारी हो तो वह ठीक हो। वह तो मानसिक कल्पनाका रोग था। एक चतुर वैद्य आया, उसने पूछा— बाबा जी कहां से तुम बीमार हुए? बोला हम विदेशसे पानीके जहाजसे आ रहे थे, बस वही रास्तेमें बीमार हो गए। अच्छा उसमें कौन-कौन था? था तो कोई नहीं (बड़ी गहरी सांस लेकर कहा) बोला – एक ही मुसाफिर था, मगर उसमें हजारो मन रूई लदी हुई थी। उसकी आह भरी आवाज को सुनकर वह सब जान गया। बोला – अरे तुम उस जहाजसे आए, वह तो आगे किसी बंदरगाहपर पहुंचकर आग लग जानेसे जलकर भस्म हो गया। जहाज और रूई सब कुछ खत्म हो गया। इतनी बात सुनते ही वह चंगा हो गया। तो सब करनेके रोग के बीमार है।

**कर्तृत्वबुद्धिके रोगकी चिकित्साकी चर्चा** – भैया ! कर्तृत्वबुद्धिके रोगसे पैर एक जगह नहीं थम जाते हैं, चित्त एक जगह नहीं लग पाता है, जगत के जीवोंमें पक्षपात मच गया है, यह मेरा है, यह गैर है, ये कितनी प्रकारकी बीमारियां उत्पन्न हो गई हैं। इन सबका कारण कर्तृत्वका आशय है। मैं करता हूँ तो यह होता है, मैं न करूँ तो कैसे होगा? यह नहीं विदित है कि यदि हम ने करेगे तो ये पदार्थ अपने परिणमते रहने के द्रव्यत्वको त्याग देंगे क्या? खैर जिज्ञासुको अधिकार है कैसा भी प्रश्न पूछे। उस प्रश्नका उत्तर यहाँ दिया जा रहा है। कि यह योगी तो अपने उपयोगको जोड़ रहा है और कुछ नहीं कर रहा है। तो जिज्ञासु मानो पुनः पूछता है कि क्या वह योगी अपने बारेमें सुनसान है, कुछ अपने आपका चिन्तन और भान ही नहीं कर रहा है क्या? उत्तर इसीका दिया गया है पूर्व पादमें कि यह अनुभवमें आने वाला तत्व क्या है, कैसा है, किसका है, कहाँ से आया, कहाँ पर

है, इस प्रकारका कोई भी विकल्प वहाँ नहीं मच रहा है, और इसी कारण वह अपने देहको भी नहीं जान रहा है।

**अनात्मतत्त्वके परिज्ञानकी अनपेक्षा** – जिस पुरुषको भेदविज्ञानका उपयोग हो रहा है वह जिससे अपनेको भिन्न करता है उस हेय तत्वको फिर भी जानता ता है भेदविज्ञान अध्यात्ममार्गमें पहुंचनेकी सीढ़ी है जो लाकव्यवहार में चतुर होते हैं वे यह कहते हैं कि अपने खिलाफ यदि किसी ने कुछ कह दिया या कुछ छपा दिया उसका यदि कुछ प्रत्युत्तर दे कोई अर्थ यह है कि उसने उस निन्दा करनेका महत्व आंका और लोग यह समझेंगे कि कोई बात है तब तो इसे उत्तर देना पड़ा। बुद्धिमान पुरुष उसकी और दृष्टि भी नहीं करते हैं। यह मैं शरीर से न्यारा हूँ, ऐसा सोचते हुए यदि शरीर तक ज्ञानमें आए, अथवा कोई परद्रव्य ज्ञानमें आए तो यह उन्नतिकी चीज नहीं है। मैं शरीर में न्यारासे हूँ। जिससे न्यारा तुम अपनेको सोचते हो उनकी वखत तो हमने पहिले कर ली है। यह अध्यात्म मार्गमें चलाने वाले के प्राक्पदवीकी बात कही जा रही है। होता सबके ऐसा है जो शान्तिके मार्गमें बढ़ते हैं। भेदविज्ञान उनके अनिवार्य है, लेकिन भेदविज्ञान की करते रहना, जपते रहना इतना ही कर्तव्य है क्या? नहीं। इससे आगे अभेद उपासनाका कर्तव्य है जहाँ यह ही प्रतीत न हो रहा हो, विकल्प ही न मचता हो कि यह देह है, ये कर्म है, ये विभाव है, इनसे मुझे न्यारा होना चाहिए।

**उपयोगमें परवस्तुका अमूल्य** – कोई धर्मात्मा श्रावक और श्राविका थे। दोनों किसी गाँवको जा रहे थे। आगे पुरुष था, पीछे स्त्री थी। पुरुष आध फर्लाग आगे चल रहा था, उसे रास्तेमें धूल भरी सड़कपर अशर्फियोका एक ढेर दीखा, किसीकी गिर गई होगी। उसे देखकर वह पुरुष यो सोचता है कि इसे धूलसे ढक दे। यदि स्त्री को यह दिख जायगा तो, कही लालच न आ जाय, सो उस अशर्फियोको धूलसे ढांकने लगा। इतने में स्त्री आ गयी, बोली यह क्या कर रहे हो? तो पुरुष बोला कि मैं इन अशर्फियोको धूलसे ढांक रहा हूँ। क्यों? इसलिए कि कही तुम्हारे चित्तमें इनको देखकर लालच न आ जाय? स्त्री बोली – अरे तुम भी बड़ी मूढ़ताका काम कर रहे हो, इस धूलपर धूल क्यों डाल रहे हो। उस स्त्रीके चित्तमें वह धन धूल था, उस पुरुषके उपयोगमें अशर्फी है और स्त्रीके चित्तमें धूल है तो इसमें तो स्त्री का वैराग्य बढ़ा हुआ।

**विकल्पसे अभीष्ट की हानि** – भेदविज्ञान में, जिससे अपने आपको पृथक करनेकी बात कही जा रही है, वहाँ दो चीजें सामने हैं, किन्तु अध्यात्मयोगीको यह गरज नहीं है कि मरी निगाहमें किसी भी रूपमें विराधी तत्व याने परतत्व बना रहे। इस योगीके देहकी बात तो दूर जाने दो, जिस ज्ञानमय तत्वका अनुभवकर रहा है उस तत्वके सम्बंधमें भी यह क्या है, कैसा है, कहाँसे आया है, इतना भी विकल्प नहीं कर रहा है। विकल्प करनेसे आनन्दमें कमी आ जाती है। जैसे आपने कोई बढ़िया मिठाई खायी, मान लो हलुवा खाया ते उसके

सम्बंध में यदि यह ख्याल आए कि यह ऐसे बना है, इतना घी पड़ा है, इतना मैदा पड़ा है, ऐसी बातोंका ख्याल भी करता जाय और खाता भी जाय तो उसके खानेमें आनन्दमें कमी हो जायगी। बड़ी मेहनत से बनाया है तो चुपचाप एक तान होकर उसका स्वाद ले, बातें मत करे, बातें करने से उसके आनन्दमें कमी हो जायगी। बड़े योगाभ्याससे, जीवनभरके ज्ञानार्जन की साधनासे, पुरुषोंकी निष्कपट सेवासे यह तत्वज्ञान इसने पाया है और आज यह निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्व अनुभवमें आ रहा है, आने दो, अब उसके सम्बंधमें कुछ विकल्प भी न करो, विकल्प करोगे तो आता हुआ यह अनुभव हट जायगा।

**विकल्पो का उत्तरोत्तर शमन** – यह योगी अपने अध्यात्मयोग में परायण होता हुआ, किसी भी प्रकारका विकल्प न करता हुआ, अपने देहको भी नहीं जान रहा है। इस जीवके कल्याणमार्गमें पहिले तो औपचारिक व्यवहारका आलम्बन होता है। जब बचपन था तो यह मां के साथ मंदिरमें आकर जैसे माँ सिर झुका दे वैसे ही सिर झुका देता था, उसे तब कुछ भी बोध न था। जब कुछ बड़ा हुआ, अक्षराभ्यास किया, सत्संग किया, ज्ञानकी बात सुननेमें आयी, अब कुछ- कुछ जानतत्वकी और बढ़ने लगा। अब इसे वस्तुस्वरूपका प्रतिबोध हुआ, भेदविज्ञान जगा। इसके पश्चात् जब इस ध्याता योगीके अपने आपमें अभेद ज्ञानानुभूति होती है तब उसके विकल्प समाप्त होते हैं। इससे पहिले विकल्प हुआ करते थे, जैसे-जैसे उसकी उन्नती होती गई विकल्पोका रूपक भी बदलता गया, पर समस्त विकल्प शान्त हुए तो इस ज्ञानतत्वमें शान्त हुए।

**ज्ञानभावकी अभिरसमयता व परभावभिन्नता** – जानने वाला यह ज्ञान इस ही जानने वाले ज्ञानके स्वरूपका ज्ञान करने लगे तब दूसरे वस्तुके छोड़ने को अवकाश कहाँ रहा? ज्ञान ही जानने वाला और ज्ञान ही जाननेमें आ रहा है तब वहाँ तीसरेकी चर्चा कहाँ रही? ऐसी ज्ञानानुभूतिमें किसी भी प्रकारका विकल्प उदित नहीं होता है, वह तो निज शुद्ध आनन्द रसका पान किया करता है। वहाँ ऐसे स्वभावका अनुभव हो रहा है जिसको कहाँसे शुरू करके बताएँ? शुरू बात किसी भी तत्वकी होगी बतानेमें, तो परका नाम लेकर ही हो सकेगा। जिस ज्ञानतत्वके अनुभवमें सम्यग्दर्शन प्रकट होता है वह तत्व परभावसे भिन्न है, परपदार्थों से और परपदार्थों के निमित्तसे जायमान रागादिक भावोंसे भिन्न है।

**आत्मतत्वकी परिपूर्णता** – भैया ! यहाँ उस अनुभवमें आए हुए ज्ञान तत्वकी बात कही जा रही है, परसे भिन्न पर भावोंसे भिन्न है, इसमें यह न समझना कि जितना जो कुछ हम टूटा फूटा ज्ञान किया करते हैं उन ज्ञानों को तो मना नहीं किया, परपदार्थको मना किया और रागादिक भावोंको मना किया। अरे वह आत्मतत्व परिपूर्ण है जिसका अनुभव किया जाना है। यह हमारा ज्ञान तो अधूरा है, यह नहीं है वह तत्व, जिसका अध्यात्मयोगीके अनुभव हो रहा है।

**आत्मतत्त्वकी आद्यन्तविमुक्तता** – यह अन्तस्तत्त्व परभाव भिन्न है वह आपूर्ण है, इतने पर ये निर्णय मत कर बैठना कि जो पर नहीं है, परभव नहीं है ओर पूरा है वह मेरा स्वरूप है। यो तो केवल ज्ञानादिक शुद्ध विकास भी मेरा स्वरूप बन जायेगे। वे यद्यपि स्वरूपमें एक तान हो जाते हैं और मेरे स्वरूपके शुद्ध विकास है, परन्तु केवलज्ञान आदिक विकास सादि है, क्या उनके पहिले मैं न था? स्वरूपका निर्णय तो यथार्थ होना चाहिए, सो यह भी साथ में जानना कि वह आदि अन्तरहित तत्व है जिसका आलम्बन लिया जा रहा है शुद्धनयमें।

**आत्मतत्त्वका एकत्व व निर्विकल्पत्व** – गुरुने शिष्य से पूछा – क्यों ठीक समझमें आ गया, यह शिष्य बोला – हाँ, वह परसे भिन्न है, परभावसे भिन्न है, परिपूर्ण है और शाश्वत है। ये ही तो है ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, आनन्द आदिक गुण। योगी समझता है कि नहीं—' नहीं अभी तूम अनुभवके मार्गसे बिछुड़े जा रहे हो, वह इन नाना शक्तियोंके रूप में नहीं है, वह तो एक स्वरूप है। शिष्य कहता है कि अब पहिचाना है कि ब्रह्मा एक है। तो गुरु कहता है कि ब्रह्मा एक है ऐसा ध्यान तू बनायगा तो तूने अपना आश्रय छोड़ दिया है। तू कही परक्षेत्रमें यह एक है ऐसा विकल्प मचायगा, वहाँ भी इस ज्ञानतत्त्वका अनुभव नहीं ह। समस्त विकल्पजालोको छोड़कर इस तत्त्वका तू अनुभवमात्र कर । इसके बारेमें तू जीभ मत हिला। जहाँ कुछ भी जीभ हिलायी, प्रतिपादन करने को चला कि तेरा यह आनन्द रसज्ञानानुभव सब विघट जायगा।

**नयपक्षातीत स्वरूपानुभव** – यह योगी योगे में परायण होता हुआ अपने देह तक को भी नहीं जान रहा है। वह तो परम एकाग्रतासे अपने अकिञ्चन शुद्ध स्वरूपका ही अवलोकन कर रहा है। जो अपनी इच्छासे ही उछल रहे, जो अनेक विकल्पजाल तत्त्वज्ञानके सम्बन्धो भी हो रहे हैं, जिससे नय पक्षकी कक्षा बढ़ रही है उनका ही उल्लंघन करके निज सहजस्वरूपको देखता है, जो सर्वत्र समतारससे भरा हुआ है, उसे जो प्राप्ता करता है वह योगी है, धर्ममय है। अपनी समस्त शक्तियो इधर उधर न फैलाकर अपने आपके सहज स्वभावमें केन्द्रित करके अपने उपयोगको एक चिन्मात्र स्वभावमें स्थिर कर देता है वहाँ हेय और उपादेय का कोई भी विकल्प उत्पन्न नहीं होता है।

**उपयोगकी अन्तर्मुखता एवं आनन्द** – जैसे यह उपयोग बाहरमें जाया करता है वैसे ही इसको क्या अपने आपमें लाया नहीं जा सकता है? जो उपयोग बाहरी पदार्थों के जानने में सुभट बन रहा है वह क्या अपने आपके स्वरूपको जाननेमें समर्थ नहीं हो सकता है? परपदार्थों में हित बुद्धिको छोड़कर अपने आपमें विश्राम लेकर अपनेको जाने तो वहाँ वीतराग भावका रसास्वादन हो सकेगा। योगी इसी परमतत्त्वका निरन्तर आनन्द भागता रहता है।

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रति ।

यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ।।43।।

**उपयोगानुसारिणी वासना** – जो जीव जहाँ रहता है उसकी वही प्रीति हो जाती है और जहाँ प्रीति हो जाती है वहाँ ही वह रमता है फिर वह अपने रम्यापदसे अतिरिक्त अन्यत्र कही नहीं जाता है। आत्मामें एक चारित्रगुण है। वस्तुतः आत्मामें गुण भेद है नहीं, किन्तु आत्मा यथार्थ जैसा है उसका प्रतिबोध करने के लिए जो कुछ विशेषताएँ कही जाती हैं उनको ही भेद कहा करते हैं। वैसे तो किसी पदार्थका नाम तक भी नहीं है। किसीका नाम लेकर बतावो, जो नाम लोगे वह किसी विशेषताका प्रतिपादन करने वाला होगा।

**वस्तुके यथार्थ परिपूर्ण स्वरूपकी अवक्तव्यता** – भैया ! शुद्ध नाम किसीका है ही नहीं। व्यावहारिक चीजोंका नाम लेकर बतावो आप कहेंगे चौकी। चौकी नाम है ही नहीं। जिसमें चार कोने होते हैं उसे चौकी कहते हैं यो इसकी विशेषता बतायी है, चौकी नाम नहीं है। घड़ा जो यंत्रों में मशीनमें घड़ा जाय उसका नाम घड़ा है। शुद्ध नाम नहीं है। शुद्ध नामके मायने यह है कि उसमें विशेषका वर्णन करने वाला मर्म न हो। चटाई – चट आई सो चटाई। यह भी उसके गुणका नाम है, उसका नाम नहीं है। सब विशेषतावोके शब्द हैं। दरी-देरसे आए तो दरी यह भी उसके गुणका नाम है उसका नाम नहीं है। किवार – किसीको वारे अर्थात् रोक दे उसका नाम किवार। यह भी शुद्ध नाम नहीं। क्षत – जिसको खूब पीटा जाय उसका नाम क्षत है, यह भी शुद्ध नाम नहीं है। जीव – जो प्राणो से जीवे सो जीव। यह भी शुद्ध नाम कहाँ रहा? आत्मा – जो निरन्तर जानता रहे उसका नाम है आत्मा। कहाँ रहा उसका नाम विशेषता बतायी है। ब्रह्मा – जो अपने गुणो को बढ़ाने की और रहा करे उसका नाम ब्रह्मा है।

**वस्तुकी अभेदरूपता** – वस्तुका गुणभेद नहीं है। प्रत्येक पदार्थ जिस स्वरूपका है उस ही स्वरूप है, लेकिन प्रतिबोध किया कराया जा सकता है। उसका प्रतिबोध व्यवहारसे, भेदवादसे ही किया जा सकता है। व्यवहार ही अर्थ भेद है। जो किसी चीजका भेदकर दे उसका नाम व्यवहार है। तो आत्मा एकस्वभावी है, पर उसकी विशेषताएँ जब बतायी जाती हैं तो कहा जाता है कि यह जानता है इसमें ज्ञानगुण है। यह कही न कही रमता है, यह चारित्रगुण है। जीवमें यह प्रकृति पड़ी है कि वह किसी न किसी और रमा करे। सिद्ध हो, परमात्मा हो, योगी हो, श्रवाकहो, कीड़ा मकोड़ा हो, जो भी चेतन है उसमें यह परिणति है कि कही न कही रमा करे। अब जहाँ औपाधिकता लगी है वहाँ परभावमें लगेगा। जहाँ निरुपाधिता प्रकट होती है वहाँ शुद्ध स्वभाव में रमेगा, पर रमनेकी इसमें प्रकृति पड़ी है।

**बहिर्मुखता का संकट** – यह जीव अपने उपयोग से जहाँ रहता हुआ ठहरता है उसका उस ही में प्रेम हो जाता है। इस जीवपर सबसे बड़ी विपदा है बहिर्मुखताकी। यह जीव अपने आनन्दधाम निज स्वरूपमें विश्राम न लेकर बाह्य परतत्वोंमें, परपदार्थोंमें जो रूचि

रखता है, परपदार्थों से मेरा हित है, बड़प्पन है ऐसी जो प्रतीति रखता है उसके जीवपर महासंकट है, परन्तु मोही प्राणी मोहमें इस संकटको ही श्रृंगार समझते हैं। पागलपन इसीको ही तो कहते हैं कि दुनिया तो हँसे ओर यह उस ही में राजी रहे। ज्ञानी जन तो हँसे, जो पागल नहीं है वे तो मजाक करें अथात् उन्हें हेय आचरणसे देखें और एक पागल उस धुनमें ही मस्त रहे। यहाँ जितने भी मोहमत्त जीव है वे सब उन्मत्त ही तो हैं। जो ज्ञानी पुरुष है, विवेकी है वे इसकी मोह बुद्धिपर हास्य करते हैं। कहाँ रम गया है, कहाँ भूल पड़ गयी है, और यह मोही पुरुष उन ही विषयोंमें रमता है। क्या करे यह मोही प्राणी जब उस निर्मोहताका आनन्द ही नहीं मिल सका, अपने आपमें ज्ञानका पुरुषार्थ हीनही कर पा रहा है तो यह कही न कही तो रमेगा ही। रमेगा विषयोंमें तो वह विषयोंमें ही प्रीति रखेगा। और उन विषयों के सिवाय अन्य जगह जायगा नहीं। इसे ज्ञान ध्यान तप आदि शुभ प्रसंग भी नहीं सूझेगे।

**धर्मपालकी निष्पक्ष पद्धति** – आत्मका हित, आत्माक धर्म, जिसको पालन करनेसे नियमसे शान्ति प्राप्त होगी वह धर्म कही बाहर न मिलेगा। कोई निष्पक्ष बुद्धिसे एक शान्ति का ही उद्देश्य ले ले और विशुद्ध धर्मपालन करनेकी ठान ले तो वह सब कुछ अपने ज्ञानस्वरूपका निर्णय कर सकता है। कभी यह धोखा हो कि सभी लोग अपने-अपने मजहबकी गाते हैं, कहाँ जाकर हम धर्मकी बात सीखें? जिस कुलमें जो उत्पन्न हुआ है वह उस ही धर्म की गाता है। जो जिस कुलमें, धर्ममें उत्पन्न हुआ वह रूढ़िवश उसी धर्म और कुलकी गाता है पर कहाँ है धर्म, किस उपायसे शान्तिका मार्ग मिल सकेगा? संदेह हो गया हो और संदेह लायक बात भी है। अपने – अपने पक्षकी ही सब गाते हैं, संदेह होना किसी हद तक उचित ही है। ऐसी स्थितिमें एक काम करे। जिस कुलमें, जिस धर्ममें आप उत्पन्न हुए हैं उसकी भी बात कुछ मत सोचे, जो कोई दूसरे धर्मकी बात सुनाता हो उनको भी मत सुने। पर इतनी ईमानदारी अवश्य रखे, इतना निर्णय कर ले कि इस लोक में जो समागम मिले हैं धन वैभव, स्वजन, मित्रजन, ये सब भिन्न हैं और असार हैं, इतना निर्णय तो पूर्ण कर ले। इसमें किसी मजहबकी बात की आयी, यह तो एक देखी और अनुभव की हुई बात है।

**उदासीनतामें अन्तस्तत्वका सुगम दर्शन** – धन, कुटुम्ब, घर, इज्जत, ये सब चीजे चंद दिनोकी बाते हैं, मायामयी हैं। सदा रहना नहीं है, मरने पर ये साथ निभाते नहीं हैं और जीवोके भी ऐसे अनुभव हैं कि जो कुछ मिला है वह सिद्धि करने वाला नहीं है। इन सब अनुभवोके आधारपर इतना निर्णय करलें कि समस्त परपदार्थ मेरे हितरूप नहीं हैं, न्यारे हैं, उनका परिणामन मुझमें हो ही नहीं पाता। ऐसा निर्णय करनेके बाद किसी भी धर्म, किसी भी पक्ष मजहबकी बात ने सुनकर बस आरामसे कुछ क्षणके लिए बैठ जाँएँ। कुछ नहीं किसीकी सुनना है, सब अपनी-अपनी गाते हैं। हम कहाँ सच्चाई ढूँढने के लिए दिमाग

लगाएँ? इस कारण समस्त परको उपयोगसे हटाकर विश्राम पाये तो परमतत्व स्वयं दृष्ट हो जायगा।

**दुर्लभ अल्प जीवनका सदुपयोग** – भैया ! जीवन थोड़ा है, कुछ वर्षोंकी जिन्दगी है। हम बड़े-बड़े शास्त्रसिद्धान्तोंको जाने तो 10-5 वर्ष तो भाषा सीखने में ही लगेंगे, और फिर एकसे एक बड़े घुरन्धर शब्द शास्त्रके विद्वान पड़े हैं। उनमें भी कोई कुछ अर्थ लगाते हैं, कोई कुछ अर्थ लगाते हैं, कोई कुछ। तो हमे किसीकी नहीं सुनना है, किसीकी नहीं मानना है, परम विश्रामसे बैठे, ईमानदारीमें रंच भी बाधा मत डालें। समस्त परद्रव्य भिन्न है, कोई मेरा अहित नहीं कर सकते। इस निर्णयको रंच भी न भूलें। यदि किसी परपदार्थमें हितबुद्धि की तो अपने आपके बल से धर्मका पता लगानेका कोरा ढोंग ही है इतना निर्णय हो तब अपने आप स्वयंके विश्रामसे स्वयंमें वह ज्ञानज्योति प्रकट होगी जो निष्पक्ष सब समाधानोंको हल कर देगी।

**ज्ञानमयकी अनुभूतिमें आनन्दविकास** – न होता यह मैं ज्ञानमय तो जान कहाँसे लेता? जो पदार्थ ज्ञानमय नहीं है वह कदाचित् जान ही नहीं सकता है। ऐसा कोई भी उदाहरण दो कि अमुक पदार्थ है तो ज्ञानरहित, पर जान रहा है। नहीं उदाहरण दे सकते। जो ज्ञानमय है, ज्ञानघन है वही जाननहार बन सकता है। यह मैं आत्मा ज्ञानमय हूँ और ज्ञान करना है यथार्थ धर्मका। तो जिसके जाननेका स्वभाव है वह जानेगो ही, वही बात जो यथार्थ है, हाँ रागद्वेष मोहका पुट होगा, श्रद्धा विपरीत होगी तो यह ज्ञानकला विफल हो जायगी पर श्रद्धा यथार्थ हो, परपदार्थों से अलगाव हो तो यह ज्ञान सही काम करेगा, तब अपने आपके ज्ञान द्वारा ही यह ज्ञानस्वरूपका अभ्यास करने लगेगा, और उस स्थिति में अद्भूत आनन्द प्रकट होगा।

**मनोविनयसे आनन्दका उद्यम** – जो आनन्द ज्ञानानुभूतिमें होता है वह आनन्द भोजन पानकी समृद्धि में नहीं मिलता, क्योंकि उस प्रसंगमें विकल्पजाल निरंतर बने रहते हैं। एक ग्रास मुँहमें से नीचे गया, झट दूसरे ग्रासकी कल्पना हो उठती है, यह कल्पनावोकी मशीन बहुत तेजीसे चलती रहती है। एक क्षणमेंही कितनी ही कल्पनाएँ कर डालते हैं और यह उपयोग कितनी जगह दौड़ आता है, बड़ी तीव्र गति है इस मनकी। इस मनका नाम किसी ने अश्व रक्खा है। अश्व उसे कहते हैं जो आशु गमन करे, जो शीघ्र गमन करे। नाम किसीका कही नहीं है। इस मनका नाम अश्व है। किसी जमानेमें लोगोंने अलंकार में मनोविजयका नाम अश्वमेघ यज्ञ रख दिया होगा, इस मनको वशमें करके जहाँ एक आध क्षण विश्राम लिया जाता है तो उसे बड़ा अद्भूत आनन्द प्रकट होता है। बस उसमें सब निर्णय हो जाता है कि हमको क्या करना है? शान्ति के लिए बस ज्ञाताद्रष्टा रहना, रागद्वेष रहित बनना, यही एक धर्मका पालन है।

**ज्ञानियोका आराध्य** – भैया ! अब सुनिये व्यवहार की बात। हम किसे पूजे, किसे माने? अरे जो अपूर्व ज्ञानप्रकाश और शुद्ध आनन्दका अनुभव किया था, यह तो करना है ना, यही तो धर्म है ना, यह बात जहाँ सातिशय प्रकट हो वही इसका आराध्य हुआ, कहाँ झंझट रहा, नामपर दृष्टि मत दो, स्वरूपपर दृष्टि दो। नामके लिए चाहे जिन कहो, चाहे शिव कहो, ईश्वर कहो, ब्रह्मा कहो, विष्णु बुद्ध, हरि, हर इत्यादि कुछ भी कहो, ये सब स्वरूपके नाम है। स्वरूप जहाँ सातिशय ज्ञान और सातिशय आनन्दको पाये वही हमारा आदर्श है। हमें क्या चाहिए? वही जो अभी अनुभवन में लाया था। परपदार्थ से दृष्टि हटाकर क्षणिक विश्राम लेकर जो हमने अनुभव किया था वही मुझे चाहिए। इतनी अध्यात्मदृष्टि न रहेगी तो बाहर में यह अनुभवी पुरुष उस ही स्वरूपकी शरण जायगा जहाँ यह शुद्ध पूर्ण प्रकट हुआ है और शुद्ध आनन्द पूर्व विकसित हुआ है। बस नामकी दृष्टि तो छोड़ दो और स्वरूपको ग्रहण करलो।

**व्यवहारभक्तिमें आश्रयका प्रयोजन** – व्यवहार में नामका आश्रय इसलिए लिया जाता है कि हम कुछ जाने तो सही कि ऐसा भी कोई हो सका है क्या? या हम ही कोरी कल्पना बना रहे है, उसके निर्णयके लिए नाम लिया जाता है, ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ, रामचंद्र, महावरी, हनुमान, लेते जावो नाम, जो जो भी निर्वाण पदको प्राप्त हुए उनका नाम किस लिए लेते है, यह कर्म देखनेके लिए कि हम ऐसा बन सकते है यह कोरी गप्प तो नहीं है। ये-ये लोग निर्वाणको प्राप्त हुए है- ऐसा अपनेमें निर्णय बनाने के लिए नाम लिया जाता है, पर नाममें स्वरूप नहीं है, स्वरूप तो स्वरूपके आधारमें है जो पुरुष इस स्वरूपमें बसता है, अपने उपयोगको टिकाता है वह इस स्वरूपमें ही प्रेम करेगा, वही वही सर्वत्र उसे दिखेगा। कामी पुरुष को सर्वत्र कामिनी और रूप और ऐसे ही विषय दिखते है क्योंकि उसका उपयोग उसीमें बस रहा है। तो योगियोको दर्शन सर्वत्र उस योग-योगका ही होता है।

**आशयके अनुसार दर्शन** – जो पुरुष ईमानदार है, सत्य बर्ताव और सत्य आशय रखता है उसे दूसरे जीवके प्रति यह छली है अथवा किसीको पीडा करने वाले विचारका है, इस प्रकार विश्वास नहीं होता है। सहज तो नहीं होता है। कोई घटना आ जाय ऐसी तब वह ख्याल करता है, ओह! यह ठीक कह रहा था, यह ऐसा ही है। जो धूर्त है, झूठा है, दगाबाज है उसे और लोगो पर ये सच्चे है ऐसा विश्वास नहीं होता है। सहज नहीं होता। बहुत दिन रम जाय, रह जाय, घटनाएं घटे तो यह विश्वास करता है। जो जिस भावमें रहता हुआ ठहरता है वह उस भावमें ही प्रीति करता है। विषयोमें रमनेवाले व्यामोही पुरुषकी विषयोमें ही प्रीति रहती है और विषयोसे अतिरिक्त कोई धार्मिक प्रसंग मिल जाय तो वहाँ घबड़ाहट पैदा होती है। कभी – कभी पूजा और विषयोसे अतिरिक्त कोई धार्मिक प्रसंग मिल जाय ता वहाँ घबड़ाहट पैदा होती है। कभी – कभी पूजा करनेमें, दर्शन करनेमें कितने उद्वेग रहते है? झट बोले, जल्दी करे, क्योंकि उपयोग दूसरी जगह रम रहा है। यहाँ



मन नहीं लगता है और ज्ञानी जीवको व्यवसाय, दुकान, व्यवहार इनमें मन नहीं लगता है। यह जल्दी समय निकल जाय, दर्शनका, प्रवचनका, वाचनका, जल्दी छुट्टीमिले इसके लिए अज्ञानी अपनी तरस बनाता है। जो जहाँ रहता है उसको उसहीमें प्रीति होती है। यही देखा— जो मनुष्य जिस नगर में, जिस शहर में, जिस गाँव में रहता है उसका प्रेम वहाँके मकान आदिसे हो जाता है। जिस टूटे फूटे मकान में रह रहे हैं, उसकी एक—एक इंच भूमि और भीतं यें सब कितने प्रिय लग रहे हैं, और पास ही में किसी की अट्टालिका खड़ी है तो उससे प्रीति नहीं रहती । यह सब उपयोग में बसनेकी बात प्रभाव है।

**आत्मीयकी प्रियता** – किसी सेठने एक नई नौकरानी रक्खी, सेठानीका लड़का एक स्कूलमें पढ़ता था, उस नौकरानीका लड़का भी उसी स्कूल में पढ़ता था। सेठानी रोज दोपहर को खाने को एक डिब्बेमें कुछ सामान रखकर अपने लड़केको दे देती थी पर एक दिन देना भूल गयी। सो सेठानीने नौकरानीसे खानेका सामान लड़के को दे आने के लिए कहा। वह बोली कि मैं अभी तुम्हारे लड़के को नहीं पहिचानती तो सेठानी अभिमानमें आकर बोली कि हमारे लड़के को क्या पहिचानना है? जो लड़का सब लड़को में सुन्दर हो वही हमारा लड़का है। सम्भव है कि ऐसा ही रहा हो । वह नौकरानी वह सामान लेकर स्कूल पहुंची तो वहाँ उसे अपने लड़के से सुन्दर कोई लड़का न दिखा। सो उसने अपने ही बच्चे को सारी मिठाई खिला दी और घर वापिस आ गई। शाम को जब वह लड़का घर आया तो माँ से बोला कि आज तुमने हमें खाने को कुछ भी नहीं भेजा, सो माँ कहती है कि मैंने नौकरानी के हाथ भेजा तो था। नौकरानी को बुलाकर पूछा कि हमारे बच्चे को खाने को सामान नहीं दिया था क्या ? तो नौकरानी बोली कि दिया तो था। तुमने ही तो कहा था कि स्कूल में जो सबसे अच्छा बच्चा हो, वही हमारा बच्चा है, सो मुझे तो सबसे अच्छा बच्चा मेरा ही दिखा तो उसी को मिठाई देकर मैं चली आयी। यही है सब मोहियों की दशा।

**बाधक से मधुर भाषण बाधकता के विलय का कारण** – अरे तुम ही हमारी शरण हो, तुम ही सबसे प्यारे हो, ऐसे दो चार शब्द ही तो बोल देना है, फिर तो जी जान लगाकर वह आपकी सेवा करेगा। कितनी मोह की विचित्र लीली है? इतने पर भी इतना नहीं किया जा सकता है कि मधुर शब्द बोल दे। मधुर वचन बोलने में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द मिलेगा, संकट न रहेंगे, लेकिन जिसपर मोह है उसके प्रति तो मधुर वचन बोले जा सकते हैं और जहाँ मोह नहीं है वहाँ मधुर वचन बोलना कुछ कठिन हो जाता है और जिन्हे अपने विषयसाधनों में बाधक मान लिया उनके प्रति तो मधुर बोल बोल ही नहीं सकते। यदि उनसे भी मधुर वचन बोल ले तो बाधक बाधकता को त्यागकर साधक बन सकते हैं, पर इतना इस मोही पुरुष से नहीं हो पाता है।

**अध्यात्मरुण कल करण** – प्रकरण में यह कहा जा रहा है कि जो जहाँ ठहरता है वह उस ही में प्रीति करता है, और उनमें ही सुख की कल्पना करके बार-बार भक्ति का यत्न करता है और आनन्दधाम जो निस्वरूप है उसकी और झांककर भी नहीं देखता है। लेकिन जब दृष्टि बदल जाती है, अध्यात्म में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है तब बाह्य पदार्थों से हटकर एक निज शुद्ध स्वरूप की ओर ही रति हो जाती है। तब चिन्तन और मनन के अभ्यास के बाद सहज शुद्ध आनन्द का अनुभव होने लगता है। अब उसे बाह्यपदार्थ रंच भी रुचिकर नहीं रहते हैं। क्या वजह है कि यह योगी अपने में ही रम रहा है और बाहर में नहीं रमना चाहता? इस प्रश्न का उत्तर इस श्लोक में दिया है। जिसे अपने स्वरूप में ही रति है वह वही रहकर आनन्द पाया करता है।

अगच्छंस्तद्विशेषणामनभिज्ञश्च जायते।

अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्धयते न विमुच्यते ॥44॥

विशेषों के अनुपयोग से बन्धन का अभाव – जिस मनुष्य का उपयोग जिस विषय में चिरकाल तक रहता है उसकी उस विषय में ही प्रीति हो जाती है, फिर वह पुरुष उस ही में रमता है। उस विषय के सिवाय अन्य किसी भी जगह उसका चित्त नहीं जाता है। जब उसकाचित्त किसी अन्य विषय में नहीं जाता है तो उन विषयों की विशेषताओं का भी वह अनभिज्ञ रहता है। विशेषताएँ क्या हैं यह वस्तु सुन्दर है, यह असुन्दर है, इष्ट है, अनिष्ट है, मेरा है, तेरा है आदि जो विशेषताओं की सतरंगें हैं वे कहाँ से उठें? जब उस विषय के सम्बन्ध में उपयोग दिया ही नहीं जा रहा है तो वे विशेष कहाँ से उत्पन्न होंगे। जब वे विशेष उत्पन्न नहीं हुए अर्थात् परपदार्थ के सम्बन्ध में इष्ट अनिष्ट भावना न हुई तो यह जीव बँधता नहीं है बल्कि बात्मसंयम होने के कारण मुक्त हो जाता है।

स्नेह का गुप्त, विलक्षण, दृढ़ बन्धन – लोक में भी देख लो, जिसको इष्ट माना उसी का बन्धन लग गया। आप सब यहाँ बैठे हैं, प्रदेशों में न घर बँधा है, न स्वजन परिजन बँधे हैं, सब पदार्थ अपने अपने स्थान में हैं, लेकिन चित्त उनमें है, उनका स्नेह है तो आप घर छोड़कर नहीं जा सकते। यह बन्धन कहाँ से लग गया? न कोई रस्सी का बँधन है, न सांकल का बन्धन है, न कोई पकड़े हुए है। यह ही खुद स्नेह परिणमन से परिणमकर बँध जाता है। इस पदार्थ का विशेष ज्ञान न हो तो स्नेह क्यों होगा, चारुदत्त सेठ जब लोकव्यवहार की बातों से परे रहता था, उसकी निष्काम प्रवृत्ति थी विवाह हो जाने पर भी वह अपने केवल धर्मसाधना में ही रहता था। तब परिवारने चिंता की यह तो घर में रहते हुए भी विभक्त है, ऐसे कैसे घर चलेगा तो उपाय रचा। वह उपाय क्या था, किसी से स्नेह का परिणमन तो आ जाय। न घर में सही, पर एक वह प्रगति तो बन जाय कि यह स्नेह करने लगे। उपाय ऐस ही किया। वैश्या की गली में से उसका चाचा

चारुदत्त को साथ लेकर गया। पहिले से ही प्रोग्राम था। सामने से कोई हाथी छुड़वाया गया। उससे कैसे बचें सो एक वैश्या के घर वे दोनों चले गए। जान तो बचाना था। वहाँ जाकर शंतरंज आदि खिलवाया और जो जो कुछ खटपट है उनमें भुलाया। यह चतुर था, यह भी खेल में शामिल हो गया। बस स्नेह का बंधन बँध गया। सबसे बड़ा बन्धन है स्नेह के बन्धन से जकड़ देना।

स्नेह बन्धन में विडम्बनाये – एक दोहा में कहते हैं – **हाले फूले वे फिरै होत हमारो व्याव। तुलसी गाय बजाय के देत काठ में पाव ।** केवल एक विवाह की बात नहीं है। किसी से किस ही प्रकार स्नेह का बन्धन हो जाय तो वह जीवन में शल्य की तरह दुःख देता है। परिचय हो गया ना अब। बोलचाल रहन-सहन सब होने से स्नेह बन गया। अब इस मोही की दृष्टि में जगत के अन्य जीव कुछ नहीं लगते और ये एक दो जीव इसके लिए सर्व कुछ है। घर का आदमी जिससे बन्धन है, बीमार पड़ जाए तो करजा लेकर भी उसका उपचार करता है। घर को तो सब लगा ही देगा और कदाचित् कोई पड़ौसी बीमार हो जाए तो कुछ भी लगा सके ऐसी हिम्मत भी नहीं कर पाता। कोई धर्मात्मा बीमार हो जाय तो उसके लिए कुछ भी नहीं है। यदि कुछ थोड़ा बहुत लगाया जाता तो लोकलाज से, पर जैसे भीतर से एक रूचि उत्पन्न होकर घर वाले की सेवा की जाती है इस प्रकार अंतरंग से रूचि उत्पन्न होकर किसी धर्मात्माजनों की सेवा की जा सके, ऐसा नहीं हो पाता है। ये सब मोह के नचाये हुए कहाँ-कहाँ क्या-क्या नाच नचते हैं? रहना कुछ नहीं है साथ में। चंद दिनों की चाँदनी है, छोड़ना सब कुछ पड़ता है, पर उन ही चंद दिनों में ऐसी वासना बना लेते हैं कि भव-भव में क्लेश भोगने पड़ते हैं।

**आत्मगुणानुराग में बाह्य का अनुपयोग** – जो मनुष्य जिन पदार्थों के चिन्तन में तन्मय हो जाता है उसे तो उसमें गुण दीखते हैं और उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थ के गुण नहीं दीखते, न दोष दीखते, हित अहित किसी भी प्रकार से ज्ञान नहीं रहता, इसी कारण अन्य से सम्बन्ध नहीं रहता है। ज्ञानी पुरुष को ऐसे ज्ञानप्रकाश का अनुभव होता है कि उसका चित्त अब किसी भी बाह्य विषय प्रसंग में नहीं लगता । जैसे मोही जीव विवश है ज्ञान और वैराग्य में मन लगाने को, इसी प्रकार ज्ञानी जीव विवश है विषय प्रसंगों में चित्त लगाने की।

**गुणों को आत्मवास देने की प्रभुता** – एक काव्य में मानतुंग स्वामी ने कहा है कि हे भगवान ! आप में सब गुण समा गये। सारे गुणों ने आपका ही आश्रय लिया। सो हमें इसमें तो कुछ आश्चर्य नहीं लगता है। उन गुणों ने हम सब जीवों के पास वास करने के लिए आ आकर कहा कि हमें जरा स्थान दे दो, तो हम सबने उन गुणों को ललकारा। हटो जावो के पास वास करने के लिए आ आकर कहा कि हमें जरा स्थान दे दो, तो हम सबने उन गुणों को ललकारा। हटो जावो यहाँ से । वे सारे गुण क्या करें, झक मार कर आपके

पास आ गए। हमें इसमें कोई अचरज नहीं होता। इसका प्रमाण यह है कि दोषो ने हम लोगो के पास आ आकर थोड़ी भी मिन्नत की कि थोड़े दिनों को हमको भीस्थान दे दो। तो हम सबने स्थान देने के लिए होड़ मचा दी। आवो सब दोष, तुम्हारा ही तो घर है। खूब आराम से रहो, तुमसे ही तो हम मौज से रहते है। तुम्हारी ही वजह से तो हमारी बनती है। जब सब दोषो को हम लोगो ने स्थान दिया तो एक भी दोष आपके पास आ सके क्या? आप में एक भी दोष नहीं आ सके, क्योंकि सब दोषो को हम लोगो ने बड़ा स्थान दिया। उससे शिक्षा यह लेनी है कि स्थान तो हमारे दोष और गुणो को बिराजने के योग्य है। अब हम ऐसा विवेक करें कि जिसको स्थान देने में शान्ति संतोष हो सकता हो उन्हे स्थान दे।

**दोषवाद से लाभ का अभाव** – भैया ! लोगो मे प्रकृति दूसरो की निन्दा करने की हो जाती है, उनके प्रति देखो – दूसरो की निन्दा कर करके वे कुछ मोटे हो गए या चारित्रवान हो गए, या कर्म काट लिए, बल्कि बात उल्थी हुई, दोषमय हो गये वे, क्योंकि दोषो में उपयोग लगाये बिना दोषो का कोई बखान कर नहीं सकता। जब दोषो में उपयोग लगाया तो उपयोग देने वाला सदोष हो गया। जब यह सदोष हो गया तो उससे उन्नति की कहाँ आशा की जा सकती है। कुछ अपनी प्रगति बनाएँ, जिन जीवों के दोष बखानने की रुचि है उनके तो कषायो से बढ़कर भी मोह का पाप समाया हुआ है। किसी का दोष खुद अपनी दृष्टि बुरी बनाए बिना बखान किया नहीं जा सकता है। यदि अपनी रक्षा रखने के लिए अथवा अपने परमस्नेही किसी बन्धु की रक्षा करने के लिए किसी के दोष बताने पड़े और उसे कठिन अवसर समझा जाय कि बताये बिना काम न चलेगा, नहीं तो हमारे ये मित्र जो हमारी धर्मसाधना में सहायक है इनको धोखा हो जायगा। वे अपनी व धर्म मित्र की सुरक्षा के लिए दोष बता सकते है, अमुक मे ऐसा दोष है, उसके संग से लाभ न होगा, पर जिसकी प्रकृति ऐसी है कि कोई अवसर नहीं है, कोई बात नहीं फंसी है कि कहना ही पड़े और एक को नहीं अनेक को, जिस चाहे को, जो मिले उसी को दोष बखानने की प्रवृत्ति हो, यह कषायो के अभिप्राय बिना नहीं हो सकता। इससे उसको लाभ क्या मिला? कुछ नहीं। जिसमे लाभ मिले वह काम करने योग्य है। कुछ आत्मा का लाभ मिल जाता हो तो दोष ही बखानते रहे, पर लाभ दोष बखानने से नहीं मिलता, किन्तु अपने को गुणरत करने से मिलता है।

**भली प्रतिक्रिया** – यदि किसी के प्रति कुछ ईर्ष्या भी हो गई हो तो उसका बदला दोष बखानना नहीं है, किन्तु स्वयं गुणी हो जाय और धर्मात्मा बन जाय तो उससे बढ़कर यह स्वयं हो जायगा, यही भली प्रतिक्रिया है। किसी भी परवस्तु में दोष देखने की आदत अपने भले के लिए नहीं होती है, गुण देखने की आदत अपने भले के लिए होती है। जगत में सभी जीव है, सबमें दोष है, सबमें गुण है, पर उन दोष और गुणो में से गुणो पर दृष्टि

न जाय, दोषो पर ही दृष्टि जाय तो ऐसी वृत्ति और भी अनेक छोटे मोटे कीड़े मकोड़ो में भी होती है। जोंक गाय के स्तन में लग जाय तो दूध को ग्रहण नहीं करती है, खून को ही ग्रहण करती है और उसमें भी अच्छे खून का ग्रहण नहीं करती किन्तु खोटे गंदे खून का ही ग्रहण करती है। हम ऐसी आदत क्यो व्यर्थ में बनाएँ, हमको क्या पड़ी है इसकी?

**स्नेह बन्धन** – जब यह चित्त नहीं भ्रमता बाह्य पदार्थों में, विशेषतावो का विस्तार नहीं बनाता तब यह जीव बँधता नहीं है। स्नेह ही विकट बन्धन है। मोह मय जगत में मोहमय स्नेह की तारीफ की जाती ह, किन्तु अध्यात्म जगत में स्नेह को बन्धन बताया गया है। आत्मज्ञ योगी जिस समय ज्ञानमात्र निज अंतस्तत्त्व में रत होता है उसकी प्रवृत्ति शरीरादि बाह्य पदार्थों में नहीं होती है। उन्हें बाह्य में अच्छे बुरे का ज्ञान भी नहीं रहता। इष्ट अनिष्ट संकल्प विकल्प न होने से रागद्वेष रूप परिणति नहीं होती। हम यह न सोचे कि यह साधु संतो के करने योग्य बात गृहस्थावस्था में क्यो जानी जाय ? यहाँ यह भावो का सौदा इस ही प्रकार का है। ऊँचा भाव बन गया, ऊँची दृष्टि बन गयी तो छोटे मोटे व्रत आसानी से पल सकेगे। यहाँ ऐसा माप तौल न चल सकेगा कि हम जितने व्रत करें उतनी भर दृष्टि रखें, उससे आगे हम क्यो चले? दृष्टि बल होने पर थोड़ा बहुत आचरण बना भी सकते हैं, ऐसे ज्ञान के रुचिया अध्यात्मयोगी के शुभ-अशुभ पुण्य-पाप आदि का बन्धन नहीं होता है, प्रत्युत छुटकारा मिल जाता है।

**ज्ञानी की विशेषो की उपेक्षा** – यह ज्ञानी पुरुष ज्ञानमय स्वरूप के अनुभवन से एक अनुपम आनन्द के स्वाद को पा चुका है। अब यह दो भिन्न वस्तुवो के मिलाप से होने वाले जो विषय क्षणिक सुख है उसका स्वाद लेने में असमर्थ हो गया है, वह तो अपने वस्तुस्वरूप को ही अनुभव रहा है, यह अपने ज्ञानानुभव के प्रसाद से विवश हो गया है, विषयो में नहीं लग सकता अब। अब अन्य बातों की तो कथा छोड़ो, अपने आप में उदित ज्ञान के विशेषो को भी गौण कर रहा है। जैसे दौड़ता हुआ पुरुष जिस जमीन पर से दौड़ रहा है उस जमीन को नहीं निरखता है, उस जमीन से गुजर रहा है, निरख रहा है किसी अन्य लक्ष्य को। ऐसे ही यह ज्ञानी इस ज्ञान के ज्ञान से गुजर रहा है, पर जो ज्ञान विशेष है, ज्ञेयाकार है उस ज्ञेयकार को नहीं ग्रहण कर रहा है, एक निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप को ग्रहण कर रहा है। उसके ज्ञान की एकता होने से जो एक विशुद्ध आनन्द जगता है उसके आगे सब रस फीके हो जाते हैं।

**औपाधिक भाव परिणत वस्तु में भी सहजस्वरूप का भान** – भैया ! दर्पण में दर्पण की स्वच्छता भी है, और दुनिया के जो भी सामने पदार्थ हैं, उनका प्रतिबिम्ब भी है। जो विवेकी होगा वह तो प्रतिबिम्बित दर्पण में भी स्वच्छता का भान कर सकता है। न होती स्वच्छता तो यह प्रतिबिम्ब भी कहाँ से होता, किन्तु विवेकी पुरुष जिस दर्पण में पूरा ही प्रतिबिम्ब पड़ा हुआ है, किसी कोने में भी स्वच्छता नजर आती है, इसको तो वह दर्पण का

स्वरूप नहीं मानता। ऐसे ही यह ज्ञानी ज्ञेयाकार की निरन्तरता होने पर भी ज्ञान की स्वच्छता निहारता है। इस ज्ञान में स्वच्छता शक्ति है और यह ज्ञान कभी भी ज्ञेयो को जाने बिना नहीं रहता है। अब उन ज्ञेयाकारों से, विकल्पो से, आकार ग्रहण से परिणत हुए उस ज्ञानस्वरूप में ज्ञान की स्वच्छता जो निहार सके उसे ही तो ज्ञानी कहते हैं। न होती वह शाश्वत स्वच्छता तो यह ज्ञेय विकल्प ही कहाँ से बन पाता? जब इन ज्ञेय विकल्पो को ग्रहण नहीं किया, केवल ज्ञान को ग्रहण किया तो इसी का अर्थ यह है कि ऐसा सामान्य आकार बना कि वह ज्ञान गुण में समा गया है पृथक नहीं मालूम होता ।

**ज्ञानी का ज्ञान की और झुकाव** – जैसे मानो जब दर्पण के सामने कोई वस्तु न रक्खी हो तो दर्पण अपने आप में अपने आकार को अपने आप में समा लेता है, वहाँ पर भी स्वच्छता खाली नहीं रह सकती। वह कुछ न कुछ काम करता है। अपने ही आकार को अपनी ही स्वच्छता में झलकाकर बना रहता है, पर स्वच्छता का कार्य न हो तो स्वच्छता का अभाव हो जायगा। ऐसे ही अध्यात्मयोगी संत ज्ञानी पुरुष ज्ञानाकार को ज्ञान द्वारा ग्रहण करके एकमेक समाकर विश्रांत और शान्त रहते हैं, उस समय का जो आनन्द है उसको जो प्राप्त कर लेता है उसे कोई व्यवहार में घर का उत्तरदायी होने के कारण अथवा किन्हीं परिस्थितियों में बाह्य कामों में लगना पड़े तो उसे बड़ा अनुताप होता है, वह खेद मानता है। इस प्रकार यहाँ तक के वर्णन से हमें यह शिक्षा लेना है कि हम केवल घर गृहस्थी विषय धन सम्पदा सुख लौकिक बातें इनके लिए अपना जीवन न माँगें, ये सब नष्ट हो जाने वाली चीजें हैं, दुर्लभ मनुष्य जीवन से जीकर कोई अलौकिक तत्वज्ञान का आनन्द प्राप्त कर लिया जाय तो वह ही परम विवेक है। यहाँ क्या है, धन कम पाया जा ज्यादा पाया, तो उससे क्या हो गया? आनन्द शान्ति तो ज्ञान के अनुरूप होती है, बाह्य धन सम्पदा के अनुरूप नहीं होती है।

**सम्बन्ध का धर्म सम्बन्ध में परिवर्तन** – भैया ! ज्ञानार्जन का मन में आशय रक्खे। इस ज्ञान की साधना के लिए अपना तन, मन, वचन, धन सर्वस्व न्यौछावर करके भी यदि कुछ ज्ञानप्रकाश पा लिया तो जीवन सफल माने और घर के जिन लोगो से सम्बन्ध है उनको यह समझावो, इस सम्बन्ध को वैषयिक विषयो में न ढालकर इस मित्रता को मोक्षमार्ग की पद्धति में बसा लो। मित्रता यह भी कहलायी और मित्रता वहाँ भी कहलायी। इस सम्बन्ध और मित्रता को मोक्षमार्ग की पद्धति में बदल दो। ऐसा सम्बन्ध बन सका तो यह असम्बन्ध का उत्साह देने वाला सम्बन्ध रहा। यह सब हमें किस प्रकार मिले सो पूजन करके रोज पढ़ लेते हैं। 7 चीजे रोज माँगते हो। शास्त्रो का अभ्यास, चले, सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा की भक्ति रहे, सदा सज्जन पुरुषो के साथ संगति रहे, गुणी पुरुषो के गुण कहने में समय जाय, दूसरो के दोष कहने के लिए गूँगा बन जाये, और वचन कुछ भी कभी बोलने पड़े तो सबको प्रिय हो और हितकारी हो। निरन्तर यह ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्व ही

हितरूप है ऐसी भावना रखे। तो इन कर्तव्यों के प्रसाद से नियम से अलौकिक तत्व और आनन्द प्रकट होगा।

**परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं।**

**अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।।45।।**

**दुख और सुख का हेतु** – परपदार्थ पर ही है, इस कारण उससे दुःख होता है और आत्मा—‘आत्मा ही है अर्थात् अपना अपना ही है, इस कारण उससे सुख होता है लोक में भी व्यामोही जन कहते हे कि अपना सो अपना ही है, उसका ही भरोसा है, उसका ही विश्वास है और जो पराया है सो पराया ही है, न उसका भरोसा है, न उससे हित की आशा ही है। आत्महित के पंथ में यह कहा जा रहा है कि आत्मा का जो आत्मीय तत्व है, जो इसके निजी सत्ता की बात है वह तो स्वयं है, उससे तो सुख हो सकता है, और सहज स्वभाव को त्यागकर अपने स्वरूप का विस्मरण करके जो अन्य पर में आपको बसाया जाता है और जो परभाव उत्पन्न होते हैं? वे पर है, उनसे हित की आशा नहीं है।

**अपनी स्थिति का विचार** – भैया ! हम आप सब जीव कब से है, इसका अनुमान तो करो। लोक में जो भी पदाश्र है उनमें ऐसा कुछ नहीं है कि वे पहिले कुछ ने थे और बाद में हो गए हो। ऐसा कुछ भी उदाहरण न मिलेगा जो पहिले कुछ भी न रहा हो और बाद में हो गया हो। यो ही अपने बारे में विचारो, जिसमें मैं मैं की अन्तर्ध्वनि होती है, जिसका मैं कहा जा रहा है। ऐसा कोई यह पदार्थ चूँकि समझ रहा है, ज्ञान कर रहा है इसलिए ज्ञानमय ही होगा। यह ज्ञानमात्र मैं तत्व स्वयं से बना हूँ। मैं कब से हूँ? अनादि से हूँ स्वतः सिद्ध हूँ, तो उसका अर्थ ही यह निकला कि सदैव से हूँ ऐसे अनादि से हम और आप है, इन दृश्यमान पर्यायो से मैं विविक्त हूँ। खुद भी समझ रहे है कि 40-50 वर्ष से यह पर्याय है, पर इसके पहले मैं था या न था – इस पर विचार कीजिए। ऐसा तो नहीं हो सकता कि इस मनुष्य भव से पहिले मैं शून्य था या अविकारी था, क्योंकि शुद्ध होता तो कोई कारण नहीं है कि यह आज अशुद्ध रहता । यदि था शुद्ध अनादि से तो शुद्ध रूप ही तो होऊँगा, फिर कैसे आज अशुद्ध हो गया?

**आँखो देखा निर्णय** – जैसे हम मनुष्यो को और मनुष्य को छोड़कर अन्य जीवो को देखते है और इस ही प्रकार के अन्य भी अनेक जीव जो आँखो दिखने में नहीं आए किन्तु परोक्ष से आज भी किसी पर को जान लेते है, ये सब अनादिकाल से ऐसी ही चतुर्गति योनियों में भ्रमण करते आए है, अनन्त भव धारण किए, छोडा, फिर धारण किया। किसी भी भव का समागम आज नहीं है और यह भी निर्णय हे कि इस भव का समागम भी आपके पास न रहेगा। आँखो दिखी भी बात है। जो भी मरण करेंगे तो आज जो कुछ उनके पास समागम है क्या वह साथ देगा? अथवा यहाँ कुछ सर्वस्व है क्या अपना? कितना बड़ा अज्ञान अंधकार छाया है कि इन समागमो का यथार्थस्वरूप नहीं जान सकते है। गृहस्थ

करनी पड़ती है, ठीक है, पर सच्चा ज्ञान तो ज्ञान साध्य बात है। कुछ भी समागम न मेरे साथ आया है और न आगे जायगा, और जब तक भी यह साथ है तब तक भी मेरे से न्यारा है, पर है, इन सबका मुझ में अत्यन्ताभाव है। ये पर है, जो पर है, पराया है उससे हमारा क्या हित हो सकता है? वह तो दुःख का ही निमित्त बनेगा।

**उत्तम समागम का उपयोग** – आज हम आपने बहुत अच्छी स्थिति पायी है मनुष्य हुए, श्रावक कुल मिला, जहाँ अहिंसामय धर्म का सदाचार का ही उपदेश है, वातावरण है। जितने भी हम आपके इस शासन में जो भी पर्व आते हैं, जो भी विधि-विधान होते हैं वे अहिंसापूर्ण और बड़ी पवित्रता को रखते हुए होते हैं। परम्परा भी कितनी विशुद्ध है? शास्त्र स्वाध्याय की भी शुद्ध परम्परा है। ग्रन्थ भी कितने निर्दोष है, जिनमें रागद्वेष मोह के त्याग को ही उपदेश भरा है, और वह मोह का त्याग एक वस्तुस्वरूप के यथार्थ ज्ञानपर अवलम्बित है, ऐसा स्वरूप का निर्णय भी इस स्याद्वाद शैली में किया हुआ मिलता है। कितनी उत्कृष्ट बातें हम आपको प्राप्त हैं। इतनी अच्छी स्थिति में आकर भी परपदार्थों के मोह के राग के ही स्वप्न देखा करें तो अपने हृदय से पूछ लो कि मनुष्य बनकर कौनसी ऐसी अलौकिक चीज पायी, जिससे हम यह कह सकें कि हमने मनुष्य जन्म को सफल किया। सफलता तो उसे कहते हैं जिसके बाद ऊँची स्थिति मिले। मनुष्य होने के बाद कीड़ा मकोड़ा हो गए, वृक्ष पतंगे बन गए तो मनुष्य जन्म पाने की सफलता कैसे कही जा सकती है?

**निजहित के बिना परहित कैसा** – भैया ! अपने स्वार्थ की सिद्धि प्रत्येक जीव चाहता है। स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक पदार्थ अपना ही अर्थ कर सकता है। जिसमें अपने आत्मा का हित हो, जो भविष्य में सदा काम आए, ऐसी कोई बात सिद्ध कर ले उससे ही जीवन में सफलता है। यदि हम परमार्थ पद्धति से अपना प्रयोजन साध लें तो अनेको का उपकार आपके निमित्त से स्वतः बनता रहेगा और जब तक हम अपने आपके सदाचार सम्यग्ज्ञान स्वावलम्बन को तजकर केवल एक बड़प्पन के लिए परके उपकार की हम एक डींग मारें तो समझ लीजिए कि वहाँ पर का उपकार भी असम्भव है और अपना भी उपकार असम्भव है। कोई पुरुष यह माने कि मैं धर्म की प्रभावना करूँ, लोगों की दृष्टि में यह बात बैठ जाय कि इसका धर्म बड़ा पवित्र है। मैं उपदेश करूँ उपदेश कराऊँ, और विधिविधान से प्रभावना करूँ, और स्वयं के लिए कुछ नहीं, वही मोह वही रागद्वेष, वही अंतः अवगुण, वे सब बने रहें, किन्तु दूसरो मे धर्म की प्रभावना हो, ऐसे ही दूसरे तीसरे सोच ले। 100 हो तो 100 भी सोच ले, तो प्रत्येक पुरुष ने 99 को धर्म प्रभावना करने के लिए धर्म बताने के लिए अथक परिश्रम किया, किन्तु वे 100 के 100 ही रंच भी नहीं बढ़ सके धर्म की और, न प्रभावना हुई । यदि उनमें 5 भी सत्पुरुष ऐसे निकले कि अपना उपकार और सम्यग्ज्ञान में भव बनाएँ तो पांच का तो उपकार हुआ, और उन पांच के अंतरंग की बात दूसरो के



अंतरंग में पहुचती है ऐसे व्यवहार नीति कहती है। तो वास्तविक मायने में कुछ औरो का भी उपकार सम्भव है।

**समागम की विनश्वरता का ध्यान** – भैया ! अपन सबको मुख्य दृष्टि यह रखना चाहिए कि मुझे तो अपना भला करना है। ये सब समागम किसी न किसी दिन बिछुड़ेगे। यहाँ मेरा कुछ नहीं है। अपनी साधना निर्विघ्न बनी रहे, इसके लिए कमजोर अवस्था में गृहस्थी स्वीकार करनी पड़ी है और कर रहे है, गृहस्थ की पदवी में करना चाहिए किन्तु यथार्थ ज्ञान से यदि अपन हट गए तो मनुष्य जन्म की सफलता न समझिए। देहादिक परपदार्थ पर ही है, इनकी प्रीति से, आसक्ति से केवल क्लेश ही है। इस शरीर की सेवा करनी पड़ती है। शरीर स्वस्थ रहे तो हम धार्मिक व्यवहार करने में समर्थ रहेगे और हम अपनी ज्ञानदृष्टि रख सकेगे। ज्ञान हमने अपना शुद्ध रख पाया तो अंतः सयंम बनेगा और उससे आत्महित होगा। ज्ञानी पुरुष समस्त क्रियावो को करके भी उसमें किसी न किसी ढंग से आत्महित का ही प्रयोजन रखता है। हम प्रभु की भक्ति तो करे, पूजन बंदन करे और चित्त में उनका आदर्श न समझ पाये, अपने अंतरंग से यह ध्वनि न बन सके कि है प्रभो! करने लायक बात तो यही है जो आपने की। मुझे भी यही स्थिति मिले तो संकट छूट सकेंगे। यदि ऐसी अन्तर्ध्वनि न निकल सके ता वंदन पूजन मोक्षमार्ग के संदर्भ में क्या लाभ पाया ?

**निज स्वरूप की प्रतीति** – निर्णय रखिये पक्का कि जो परपदार्थ है वे पर ही है, उनके आकर्षण से, उनकी प्रीति से क्लेश ही होगा। जो भीतर में चित्त रंग गया हे, मोह और लाभ के उस रंग को धोने की बात कही जा रही है। गृहस्थी में रह रहे है, ठीक है, पर परपदार्थ में जो मोह का रंग रँगा हुआ है, अंतर मे जो यह श्रद्धा बनी है कि मेरे तो सर्वस्व ये ही सब है, इनसे ही हित है, बड़प्पन है, ये ही मेरी जान है, ऐसा जो मोह का रंग चढ़ा हुआ हे जो कि बिल्कुल व्यर्थ है, उसे मेटिये। कुछ दिन की बात है, छोडकर सब जाना ही पड़ेगा। पर से उपेक्षा करेक आत्मरुचि बढ़ा लो। यह तो अपने हित की बात है किसी दूसरे को सुनना नहीं है, घर कुटुम्ब के लोगो से कुछ कहने की जरूरत नहीं है कि तुम सब पर हो, नरक निगोद की खान हो, तुम्हारी प्रीति से दुर्गति ही होगी, ये तो लड़ाई के उपाय है। किसी से कुछ कहने की बात नहीं कही जा रही है किन्तु अपने चित्त में सही ज्ञान तो जगाओ। बात जो हो उसे मान लो, बड़ा आनन्द होगा, आपका बोझ दूर हो जायगा।

**निर्भार के अवलम्बन में भार का हटाव** – भैया ! मोह को जो बोझ लदा है, जिससे शान्ति का मार्ग नजर नहीं आता है उस बोझ के हटाने में कुछ कठिनाई मालूम हो रही है क्या? आज एक कुटी में इन अनन्त जीवो में से कोई दो चार जीव आ गए। ये दो चार जीव न आते, कोई और ही आते तो उन्हें भी अपना मानने की आदत थी। जिसे अपना

माना है कोई हिसाब से नहीं माना है। जो आया सामने उसे ही अपना माना है। मोह की आदत इसमें पड़ी है ना, सो जो भी जीव सामने संग में प्रसंग में आ गया उसे ही अपना मान लेते हैं, ऐसी अटपट बात है यह । जैसे अनन्त जीव भिन्न हैं, इस ही प्रकार ये जीव भी भिन्न हैं ऐसा यहाँ निर्णय अपने अन्तःकरण में लीजिये । कुछ कहने सुनने से आनन्द नहीं आता है। भीतर में ज्ञान का और उस प्रकार के श्रद्धानका आनन्द आया करता है।

**स्निहाके वियोग में क्लेश की अनिवायेता** – भैया ! सभी को सुख प्रिय है, अशान्ति दूर हो, शान्ति उत्पन्न हो, इसके लिए ही सबका प्रयत्न है। वह शान्ति परमार्थ से वास्तव में जिस भीउपाय में मिलती हो उसको मना तो नहीं करना चाहिए। खूब परख लो, किसी भी विषय साधन के संचय में, किसी भी परपदार्थ के उपयोग में, आसक्ति में, कभी क्या शान्ति मिल सकती है? इस उपयोग ने जिन पदार्थों को विषय किया है वे तो नियमतः विनाशीक हैं, वे मिटेगे, तो यह उपयोग फिर इसकी कल्पना में निराश्रित होगा ना, तब क्लेश ही तो होगा। इस उपयोग से जिस पर पदार्थ का विषय आता है वह पर स्वयं की अपनी परिणति से परिणमता है, परपदार्थ का परिणमन उसके ही कषाय के अनुरूप होगा। परपदार्थ का उपयोग और प्रेम केवल क्लेश का ही कारण होता है । चलते जाते, फिरते, सफर करते हुए में भी कही एक आघ दिन टिक जाय, कुछ वार्तालाप के प्रसंग में कुछस्नेह भाव बढ़ जाय तो उनेक वियोग के समय भी कुछ विषाद की रेखा खिंच जाती है। यद्यपि जिससे वार्तालाप होता है वह अन्य देश, अन्य नगर, अन्य जाति का है, सर्व प्रकार से अन्य अन्य है, कुछ प्रयोजन नहीं है, केवल कभी जीवन में मिल गया है। दो एक घटे को रेल में सफर करते हुए, उससे कुछ वार्तालाप होने को स्नेह जग गया, अब वह अपने निर्दिष्ट स्टेशन पर उतरेगा ही, तो वहाँ पर उस स्नेह करने वाले के एक विषाद की रेखा खिंच जायगी। ऐसा ही यह जगत के जीवों का प्रसंग है। इस अनन्तकाल में कुछ समय के लिए यहाँ कुछ लोग मिल गए हैं। जिन पुत्र, मित्र, स्त्री, आदि से स्नेह बढ़ गया है उनका जब विछोह होगा तो इसे क्लेशज्ञ होगा। बिछुड़ना तो पड़ेगा ही।

**भेद विज्ञान के निर्णय की प्रथम आवश्यकता** – एक ही निर्णय है कि अपने आत्मस्वरूप को छोड़कर अन्य किसी भी परपदार्थ में स्नेह किया, ममता की चाहे कुटुम्ब परिजन के लोग हो, चाहे जड़ सम्पदा हो, किसी भी परपदार्थ में ममता जगी तो उसका फल नियम से क्लेश है। हम जिस प्रभु की आराधना करते हैं वह पुरुष तो केवल है ना। उनके भी घर गृहस्थी परिग्रह का प्रसंग है क्या? वे तो केवल ज्ञानपुंज रह गये हैं, हम ऐसे ज्ञानपुंज की तो उपासना करें और चित्त में यह माने कि सुख और बड़प्पन तो घर गृहस्थी सम्पदा के कारण होता है। तो हमने क्या माना, क्या पूजन किया, क्या भक्ति की ? चित्त में एक निर्णय रख लीजिए और इस बात के निर्णय में यदि बुद्धि नहीं आती है तो इसका निर्णय प्रथम कीजिए। भेद – विज्ञान जगें बिना धर्मपालन की पात्रता न आ सकेगी। स्वयं

के हित का उपाय बना लेना सर्वोत्तम व्यवसाय वे पुरुषार्थ है, उससे आँखे नहीं मीचनी है।

**परसे आनन्दप्राप्ति असंभव** – ये सब समागम तो एक पुण्य पाप के ढाढ हैं, भिन्न हैं, सदा रहने के नहीं हैं, इनके समागम के समय भी हित नहीं है और वियोग के समय क्लेश के निमित्तभूत हो सकते हैं। इन जड़ के पदार्थों में स्वयं सुख नहीं है वहाँ से सुख निकलकर मुझमें कहाँ आयगा? जो चेतन भी पदार्थ है, परिजन, मित्रजन उनमें सुख गुण तो है, किन्तु वह सुख गुण उनमें ही परिणमन करने के लिए है या उनका कुछ अंश मुझमें भी आ सकता है? उनमें ही परिणमन करने के लिए उनका सुख गुण है। जब इतना अत्यन्त भेद है फिर उनमें आत्मीयता की कल्पना क्यों की जाय? जो उन्हें अपना मानेगे उनके वियोग में अवश्य दुःखी होगा। गृहस्थ जनों का यह सामान्य कर्तव्य है कि यह निर्णय बनाए रहे, संयोग के काल में भी जो जो कुछ यहाँ मिला है नियम से अलग होगा, ऐसी श्रद्धा होगी तो संयोग के काल में यह जीव हर्षमग्न न होगा। संयोग के काल में हर्षमग्न न हो वह वियोग के काल में भी दुःख न मानेगा।

**आत्मलाभ का उपाय** – भैया ! किसी भी पर से आत्मा को सुख नहीं, केवल जो आत्मा पदार्थ है, ज्ञायकस्वरूप है वह ही अपना सर्वस्व है। उसे अपनाने से, उसमें ही यह मात्र मैं हूँ, ऐसी प्रतीति करने से सुख मिलेगा। बड़े-बड़े महापुरुष तीर्थकरो ने भी यही मार्ग अपनाया था, जिसके फल में आज उनमें अनन्त प्रभुता प्रकट हुई है। हम आप उनके उपासक होकर उस स्वरूप की दृष्टि न करें तो कैसे हित हो? अपना जीवन सफल करना चाहते हैं तो यही बड़ा तप करने योग्य है कि उस अपने ज्ञायकस्वरूप को आत्मा मानकर, अपना मानकर उसमें ही उपयोग लीन बनाए रहे, इसे चैतन्यप्रतपन कहते हैं। यही प्रतपन है और इस प्रतपन का प्रताप अनन्त आनन्द को देने वाला है। अपना यही एक निर्णय रखिए कि ये देहादिक समस्त परपदार्थ है, इनकी प्रीति में हित नहीं है, किन्तु ज्ञायकप्रकाशमात्र अपने आत्मा को 'यह मैं हूँ' ऐसा अनुभव करें तो इसमें ही हित है।

**अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत् ।**

**न जातु जन्तोःसामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति ।।6।।**

**मोही की मान्यता** – जो अविद्वान् व्यवहारी पुरुष पुद्गल द्रव्य को, यह मेरा है, यह इनका है— इस प्रकार से अभिनन्दन करते हैं अर्थात् मानते हैं उन जंतुओं का इस बहिर्मुखता में भ्रमण नहीं छूटता और चारों गतियों में पुद्गल द्रव्य उसके निकट रहते हैं। लोक में 6 जाति के पदार्थ होते हैं—जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश और काल। इनमें जीव तो अनन्तानत है, पुद्गल जीवों से भी अनन्तगुणे है। धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाश द्रव्य एक है और कालद्रव्य असंख्यात है, ये सभी स्वतंत्र हैं, किन्तु मोही जीव स्वतंत्र नहीं समझ पाता।

**जीव की अनन्तानन्त गणना** – जीव कैसे अनन्तानन्त है, यह बात अनुभव से भी जान रहे हैं। आपका अनुभवन, परिणमन केवल आपके आत्मा में हो रहा है, उसका अनुभव मुझ में नहीं होता। मेरे आत्मा का जो परिणमन जो अनुभवन हो रहा है वह मुझमें हो रहा है, आप सब किसी में भी नहीं हो रहा है। यह वस्तुस्वरूप की बात कही जा रही है। ध्यानपूर्वक सुनने से सब सरल हो जाता है। अपनी बात अपनी समझ में न आए, यह कैसे हो सकता है? जब इतना क्षयोपशम पाया है कि हजारों लाखों का हिसाब किताब और अनेक जगहों के प्रबन्ध जब कर लिए जा सकते हैं इस के द्वारा तो यह ज्ञान अपने आप में बसे हुए स्वरूप को भी न जान सके, यह कैसे हो सकता है, किन्तु व्यामोह को शिथिल करके जगत की असारता सामान्य रूप से निगाह में रखकर कुछ अंतःउपयोग लगायें तो बात समझ में आ जाती है। हाँ जीव अनन्तानन्त कैसे है— इस बात को कहा जा रहा है। हमारा परिणमन, हमारा अनुभवन हम ही में है, आपका आप ही में है। इससे यह सिद्ध है कि हम आप सब एक एक स्वतंत्र जीव हैं। यदि इस जगत में सर्वत्र एक ही जीव होता तो हमारा विचार हमारा अनुभवन सबमें एक साथ, एक समान अथवा वही का वही होता। यों ऐसे ऐसे एक एक करिके समस्त जीव अनन्तानन्त विदित कर लेना चाहिये।

**एक द्रव्य का परिणमन** – एक पदार्थ उतना होता है जिसमें प्रत्येक परिणमन उस पूरे में होना ही पड़े। कोई परिणमन यदि पूरे में नहीं हो रहा है तो समझो कि वह एक चीज नहीं है। अनन्तानन्त वस्तु है, जैसे कोई कपड़ा एक और से जल रहा है तो वह एक चीज नहीं जल रही है। उसमें जितने भी तंतु हैं वे सब एक एक हैं और उन तंतुओं में जितने खंड हो सकते हैं वे एक एक द्रव्य हैं। यह अनेक द्रव्यों का पिंड है इस कारण एक परिणमन उस पूरे में एक साथ नहीं हो रहा है। जिसको कल्पना में एक माना है, इस तरह हम आप सब अनन्त जीव हैं।

**जीवों से अनन्तगुणे पुद्गलों का निरूपण** – जीव से अनन्तगुणे पुद्गल है। ये कैसे माना जाय ? यों देखिए – इन संसारी जीवों में एक जीवों में एक जीव को ले लीजिए – एक जीव के साथ जो शरीर लगा है उस शरीर में अनन्त परमाणु हैं और उस शरीर के भी अनन्तगुणे परमाणु इस जीव के साथ लगे हुए तैजस शरीर में हैं और उससे भी अनन्तगुणे परमाणु जीव के साथ के साथ लगे हुए कार्माण शरीर में हैं। एक जीव के साथ अनन्त पुद्गल लगे हुए हैं और जीव है अनन्तानन्त तो पुद्गल समझ जाइये कितने हैं। यद्यपि सिद्ध भगवान स्वतंत्र एक एक हैं और वे भी अनन्त हैं, किन्तु सिद्ध से अनन्तानन्त गुणे ये संसारी प्राणी हैं, इसलिए उससे भी हिसाब में बाधा नहीं आती है। अब आपके ये अणु-अणु एक-एक हैं, हम आप सभी जीव एक – एक अलग – अलग हैं। तो यह निर्णय कर लो कि मेरा करना जो कुछ हो सकता है वह मुझमें ही हो सकता है, मैं किसी दूसरे में कुछ करने में समर्थ नहीं हूँ। केवल कल्पना करके मैं अपने को विकल्पग्रस्त बनाये रहता हूँ

किसी दूसरे का कुछ करता नहीं हूँ। सुख दुःख जीवन मरण सब कुछ इस जीवके अकेले ही अकेले चलते हैं। कोई किसी का शरण अथवा साथी नहीं है। जब वस्तु में इतनी सवतंत्रता पड़ी हुई है फिर भी कोई व्यामोही पुरुष माने कि शरीर मेरा है, यह मेरा है, इस प्रकार का भिन्न द्रव्य स्वामित्व माने तो उसके साथ यह शरीर सदा लगा रहेगा अर्थात् वह संसार में भ्रमण करता रहेगा। जीव के प्रतिबोध के लिए प्रत्येक मिथ्या वासनाएँ हट जानी चाहिये।

**क्लेशमूल तीन अवगुण** – एक तो परपदार्थ में अपना स्वामित्व मानना और दूसरे परपदार्थों का अपको कर्त्ता समझना, अपने आपको परपदार्थों को भोगने वाला समझना। देखिये ये तीनों ऐब संसारी प्राणी में भरे पड़े हुए हैं। इन तीनों में से एक भी कम हो तो वे तीनों ही कम हो जायेंगे। मोह में परजीवों के प्रति कितना तीव्र स्वामित्व का भाव लगा है, ये ही मेरे हैं। जो कुछ कमाना है, जो कुछ श्रम करना है केवल इनके खातिर करना है। बाकी जगत के अन्य जीवों के प्रति कुछ भी सोच विचार नहीं है। कर्तृत्व बुद्धि भी ऐसी लगी है कि इन बच्चों को मैंने ही पाला, मैंने ही अमुक काम किया, ऐसी कर्तृत्वबुद्धि भी लगी है, पर परमार्थतः कोई जीव दूसरे पदार्थ का कुछ कर सकने वाला नहीं है। यह मिथ्या भ्रम है कि कोई अन्य किसी का कुछ कर सके, अथवा किसी की गलती से किसी दूसरे को नुकसान सहना पड़ता है। जो भी जीव दुःखी होते हैं वे अपनी कल्पना से दुःखी होते हैं, किसी को दुःखी करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है।

**कर्तृत्व के भ्रम पर एक दृष्टान्त** – एक सेठ था, उसके चार लड़के थे। बड़ा लड़का कमाऊ था, उससे छोटा जुवारी था, उससे छोटा अंधा और सबसे छोटा पुजारी था। बड़े लड़के की स्त्री रोज-रोज हैरान करे कि देखो तुम सारी कमाई करते हो, दुकान चलाते हो और ये सब खाते हैं। तुम न्यारे हो जावो तो जितना कमाते हो सब अपने घर में रहेगा। बहुत दिनों तक कहासुनी चलती रही। एक बार सेठ से बोला बड़ा लड़का कि पिताजी अब हम न्यारे होना चाहते हैं। तो सेठ बोला कि कुछ हर्ज नहीं बेटा, न्यारे हो जाना, पर एक बार सब लोग मिलकर तीर्थयात्रा कर लो। न्यारे हो जाने पर न जाने किसका कैसा भाग्य है? सो चल सब यात्रा के लिए। रास्ते में एक नगर बगीचे में अपना डेरा डाल दिया और चार पांच दिन के लिए बस गए। पहिले दिन सेठ ने बड़े लड़के को 10 रु देकर कहा कि जावो सबके खाने के लिए सामान लिए सामान ले आवो। वह सोचता है कि 10 रु में हम तीस, बत्तीस आदमियों के खाने को क्या लाँ, सो उसने किसी बाजार से कोई चीज खरीदी और पास के बाजार में जाकर बेच दी तो 1 ) मुनाफा मिला। अब 11) का सामान लेकर वह आया और सबको भोजन कराया। दूसरे दिन दूसरे, जुवारी लड़के को 10) देकर भेजा, कहा बाजार से 10) की भोजन सामग्री ले आवो। वह चला 10) लेकर। सोचता है कि इतने का क्या लाँ? तीस बत्तीस आदमियों के खाने के लिए, सो वह जुवारियों के पास पहुंचा

और एक दाव में 10) लगा दिए, समय की बात कि वह जीत गया, अब 20) की भोजन सामग्री लेकर सबको खिलाया। तीसरे दिन अंधा लड़का 10) लेकर भोजन सामग्री लेने के लिए चला। उसे रास्ते में एक पत्थर में ठोकर लग गयी। सो सोचा कि इसे निकाल फेंके, नहीं तो किसी दूसरे के लग जायगा। सो निकालने लगा। वह पत्थर काफी गहरा गड़ा था सो उसके खोदने में विलंब लग गया। जब वह पत्थर खोद डालना तो उसमें एक अशर्फिया का हंडा मिला। उन अशर्फियो से उसने भोजन सामग्री खरीदी और सब अशर्फियो को लेकर घर पहुंचा।

चौथे दिन उस सेठ ने अपने लड़के पुजारी को 10) देकर भोजन सामग्री लाने के लिए भेजा। उसे नगर में मिला एक मन्दिर। उसने क्या किया कि एक चाँदी का कटोरा खरीदा, घी खरीदा और रूई की बाती बनाई। आरती धरकर मंदिर में भजन करने लगा। भजन करते-करते जब शाम के चार बज गये तो मंदिर का अधिष्ठाता देव सोचता है कि इसके घर में भूखे पड़े हैं, इसमें तो धर्म की अप्रभावना होगी, सो उस लड़के का रूप बनाकर बहुत-सी भोजन सामग्री गाड़ियो में लादकर सेठ के यहाँ ले गया। सबने खूब भोजन किया और सारे नगर के लोगो को खिलाया। अब रात के 7-8 बजे वह लड़का सोचता है कि अब घर चलना चाहिए। पहुंचा घर रोनी सी सूरत लेकर, कहा पिता जी मैंने 10) की सामग्री लेकर मंदिर में चढ़ा दिया। पिताजी हमसे अपराध हुआ, आज तो सब लोग भूखे रह गए होंगे। तो पिता जी बोले- बेटा यह तुम क्या कह रहे हो? तुम तो इतना सामान लाए कि सारे नगर के लोगो को खिलाया और खुद खाया। तो पुजारी ने अपना सारा वृत्तान्त सुनाया। मैं तो मंदिर में आरती कर रहा था। तो फिर मैंने सोचा कि इस कटोरे को भी कौन ले जाय सो उसे भी छोड़कर चला आया। चार-पांच दिन व्यतीत होने पर एकांत स्थान में बड़े लड़के को बुलाकर सेठ पूछता है-कहो भाई यह तो बताओ कि तुम्हारी तकदीर कितनी है? तो वह बोला कि मेरी तकदीर एक रूपये की है, और जुवारी की तकदीर है उससे दस गुना, और अंधे की तकदीर हजार गुना और पुजारी के गुनो का तो कोई हिसाब ही नहीं है। जिसकी देवता तक भी मदद करें उसकी तकदीर का क्या गुना निकाला जा सकता है? जब उस बड़े लड़के की समझ में आया, और बोला-पिता जी मैं व्यर्थ ही कर्तृत्व बुद्धि का अंहकार कर रहा था। मैं नहीं समझता था कि सब का भाग्य अपने-अपने साथ है। अब मैं अलग न होऊँगा।

**परकी अपनायत में बिडम्बना** – यह जीव भ्रमवश कर्तृत्व बुद्धि का अंहकार करता है। इस जीव का तो अकर्त्ता स्वरूप है, केवल ज्ञाताद्रष्टा ज्ञानानन्दका पुञ्ज चित्स्वभाव मात्र अपने आप विश्वास बनावो। भ्रमवश यह जिस भव में गया उस ही पर्यायरूप यह अपने को मान रहा है। पशुहुआ तो पशु माना, पक्षी हुआ तो पक्षी माना। जैसे कि आजकल हम आप मनुष्य है तो ऐसी श्रद्धा बैठाए है कि हम मनुष्य है, इंसान है। बहुत बड़ी उदारता दिखाई

तो जाति का भेद मिटा दो, कुलका भेद मिटावो, एक मनुष्य—मनुष्य मान लो सबको। इतना तक ही विचार पहुंचता है अथवा इतनी भी उदारता का भाव चित्त में नहीं आता। अरे इससे अधिक उदारता यह है कि यह मान लो कि हम मनुष्य ही नहीं हैं। मैं तो एक चैतन्य तत्व हूँ। आज मनुष्य देह में फस गया हूँ, कभी किसी देह में था। मैं कहाँ मनुष्य हूँ, मनुष्य भव से गुजर रहा हूँ। अपने आपको विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप इस जीव ने नहीं माना। इसके फल में परिणाम यह निकला कि इस जीव के साथ सारी विडम्बनाएँ साथ—साथ चल रही हैं, जन्म मरण की संतति बनती चली जा रही है।

**ज्ञानामृत** — भेदविज्ञान ही एक अमृत है। उस अमृत को कैसे पकड़ोगे, अमृत कोई पानी जैसा नहीं होता अमृत कोई फल जैसा नहीं होता। अमृत क्या चीज है जिसका पान करने से यह आत्मा अमर हो जाता है? जरा बुद्धि में तो लावो। अमृत का अर्थ क्या है? अमायने नहीं, मृत मायने मरे, जो मरे नहीं सो अमृत है। जो स्वयं कभी मरे नहीं अर्थात् नष्ट न हो उसे अमृत कहते हैं। जो कभी नष्ट न हो ऐसी वस्तु मेरे लिए है ज्ञान। ज्ञानस्वभाव कभी नष्ट नहीं होता। इस अविनाशी ज्ञानस्वभाव को जो लक्ष्य में लेता है अर्थात् इस ज्ञानामृत का पान करता है वह आत्मा अमर हो जाता है। अमर तो है ही यह, पर कल्पना में जो यह आया कि मैं मनुष्य हूँ, अब तक जीवित हूँ, अब मर रहा हूँ, ऐसी जो बुद्धि आयी उसके कारण संसार में रूलना पड़ रहा है। मोह का माहात्म्य तो देखा — यह जीव विषय—विषय को तो दौड़ दौड़कर भटक भटककर पीता है और दस ज्ञानामृत का इसने निरादर कर दिया है, उसकी ओर तो यह देखता भी नहीं है। जो जो जन्तु पुद्गलद्रव्य को अपना मानते हैं उनके साथ ये पुद्गल के सम्बन्ध की विडम्बनाएं चारों गतियों में साथ नहीं छोड़ती हैं।

**पुद्गलो का मुझमें अत्यन्ताभाव** — इन पुद्गलो का मुझ में अत्यन्ताभाव है। मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव किसी भी अणु में नहीं पहुंच सकता है। किसी अणु का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझ में नहीं आ सकता है। जैसे घर में बसने वाले 10 पुरुषों में परस्पर में एक दूसरे से मन न मिलता हो तो लोग कहते हैं कि एक घर में रहते हुए भी वे बिल्कुल न्यारे—न्यारे रहते हैं। वहाँ तो फिर भी क्षेत्र जुदा है, किन्तु यहाँ शरीर है वहाँ ही जीव है, एक क्षेत्रावगाह सम्बंध है, फिर भी जीव का कोई अंश इस शरीर में नहीं जाता, शरीर का कोई अंश इस जीव में नहीं आता। एक क्षेत्रावगाही होकर भी शरीर—शरीर में परिणम रहा है और जीव—जीव में परिणम रहा है। यों सर्वथा भिन्न है ये बाह्य समागम, ये आत्मा के न कभी हुए और न कभी कभी हो सकते हैं, किन्तु मिथ्या आशय जब पड़ा हुआ है, अपने आपके सुख स्वरूप का परिचय नहीं पाया है तो भेदविज्ञान का विवेक नहीं हो पाता है। इस जगत में रहकर मौज मानने का काम नहीं है। कितनी विडम्बना हम आपके साथ लगी है उस पर दृष्टिपात करे उन विपत्तियों से छूटने का यथार्थ उपाय बनाये।

**माया की वाञ्छा अनर्थ का मूल** – इस मायामय जगत में मायामय लोगो को निरखकर मायामय यश की मायामय चाह करना यह अनर्थ का मूल है। एक आनन्दधाम अपने आपके परमार्थ ब्रह्मास्वरूप का दर्शन करे, आनन्द वही से निकलकर आ रहा है, विषय सुख भी जब भोगा जाता है वहाँ भी आनन्द विषयो से नहीं आ रहा है किन्तु आनन्द का धाम यह स्वयं आत्मा है और उस विकृत अवस्था में भी इस ही से सुख के रूप में यह आनन्द प्रकट हो रहा है। जो बात जहाँ नहीं है। वहाँ से कैसे प्रकट हो सकती है? जैसे यह कहना मिथ्या है कि मैं तुम पर प्रेम करता हूँ, अरे मुझ में प्रेम पर्याय उत्पन्न होती है वह मेरे मे ही होती है, मेरे से बाहर किसी दूसरे जीव पर वह प्रेमपर्याय नहीं उतर सकती है। जैसे यह कहना मिथ्या है ऐसे ही यह कहना भी मिथ्या है कि मैंने भोग भोगा, मैंने अमुक पदार्थ का सेवन किया। यह मैं न किसी पर को कर सकता हूँ और न कोई भोग भोग सकता हूँ, किन्तु केवल अपने आप में अपने ज्ञानादिक गुणों का परिणमन ही कर सकता हूँ। चाहे मिथ्याविपरीत परिणमन करूँ और चाहे स्वभाव के अनुरूप परिणमन करूँ, पर मैं अपने आपको करने और भोगने के सिवाय और कुछ नहीं करता हूँ और न भोगता हूँ। यह वस्तु की स्वतंत्रता जब ज्ञान में उतर जाती है तो मोह दूर हो जाता है।

**मोहविनाश का उपाय भेदविज्ञान** – भैया ! प्रभु की भक्ति से, प्रभु से भिक्षा मांगने से या अन्य प्रकार के तप करने से मोह नहीं गलता। मोह लगने का मूल मंत्र तो भेदविज्ञान है। ये भक्ति, तप, व्रत संयम कहाँ तक काम देते हैं, इसको भी सुनिये। यह जीव अनादि से विषय वासना में जुटा हुआ है। इसका उपयोग विषयवासना में न रहे और उसमें इतनी पात्रता आए कि यह ज्ञानस्वरूप का दर्शन कर सकेगा, उसके लिए पूजन, भक्ति, तप, संयम, व्रत ये सब व्यवहार धर्म हैं, पर मोह के विनाश की समस्या तो केवल भेदविज्ञान से ही सुलझती है, क्योंकि किसी पदार्थ में कर्तृत्व और भोक्तृत्व की बुद्धि मानने से ही तो अज्ञानरूप यह मोह हुआ। परपदार्थ की भिन्नता न जान सके और उसे एक दूसरे का स्वामी मान ले, इसी मानने का ही तो नाम मोह है। जैसे कोई पुरुष अपने परिजनो में मोह करता है तो उसका अर्थ ही यह है कि इन परिजनो को आपा माना है, आत्मा समझा है। यह आत्मीयता का जो भ्रम है इसके मिट जाने का ही नाम मोह का विनाश है। यह ज्ञान से ही मिटेगा। भगवान की पूजा करते हुए मैं भी हम अपने ज्ञान पर बल दे तो मोह मिटेगा, पर अन्य उपायो से यह मोह नहीं मिट सकता है।

**सद्विवेक** – जब विवेक बनेगा तभी तो यह समझेगा कि यह हेय है और यह उपादेय है। जब तक विवेक नहीं जगता, तब तक मोह रागद्वेष की संतति चलती ही रहती है और उससे नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव इन चारों गतियों में जन्म मरण करना ही पड़ता है। वैसे कहाँ दुःख है, शारीरिक मानसिक कहाँ क्लेश है? इससे तो थोड़े ही छोटे मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़ा, मकोड़ा इनको देखकर जाना जा सकता है कि संसार में कैसे क्लेश होते हैं, इन



सब क्लेशो को सहता हुआ भी यह मोही जीव परद्रव्यो के मोह को नहीं त्यागना चाहता और उनसे विरक्त होकर अपने आप में वह नहीं आना चाहता है, यह दशा इस व्यामोही जीव की हो रही है कर्तव्य यह है विरक्त होकर अपने आप में वह नहीं आना चाहता है, यह दशा इस व्यामोही जीव की हो रही है। कर्तव्य यह है कि वस्तुस्वरूप का यथार्थ बोध करें और इस मोहपरिणाम को मिटा दे, जिससे इस ही समय क्लेशो को बोझ हट जाये, यही एक उपाय है इस मनुष्यजन्म को सफल करने का कि हम सच्चा बोध पायें और संकटो से छूटने का मार्ग प्राप्त करें।

**आत्मानुष्ठानिष्ठस्य व्यवहारबहि-स्थितेः।**

**जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिन।।47।।**

**इष्ट का उपदेश** – इस ग्रन्थ का नाम इष्टोपदेश है। जो इष्ट है उसका इसमें उपदेश किया है। कोई रोग में अनिष्ट चीज को इष्ट मान ले तो वह तो वास्तव में इष्ट नहीं है, ऐसे ही मोह रागद्वेष के रोगी विषय कषायों के ज्वर में पीड़ित ये प्राणी किसी भी वस्तु को इष्ट मान लें तो वे वास्तव में इष्ट तो न हो जायेंगे। जो जीव वास्तव में भला करें उसे इष्ट कहते हैं। इष्ट को इसमें उपदेश किया गया है।

**आत्मनिर्णय** – हम आप सब आत्मा है अर्थात् जानन देखनहार एक तत्व है। हमें जो कुछ निर्णय करना है वह आत्मतत्व के नाते निर्णय करना है। हम अपने को किसी जाति का, किसी कुलका न समझें यह तो दूर की बात है, हम अपने को मनुष्य भी न समझें किन्तु एक मनुष्य देह में आज बंध गया हूं, मनुष्य देह में बँधने वाला यह पदार्थ एक जाननहार चैतन्यस्वरूप ह। उस आत्मा के नाते निर्णय करें हितका। जहाँ अपने स्वरूप का नाता जोड़ा, फिर बाहर में ये मायामय स्कंध नजर आते। जब खुद में लगने का खुद विषय नहीं रहा तो बाह्य पदार्थों में यह लगता है और उन्हें अपनाता है।

**कल्याणकामुक की धर्मविषयक एक मुसीबत** – कभी इस मोही जीव को कुछ धर्मबुद्धि जगे, कुछ कल्याण के करने की कामना की हिलोर आए, भावना जगे तो उसके मुसीबत इसके प्रसंग में एक बहुत कठिन आती है। वह मुसीबत है नाना पंथो की उलझन में पड़ जाना। यह मुसीबत आ रही है नाना रूप कल्पनाएँ करने के कारण। मैं अमुक हूं, मेरा धर्म यह है, मेरा देव यह है, मेरी गोष्ठी वातावरण यह है, इस प्रकार का बाह्य में एक आत्मा का बोध होता है और उस आशय से यह कल्याण से वंचित होता है। यद्यपि यह बात ठीक है कि जो भी पुरुष अपना कल्याण कर सके है वे पुरुष जिस गोष्ठी में रहे हुए होते हैं, जिस जाति कुल अथवा प्रवृत्ति रूप धर्म को धारण करके मुक्त होते हैं वह व्यवहार धर्म पालन करने के योग्य है। ठीक है किन्तु दृष्टि में मुख्यता व्यवहार धर्म की जिसके रहे उसको मार्ग नहीं मिलता है। ये समस्त आचरण एक अवलम्बन मात्र है, करना क्या है, वह अपने अंतरंग में अपने आप सहज अनुभव की जाने वाली चीज है।

पर से दुःख और निज से सुख – अभी कुछ पूर्व में यह बताया गया था कि परपदार्थ तो पर ही है, उनसे दुःख होता है और अपना आप आप ही है उससे सुख होता है, क्योंकि जो परपदार्थ है वे सदा मेरे निकट नहीं रह सकते हैं। जो परपदार्थ है वे अपनी ही परिणमनशीलता के कारण अपनी योगतानुसार परिणमेंगे, मेरी कल्पना से नहीं। ये दो मुख्य प्रतिकूलताएँ आती हैं इस कारण किसी पर से स्नेह करने में सुख नहीं रहता ? लोक में भी कहते हैं कि अपना है सो अपना ही है, अर्थात् जो खुद का घर है उसे कौन छुटा लेगा। उसमें रहना भला है। जो खुद के परिजन हैं वे कहाँ भाग जायेंगे, उनका विश्वास किया जा सकता है, किन्तु जो गैर है, जो पराधीन मकान है, दूसरे का है, उस पर स्नेह करना भला नहीं है। जरा और अपने हितमार्ग में अंतः टटोलकर निरखो। जो पर है, याने परिजन, धन सम्पदा आदि पर है, अपने आत्मतत्त्व को छोड़कर जितने भी अनात्मपदार्थ हैं वे सब पर हैं, ये भिन्न हैं, इनका वियोग होगा, ये मेरी इच्छा के अनुकूल परिणमते हैं, इस कारण उनके स्नेह में सदा क्लेश रहता है और अपने आपका आत्मतत्त्व अर्थात् ज्ञानस्वरूप जिस ज्ञान को हम जान रहे हैं उस ही ज्ञान का स्वरूप वह मुझ में कहाँ अलग होगा, वह अन्य भी नहीं है, माया रूप भी नहीं है, वह शाश्वत शक्ति है, परमार्थ है, मुझसे तन्मय है, उसका आश्रय लेने से नियम से आनन्द होगा क्योंकि यह मैं स्वयं आनन्दमय हूँ और शाश्वत हूँ।

**आत्मपरिचय के मार्ग में** – मैं मेरे को ही पहिचानूँ तो उससे आनन्द मिलता है। इस कारण जो महात्मा जन होते हैं अर्थात् विवेकी ज्ञानी पुरुष होते हैं वे आत्मलाभ के लिए ही उद्यम किया करते हैं। इस आत्मलाभ में कौन सा अभिष्ट चमत्कार होता है? उसका वर्णन इस श्लोक में किया जा रहा है। आत्मा में किस उपाय से भोग किया जायगा, किस तरह अनुष्ठान बनेगा, कैसे अध्यात्मवृत्ति बनेगी, उसके लिए प्रथम उपाय यह जीव करता है प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप व्यवहार का। कोई पुरुष जन्मते ही शुद्ध निश्चय अध्यात्म का परिज्ञान और प्रयोग करता हुआ नहीं आया। यह बात बने तब बने, किन्तु उससे पहिले क्या स्थितियाँ गुजरी, कितना व्यवहार किया, सत्संग, देवदर्शन, सदाचार, अध्ययन और कुछ मनन ध्यान का उद्योग आदि ये बहुत-बहुत प्रकार प्रवृत्तियाँ चलती रही। किसी दिन किसी क्षण जो कि एक नया दिन है समझना, आत्मा के लिए मिला। अपने सहज चित्स्वरूप की दृष्टि जगे तो आत्मा का परिचय मिले। लेकिन प्रथम तो प्रवृत्ति और निवृत्ति का व्यवहार ही चला करता है। अब जब आनन्दमय निज अंतस्तत्त्व का आश्रय हो तब उसके व्यवहार की स्थिति नहीं रही अब वह न कहीं प्रवृत्ति करता है और न कहीं निवृत्ति करता है। लोग अध्यात्म योग के अर्थ की गई विभिन्न परिस्थितियों में साधनाओं के मर्म को न जानकर कितने ही संदेह करने लगते हैं और कुछ नहीं करना चाहते। न पूजन, न ध्यान, न सत्संग। वे यह कहने की उलायत मचाते हैं कि ये पूजनादिक सब तो व्यवहार बताये गये

है, इनसे भी अलग होकर धर्म मिलता है। ठीक है यह, किन्तु समर्थ स्थिति में ही प्रवृत्ति निवृत्ति का व्यवहार छूटता है। अपने भीतर के तत्व को न जान पाये और बहारों प्रवृत्तियों के ही कोई मार्ग निरखे तो उससे केवल धोखा ही होगा।

**विवेक की दशा** – भैया! किसी ज्ञानी की बाहरी वृत्ति को निरखकर ज्ञानमर्म से अनभिज्ञ पुरुष बाह्य प्रवृत्ति को करके कही संतोष का मार्ग न पा लेगा। मुक्ति का मार्ग, शान्ति का मार्ग नो अंतरंग ज्ञानप्रकाश में है। और उसको थोड़े ही शब्दों में कहना चाहें तो यह कहलें कि समस्त परसे न्यारा केवल ज्ञानमात्र यह मैं आत्मतत्व हूँ। जो ज्ञान और आनन्द रससे परिपूर्ण है ऐसा ज्ञान करें, श्रद्धान करें और ऐसा ही अपना संकल्प बना ले कि मुझे अब इस आनन्दघाम से हटकर कही बाहर में नहीं लगना है। कदाचित् लगना भी पड़े तो उसकी स्थिति सेठ के मुनीम जैसी बने। जैसे मुनीम सारे कामों में लग रहा है। रोकड़ सम्हाले, बैंक का हिसाब रक्खे, और कोई ग्राहक आये उसे हिसाब बताना पड़े तो यह भी कह देता है कि मेरा तुम पर इतना गया, तुम्हारा हम पर इतना आया, इतने सब व्यवहार करके भी मुनीम की श्रद्धा में दोष नहीं है। वह जान रहा है कि मेरा यह वर्तमान परिस्थिति में करने का काम है। कर रहे हैं किन्तु मेरा कुछ नहीं है। तो कुछ करना भी पड़े और अपनी ही और झुकाव रहे तो अपनी रक्षा है। कोई किसी भी रक्षा न कर सकेगा।

**मोह, राग द्वेष में अकल्याण** – भैया ! किसी में मोह रागद्वेष करने का परिणाम भला नहीं है। किसमें मोह करते हो? कौन तुम्हारा कुछ सुधार कर देगा? यदि कोई शाश्वत आनन्द पहुंचा दे तो मोह करो, किन्तु कौन ऐसा कर सकता है? आनन्दमय करने की बात तो दूर रहो, यह दृश्यमान समागम तो केवल क्लेश का ही कारण है। यह परिजनों का जो समागम हुआ है वह प्रकट भिन्न और असार है, किसमें राग करना? कोई पुरुष मेरा विरोधी नहीं है ऐसा निर्णय करके यह भी भावना बनाओ कि मुझे किसी में द्वेष भी नहीं करना है। जो भी पुरुष जो भी चेष्टा करता है उसके भी दिल है, उसमें भी अपने प्रयोजन की चाह है, उसके भी कषायों की वेदना है, वह अपने कषाय की वेदना को शान्त करने का उद्यम कर रहा है, वह अपने अभीष्ट स्वार्थ को सिद्ध करने का उद्योग कर रहा है। इसके लगा हो अपना स्वार्थ और वहाँ जंचे बाधा, तो इसने कल्पना करली कि उसने मुझे कष्ट दिया, इसने नुकसान पहुंचाया। उस बेचारे ने अपने आप में अपना काम करने के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं किया, किसे द्वेषी माना जाय? इस जगत में कोई मेरा विराधी नहीं है, इस दृष्टि से जरा निहार तो लो। किसी को विरोधी मान- मानकर कोई काम बना पाता हो तो बतलावों। अरे विरोध को मिटाना है तो उसका मिटाना अत्यन्त सुगम है। विरोधी न मानकर उसे सद्व्यवहारी मान लो, विरोध एकदम खत्म हो जायगा, अर्थात् जब विराध भाव नहीं रहा तो जिसका विराधी नाम रखा था वह मित्र बन जायगा।

**वस्तुस्वरूप का दृढतम दुर्ग**— यह वस्तुस्वरूप का दुर्ग बड़ा मजबूत है। किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु का न द्रव्य, न स्वभाव, न गुण, न पर्याय कुछ प्रवेश नहीं करता है। बड़े-बड़े रासायनिक, वैज्ञानिक प्रयोग भी कर लें तो वहाँ भी आप मूल बात पायेंगीं की जो मूल सत् है वह पदार्थ न किसी दूसरे रूप होता है और न उसका कभी अभाव होता है। यह बात अवश्य चलती है कि किसी पदार्थ के संयोग का निमित्त पाकर दूसरे पदार्थ भी दूसरे के अनुरूप परिणमते हैं। इस ही को व्यवहार में लोक कहते हैं। देखो यह भी बन गया। जो यह है वह यह ही रहेगा। जो वह है वह वह ही रहेगा। केवल निमित्तनैमित्तिक प्रसंग में निमित्त के सद्भाव के अनुरूप पर्याय बन जाती है। जगत में जितने भी सत् है उनमें से न कोई एक कम हो सकता है और न कोई असत् सत् बन सकता है, केवल एक पर्याय ही बदलती रहती है। जितने भी पदार्थ हैं वे सब परिवर्तनशील होते हैं, पर मूल सत्त्व को कोई पदार्थ नहीं छोड़ता है। यह मैं आत्मा स्वयं सत् हूँ और किसी भी पररूप नहीं हूँ।

**योगी का ज्ञान, समाधिबल व आनन्दविकास** — ये सकल पदार्थ अपना सत्त्व तभी रख सकते हैं जब त्रिकाल भी कोई किसी दूसरे रूप न परिणमन जाये। ये दो अंगुली है एक छोटी और एक बड़ी। ये अपना सत्त्व तभी रख सकती है जब एक किसी दूसरे रूप न परिणम जाये। अंगुली का दृष्टान्त बिल्कुल मोटा है क्योंकि यह परमार्थ पदार्थ नहीं है। यह भी मायारूप है, किन्तु जो परमार्थ सत् है वह कभी किसी दूसरे रूप हो ही नहीं सकता है। जब ऐसा समस्त पदार्थों का स्वरूप है तब मैं किसके लिए मोह करूँ, किसके लिए राग और द्वेष करूँ? परोपयोग के व्यर्थ अनर्थ श्रम से विश्राम लेकर जो अपने आत्मा में ठहरता है, सहज विश्राम लेता है ऐसे योगी पुरुष इस समाधिबल से कोई विचित्र अलौकिक अनुपम आनन्द प्रकट होता है।

**विषयविपदा** — भैया ! ये विषयो के सुख कोई आनन्द है क्या? इनमें तो दुःख ही भरा हुआ है। जितने काल कोई भोजन कर रहा है उतने काल भी वह शान्त नहीं है। सूक्ष्म दृष्टि से देखो — इन विषयो के सुख में जो भी कल्पना उठती है वह शान्ति की प्रेरणा को पाकर नहीं उठती है, किन्तु अशान्ति की प्रेरणा को पाकर उठती है, कोई भी विषयभोग, किसी भी इन्द्रिय का साधन न पहिले शान्ति करता है, न भोगते समय शान्ति देता है और न भोगने पर शान्ति देता है। जिन भोगो के पूर्व वर्तमान और भविष्य अवस्थ क्लेशरूप है उन ही भोगो के लिए अज्ञानी पर शान्ति देता है। जिन भोगो के पूर्व वर्तमान और भविष्य अवस्थ क्लेशरूप है उन ही भोगो के लिए अज्ञानी पुरुष अपना सब कुछ न्योछावर किये जा रहे हैं आनन्द यहाँ कहीं न मिलेगा। अरे एक दिन ये सब कुछ छोड़कर चले जाना है। जिस समय है उस समय भी ये तेरे कुछ नहीं है। तू सबसे विविक्त प्रत्यक्ष ज्योतिस्वरूप अपने अंतस्तत्त्व का अनुभव करे। यही धर्म पालन है।

**अध्यात्मयोग** – जो पुरुष प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप व्यवहार से मुक्त होकर आत्मा के अनुष्ठान में निष्ठ होते हैं अर्थात् अध्यात्म में अपने उपयोग को जोड़ते हैं उनके उससे अलौकिक आनन्द होता है। योगी का अर्थ है जोड़ने वाला। यहाँ हिसाब में भी तो योग शब्द बोलते हैं। कितना योग हुआ अर्थात् दो को मिलाकर एक रस कर दे इसी के मायने तो योग है। चार और चार मिलाकर कितना योग हुआ? आठ। अब इस आठ में पृथक-पृथक चार नहीं रहे। वह सब एक रस बनकर एक अष्टक बन गया है। इस प्रकार ज्ञान करने वाला यह उपयोग और जिसका ज्ञान किया जा रहा है ऐसे उपयोग की ही आधारभूत शाश्वत शक्ति इस शक्ति में इस व्यक्ति का योग कर दो। अर्थात् न तो व्यक्ति को अलग बता सकें और न शक्ति को अलग बता सकें, किन्तु एक रस बन जाय इस ही को कहते हैं अध्यात्मयोग।

**निज में ही निज के योग की संभवता** – भैया! गलत योग नहीं कर लेना, परपदार्थ में अपने उपयोग को जोड़कर एकमेक करने का गलत हिसाब नहीं लगाना है। गलत हिसाब लग भी नहीं सकता है। किसी भी परपदार्थ में अपने उपयोग को जोड़े तो कितना ही कुछ कर डाले, जुड़ ही नहीं सकता। भले ही कल्पना से मान लो गलत हिसाब को कि मैंने सही किया, पर वहाँ जुड़ ही नहीं सकता। पर के प्रदेश भिन्न है, पर में है, अपने प्रदेश भिन्न है, अपने में है। इस शक्ति का और इस उपयोग का योग जुड़ सकता है, क्योंकि यह भी एक चैतन्य है और यह अंतस्तत्व भी चैतन्यस्वरूप है। जैसे समुद्र और समुद्र की लहर का समुद्र में योग हो सकता है क्योंकि लहर भी समुद्ररूप है और समुद्र तो समुद्र ही है, इस ही प्रकार इस उपयोग का इस परमब्रह्मा में योग हो सकता है, ऐसा योग जिनके होता है। उन योगी पुरुषों के कोई अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है।

**आत्मकर्तव्य** – जब तक दृश्यमान बाह्यपदार्थ में किञ्चित् मात्र भी ममता रहती है तब तक स्वरूप में लीनता नहीं हो सकती है, किन्तु जब अध्यात्मयोगी की किसी भी बाह्य तत्व में कोई ममता नहीं रहती तो वह स्वरूप में लीन होता है। यही स्वरूपलीनता परम तत्व की प्राप्ति का कारण है। यह चीज होगी रागद्वेष के अभाव से। रागद्वेष मिटेंगे वस्तुतस्वरूप के यथार्थ ज्ञान से। इस कारण वस्तुस्वरूप के यथार्थज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। जो अनुभव में उतरे, जो यथार्थ ज्ञान है उस ज्ञान का अर्जन करे। वह गुरु कृपा बिना नहीं हो सकता। यदि साक्षात् गुरु न मिले कभी तो ये ग्रन्थ भी गुरु ही हैं? क्योंकि वे जो बोलते थे वह सब यहाँ अक्षरो रूप में है। इस प्रकार स्वाध्याय और सत्संग करके अपने ज्ञानार्जन का उद्यम करे, यह ही अपने कल्याण का उपाय है।

**आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मन्धनमनारतम।**

**न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतन।।४८।।**

**आत्मोत्थ शुद्ध आनन्द का परिणाम** – पूर्व श्लोको में यह कहा गया था कि जो योगी न तो प्रवृत्ति रूप व्यवहार कर रहा है और न निवृत्ति रूप भी व्यवहार कर रहा है इन दोनों व्यवहार से ऊपर स्वरक्षित होकर जब आत्मा के उपयोग में उपयुक्त होता है उस समय इस अपूर्व योग के प्रसाद से उस योगी के अपूर्व आनन्द प्रकट होता है। अब श्लोक में यह कहा जा रहा है कि उस आनन्द का फल क्या मिलता है आनन्द भव-भव के बाँधे हुए प्रबल कर्मरूपी ईंधन को जला डालता है। जैसे ईंधन कितने ही दिनों से ढेर करके संचित किया जाय, उस समस्त ईंधन को जलाने में अग्नि समर्थ है इस ही प्रकार विकल्पो से जितने भी कर्म बंधन संचित किये हैं उन कर्मों को नष्ट करने यह योगी का आनन्द समर्थ है।

**अध्यात्मयोग की आनन्दमग्नता से कर्मप्रक्षय** – भैया! बाह्य में साधुजनों की तपस्या कायक्लेशरूप दिखती है लोगो को कि ये बहुत उपवास करते हैं, एक बार भोजन पान करते हैं आदि कितनी कठिन विपत्तियाँ सहते हैं? लोगो को दिखता है कि ये कष्ट सह रहे हैं पर वे कष्ट सह रहे हों तो उनके कर्म नष्ट नहीं हो सकते। वे तो किसी अपूर्व आनन्द में मग्न हो रहे हैं जिस आनन्द के द्वारा वे कर्म नष्ट हो जाते हैं, जो हम आपके आत्मा में चिकाल से बंधे हैं। कर्म शब्द के अर्थ पर दृष्टि डालो। कर्म शब्द के दो अर्थ हैं एक तो जो आत्मा के द्वारा किया जाय उसका नाम कर्म (भाव कर्म) है। दूसरे इस कर्म के निमित्त से जो कार्माणवर्गणा कर्मरूप होती वह कर्म है।

**भावकर्म और द्रव्यकर्म** – यह जीव जो कुछ भी करता है, उसका नाम कर्म है। जैसे रागद्वेष विकल्प संकल्प मोह ये सब कर्म कहलौते हैं, इसका नाम भावकर्म है। भावकर्म तो जिस समय किया उस ही समय रहा, बाद में नहीं रहते। क्योंकि भावकर्म जीव के एक समय की परिणति है, और उपयोग में आने की दृष्टि में अन्तर्मुहूर्त की परिणति है। वह परिणति दूसरे क्षण नहीं रहती। दूसरे क्षण अन्य रागद्वेष मोह उत्पन्न हो जाते हैं। प्रत्येक जीव के जिस समय रागद्वेष होता है वैसा परिणमन दूसरे क्षण नहीं रहता। इस कारण भावकर्म तो अगले क्षण नहीं रहते, नये-नये भाव उत्पन्न होते रहते हैं, किन्तु उस नवीन क्षणिक भावके कारण जो कर्म बनते हैं, ज्ञानावरणादिक कर्म बनते हैं उनमें कितने ही कर्म अनगिनते अरबों, खरबों वर्ष तक इसके साथ रहते हैं, और वे उतने वर्षों तक जीव को सताने के कारण बन रहे हैं। एक क्षण की गल्ती से अरबों खरबों वर्ष तक जीव को कष्ट सहना पड़ता है।

**कर्मस्थिति का समर्थन** – जैसे कोई पुरुष रसना इन्द्रिया के स्वाद में आकर किसी हानिकारक चीज को खा जाय तो खाने में भागने में कितना समय लगा? दो तीन मिनट का, किन्तु उससे जो दर्द बनेगा, रोग बनेगा वह भोगना पड़ेगा घंटों। ऐसे ही रागद्वेष करना तो आसान है, स्वच्छन्दता है, जो मन में आए सो कर लो, पुण्य का उदय है। जिस

चाहे को सताकर अपने मनको खुश कर लो, जिस स्त्री या पुरुष के प्रति कामवासना उत्पन्न हो, और-और भी पाप कार्य कर लो, केवल एक दो मिनट ही तो वह पाप कार्य करता है किन्तु उन पापों के करने के कारण जो द्रव्यकर्म बंध है वे जीव के साथ अनगिनते वर्ष तक रहेंगे।

**क्षणिक गलती से असंख्याते वर्षों तक क्लेश भोग**— आगम में बताया गया है कि कोई मन वाला पुरुष जिसके विशेष समझ उत्पन्न हुई है वह मोह करेगा, गडबड़ी करेगा तो उस तीव्रमोह में 70 कोड़ाकोड़ी सागर तक के लिए कर्म बँध जाते हैं। अभी बतावेगे कि कोड़ा-कोड़ा सागर क्या चीज होती है। कर्म इस लोक में बहुत सूक्ष्म कार्माण मैटर है। वह कार्माण स्कंध के नाम से प्रसिद्ध है। वह सब जगह भरा है, और इस मोही मलिन जीव के साथ तो बहुत सा सूक्ष्म मैटर साथ लगा रहता है जो इसके लिए सदा तैयार है। यह जीव कुछ मलिन परिणाम तो करे कि कर्म रूप बन जायेगें, जिसे विम्रसोपचय कहते हैं। ये कर्म रूप बनेगें तो 70 कोड़ाकोड़ी सागर तक के लिए भी बँध जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ वर्षों के बाद वे कर्म जब उदय में आतें हैं तो अनगिनतें वर्षों तक उदय में आ आकर इस जीव को क्लेश के कारण बनते हैं।

**सागर का प्रमाण** — सागर का समय बहुत लम्बा समय है। यह गिनती में नहीं बताया जा सकता है। जिस चीज को गिनती में बताया ही न जा सके उसको किसी उपमा द्वारा बताया जायगा। कल्पना करो कि 2 हजार कोश का कोई लम्बा चौड़ा गड्ढा है। सब कल्पना पर बात चलेगी, न कोई ऐसा कर सकता है। न किया जा सकेगा। परंतु इतना लम्बा समय कितना है इसका परिज्ञान करने के लिए एक उपमारूप में बताया गया है। उस विशाल गड्ढे में छोटे-छोटे रोम खण्ड जिनका दूसरा खण्ड किया न जा सके, भर दिया जाय ठसकर और मानो उस पर हाथी फिरा दिया जाय, फिर उन बालो को सौ-सौ वर्ष बाद एक-एक टुकड़ी निकाला जाय, सब यह उपमा की बात है, जितने वर्षों में वे सब बाल निकल सकेंगे उसका नाम है व्यवहारपल्य। उससे असंख्यातगुणा समय लगता है उद्धारपल्य में, उससे असंख्यात गुणा समय लगता है अद्वापल्य में। एक करोड़ अद्वापल्य में एक करोड़ अद्वापल्य का गुणा करें उसका नाम है एक कोड़ाकोड़ी अद्वापल्य। ऐसे 10 कोड़ाकोड़ी पल्यो का एक सागर बनता है। एक सागर में एक करोड़ सागर का गुणा करो तब तक कोड़ाकोड़ी सागर होता है। यों 70 कोड़ाकोड़ी सागर तक ये द्रव्यकर्म इस जीव को जकड़ डालते हैं।

**दुर्लभ मनुष्यजन्म का अवसर** — यह मनुष्य कैसी-कैसी कुयोनियो को भोग-भोगकर आज प्राप्त किया है। जरा दृष्टि तो डालो — अन्य जीवों की अपेक्षा मनुष्य जीवन कितना श्रेष्ठ है। वृक्ष, पृथ्वी, इन जीवो की जिन्दगी क्या जिन्दगी है? कीड़ा मकोड़ा भी क्या मल्य रखते हैं लोग जूतो से कुचलते हुए चले जाते हैं, उनका कुछ भी मूल्य नहीं समझते। पशु

पक्षी भी बन जाय तो भी क्या है, अक्षर नहीं बोल सकते। दूसरे की बात नहीं समझते। अटपट उनका भोजन, कैसी उनकी आकृति? परंतु मनुष्य को देखो यह विवेक कर सके, सब पर हुकूमत कर सके, बड़े बड़े साहित्य रच सके, एक दूसरे के हृदय की बात समझ सके, कितने विकास वाला यह मनुष्य जीवन है? इतना विकास पाने के बाद यदि विषयकषाय पापों में ही अपना समय गंवाया तो उसका फल यह होगा कि जिन कुयोनियों से निकलकर मनुष्य पर्याय में आये है उन ही कुयोनियों में जन्म लेना पड़ेगा।

**आत्मप्रभुपर अन्याय के दुष्परिणाम का दृष्टान्तपूर्वक प्रदर्शन** – एक साधु था। उसके पास एक चूहा बैठा रहा करता था। चूहा को साधु का विश्वास रहा करे सो वहाँ बैठ जाया करे। एक बार कोई बिलाव उस चूहे पर झपटा तो साधु ने आशीर्वाद दिया चूहे को कि विडालों भव, तू भी बिलाव हो जा, सो वह चूहा भी बिलाव हो गया, उस पर झपटा एक कुत्ता तो साधु ने आशीर्वाद दिया कि श्वानो भव। तू भी कुत्ता बन जा, सो वह कुत्ता हो गया। अब उस पर झपटा एक तेदुवा (व्याघ्र)। तो साधु ने आशीर्वाद दिया कि व्याघ्रो भव। तू व्याघ्र हो जा। सो वह कुत्ता भी व्याघ्र हो गया। उस पर झपटा एक शेर। सो साधु ने आशीर्वाद दिया कि सिंहो भव। तू सिंह बन जा। वह भी सिंह बन गया। अब उसे लगी भूख, सो उसने सोचा कि क्या खाना चाहिए? ध्यान आया कि अरे ये ही साधु महाराज तो बैठे है, इन्हीं को खाकर पेट भर लेना चाहिए। सो ज्यों ही साधु को खाने का संकल्प किया और कुछ उद्यम करना चाहा त्यों ही साधु ने आशीर्वाद दिया कि पुनः मूषको भव, तू फिर चूहा बन जा, वह फिर चूहा बन गया। अरे कितना उठकर सिंह बन गया और जरा सी गफलत में चूहा बनना पड़ा। ऐसे ही हम आपके भीतर विराजमान जो कारणपरमात्मतत्व है, परमब्रह्म स्वरूप है, विशुद्ध समयसार है, ज्ञानानन्द स्वभाव है उसका आशीर्वाद मिला, कुछ विकास बना तो यह स्थावरों से उठकर कीड़ा मकोड़ा बना, उससे भी और बढ़कर पशु पक्षी बना, वहाँ से भी उठकर अब यह मनुष्य बना। अब मनुष्य बनकर इस परमब्रह्मस्वरूप पर, इस कारणपरमात्मतत्व पर हमला करने की ठान रहा है।

**आत्मदेव पर मनुष्य का अन्याय** – जो मनुष्य विषय भोगता है, कषायों में प्रवृत्त होता है, मोह रागद्वेष को अपनाता है वह इस प्रभु पर ही तो अन्याय कर रहा है। जिस प्रभु के आशीर्वाद से, प्रभु के प्रसाद से जघन्य योनियों से निकलकर मनुष्य जैसे उत्तम पद में आए है, तो अब यह मनुष्य कैसी कलावो से विषयो का सेवन कर रहा है, यह कभी बैल, घोड़ा, गधा था। ये कलापूर्वक कुछ विषयसेवन नहीं कर पाते है और मनुष्य को योग्यता विशेष नहीं मिली ना, सो बढ़िया, साहित्यिक ढंग से बढ़िया रागभरी कविताएँ बनाकर कितनी कलावो से यह विषय भोग रहा है और कितना प्रसार कर रहा है? सब जीवों से अधिक अन्याय कर सकने वाला यह मनुष्य है, यह अपने आप के प्रभु पर अन्याय कर रहा है। यह जीव आनादि से निगोद अवस्था में था। निगोद कहते है, पेड़ और पृथ्वी



से भी खराब योनि को। एक शरीर के अनन्त जीव स्वामी है। कितनी कलुषित निगोद की योनि है? वहाँ से निकलकर धीरे-धीरे विकास करके यह मनुष्य बना और अब यह अपने आश्रयभूत इस परमात्मप्रभु पर हमला करने लगा, विषय कषायों का परिणमन करने लगा, यही तो प्रभु पर अन्याय है। तो इस प्रभु ने भीतर से फिर आशीर्वाद दिया कि पुनः निगोदो भव। तू फिर से निगोद बन जा। तो मनुष्य जैसी उत्कृष्ट योनि पाकर फिर निगोद बन जाता है। ऐसे ये विकट कर्म बंधन है।

**धर्म का आनन्द और कर्मक्षय** – इन विकट कर्म ईधनों को जलाने में समर्थ शुद्ध आनन्द है, कष्ट नहीं है। धर्म कष्ट के लिए नहीं होता। धर्म कष्टपूर्वक नहीं होता। धर्म करते हुए में कष्ट नहीं होता। कोई पुरुष जो यथार्थ धर्मात्मा है वह धर्म करने की भावना कर रहा हो तो वह प्रसन्नता और आनन्दपूर्वक ही कर सकेगा, कष्ट में नहीं जिस काल में धर्म किया जा रहा है उस काल में भी कष्ट नहीं हो सकता है, वहाँ भी आनन्द ही झर रहा होगा और धर्म करने के फल में उसे आनन्द ही मिलेगा। आनन्द में ही सामर्थ्य है कि भव-भव से संचित कर्मों को क्षणमात्र में जला सकता है। **“कोटि जन्म तप तपै ज्ञान बिन कर्म झरै जे! ज्ञानी के छिनमाहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरेंते।”** अज्ञानी पुरुष बड़ी-बड़ी तपस्या करके करोड़ों भवों में जितने कर्म जला सकते हैं उतने कर्मों को ज्ञानी एक क्षण में ज्ञानबल से नष्ट कर देता है। इस मनुष्य-जीवन का सुन्दर फल प्राप्त करना हो तो एक निर्णय बना लो कि हमें ज्ञानप्रकाश का आनन्द लूटना है। घर में चार छः जन हैं ना, सो उनका कुछ ख्याल रहता है, तो उनको भी धर्म के रंग में ऐसा रंग दो कि वे सब भी धर्मी बन जायें मोह रागद्वेष की फिर पद्धति न रहेगी। उनका भी भला करवा दो और अपना भी भला कर लो। दूसरे का भला करना अपने आधीन तो है नहीं लेकिन सम्बंध है तो व्यवहार ऐसा करो कि उनमें भी धर्मभावना जाग्रत हो, और एक ज्ञानप्रकाश के लिए ही मनुष्य जीवन समझो।

**धर्मपथ-** भैया! आत्मा के हित का पंथ निराला है और दुनियादारी का पंथ निराला है। कोई मनुष्य चाहे कि मैं दुनिया का आनन्द भी लूट लूँ और साथ ही आत्मा का हित भी कर लूँ तो ये दोनों बातें एक साथ नहीं मिलती हैं। निर्णय कर लो कि तुम्हें क्या प्यारा है? देखो दुनिया में अपना नाम कर जाने की धुन बनाना, धनसंचय की भावना बनाना, देश के लिए मर जाना, इनसे भी ज्ञानभावना प्रकट नहीं होती है। इस धर्मी को समूचे देश से अथवा धन वैभव से क्या मिलेगा? कुछ भी तो न मिलेगा। यह परोपकार के लिए नहीं है, किन्तु ज्ञानी पुरुष अपने को ज्ञान में, ध्यान में लीन होने में असमर्थ समझ रहा है जब तक तब तक विषय किन्तु ज्ञानी पुरुष अपने को ज्ञान, ध्यान में लीन होने में असमर्थ समझ रहा है जब तक तब तक विषय कषाय जैसे गंदे परिणाम मेरे मे घर न कर पायें उनसे बचने के लिए परका उपकार है। जो केवल पर के लिए ही परका उपकार समझते हैं वे धर्म से भी

गये और धन से भी गए, और श्रम कर करके तकलीफ भी भोगी, और जो परोपकार का अंतः मर्म समझते हैं उनसे परोपकार भी वास्तविक मायने में हुआ, स्वयं भी प्रसन्न रह गया। मोक्षमार्ग भी, धर्मपालन भी साथ-साथ चला।

**अध्यात्मयोगी के संकटों में खेद का अभाव** – वह योगी पुरुष अपनी ध्यानसाधना में रहकर जिन संकटों को सामना कर रहा है उन्हें यह कष्ट नहीं समझता। लोग समझते हैं कि संकट आ रहे हैं लेकिन वह उन दुःखों को दुःख नहीं समझ रहा है। वह तो अपने अनादिकाल से बिछुड़े हुए परमपिता, परमशरण चिदानन्दात्मक प्रभुता का दर्शन मिला, उस आनन्द में यह मग्न हो रहा है, और इस शुद्ध आनन्द का ही प्रताप है कि भव-भव के संचित कर्म उसके क्षण मात्र में नष्ट हो जाते हैं, उसे खेद नहीं होता। खेद करने से छोटे कर्मों का बंध होता है। प्रसन्नता तो तब मिल सकती है जब इन बाह्यपदार्थों में मोह ममता का सम्पर्क न बढ़ाये, ज्ञाताद्रष्टा रहे, जो कुछ बाह्य में होता है उसके जाननहार रहे।

**दुनिया के अजायबघर में निःसंकट रहने का उपाय** – यह दुनिया अजायबघर है, अजायबघर में दर्शकों को केवल देखने की इजाजत है, छूने की या कुछ जेब में धरने की इजाजत नहीं है। यदि कोई आज्ञाविरुद्ध काम करेगा तो वह गिरफ्तार हो जायगा, ऐसे ही ये सर्वसमागम अजायबघर हैं, परमार्थ नहीं हैं, इनको देखने की इजाजत है ईमानदारी से। छूने की इजाजत, अपनाने की इजाजत नहीं है। जो किसी भी अनात्मतत्त्व को अपनायेगा वह बंधन में पड़ेगा और अनेक भवों तक उसे कष्ट भोगना होगा। सब जीव हैं, एक समान हैं, उनमें से किसी एक दो को ही अंतरंग में पकड़कर रह जाना है, इसका क्या फल मिलेगा? सो यह बिलबिलाता दृश्यमान जीवलोक ही प्रमाण है। अब तो ऐसा अंतः पुरुषार्थ बनायें और अपने आपके स्वरूप में रमने का यत्न करें जिससे संकटों का समूल विनाश है। इसके लिए सत्संगति, ज्ञानार्जन, परोपकार सब कुछ उपाय करें। आत्मदृष्टि से ही महारे संकट दूर हो सकेंगे।

**अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत् ।**

**तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥४९॥**

**आत्महितकर परमज्योति** – आत्मा का परमहित करने वाला परमशरण तत्त्व क्या है? इस संबंध में बहुत पूर्व प्रसंग से वर्णन चल रहा है। आत्मा का हित आत्मतत्त्व के सहज ज्ञानज्योति के अवलम्बन में ही है वही जिन आत्माओं को इष्ट हो जाता है। उसका कल्याण होता है, किन्तु जो व्यामोही पुरुष केवल परिजन सम्पदा को ही इष्ट मान पाते हैं रात दिवस उन ही परिजनों की चिन्ता में समय खो दिया करते हैं उनका शरण इस लोक में कोई नहीं है। शरण तो किसी का कोई दूसरा हो ही नहीं सकता, हम तो हमारे लोक में कोई नहीं हैं शरण तो लोक में कोई नहीं है। शरण तो किसी का कोई दूसरा हो ही नहीं सकता, हम ही हमारे शरण हैं। तब शरण होने की पद्धति से खुद में खुद का अनुभव किया

जाय। यह ज्ञानज्योति यह शुद्ध ज्ञानस्वरूप जो निर्विकल्प स्थिति करके अनुभवो में आ सकने योग्य है यह ज्ञानज्योति समस्त चाह का भेदन कर देने वाली है। जैसे सूर्य प्रकाश गहन अंधकार को भी भेद देता है इस ही प्रकार ज्ञानज्योति भ्रम के गहन अंधकार को भेद देती है।

**अज्ञानान्धकार और उसका भेदन** – भैया – कितना बड़ा अंधेरा यहाँ कि है तो मेरा परमाणु मात्र भी कुछ नहीं और उपयोग ऐसा पर की और दौड़ गया है कि परिजन और सम्पदा को यह अपना सर्वस्व मानता है। यह विचित्र गहन अंधकार है। सर्व पदार्थ विमुक्त हो जायेगें, इस पर अज्ञानी घुटने टेक देते है। जीवनभर कितने ही काम कर जाय अर्थात् कितनी ही धन सम्पदा निकट आ जाय, पर एक नियम सब पर एक समान लागू है। वह क्या कि सब कुछ छूट जायगा। इस व्यामोही जीवन ने यहाँ घुटने टेक दिये। वहाँ तो अज्ञान की प्रेरणा से रात दिवस खोटे-खोटे कार्यों में ही जुट रहे है लेकिन यहाँ वश नहीं चलता, और इसी कारण अज्ञानी मोहियों के दिमाग भी कभी-कभी सुधार पर आ जाया करते है। यह ज्ञानप्रकाश अज्ञान अंधकार को नष्ट करने वाला है। यह ज्ञानस्वरूप खुद का भी प्रकाश करता है और दूसरो का भी प्रकाश करता है। खुद ज्ञानस्वरूप है इसलिए खुद ज्ञान का प्रकाश कर ही रहा है, किन्तु इस ज्ञान में ये समस्त परपदार्थ भी आते हे, उनका भी प्रकाश है। यह उत्कृष्ट ज्ञानरूप है।

**भेदविज्ञान से स्वातन्त्र्यपरिचय** – वस्तु में पूर्ण स्वतंत्रता भरी हुई है, इसका जिस ज्ञानी को परिचय हो जाता है वह सम्यग्ज्ञान पर न्यौछावर हो जाता है। लोग कहा करते है कि मकान बनाया, दुकान बनाया, यह बात तो बिल्कुल विपरीत है। यह मनुष्य कहाँ ईट पत्थर को बनाता है। ईट पत्थर में अपना कुछ लगा दिया हो ऐसा तो कुछ नजर नहीं आता है। अब इससे और कुछ गहरे चलें तो यह कह देते है कि मकान दूकान तो नहीं बनाता है जीव किन्तु अपने-अपने पैरों को चलाता है। यह भी बात विपरीत है। आत्मा के हाथ पैर ही नहीं है। वह तो एक ज्ञानप्रकाश है, आकाश की तरह अमूर्त और निर्लेप है, यह हाथ भी नहीं चलाता है, पैर और जिहा भी नहीं चलाता है। ये क्रियापरिणत हो जाते है निमित्तनैमित्तक संबंध से। इस बात का भी ख्याल रहा तो बतावेंगे। अब आगे और चलें तो यह ध्यान में आता कि आत्मा हाथ पैर भी नहीं चलाता है किन्तु रागद्वेष की कल्पनाओ को तो करता है, यहाँ भी विवेक बनाये। आत्मा है ज्ञानस्वरूप। आत्मा में रागद्वेष विकार करने का स्वभावतः कर्तृत्व नहीं है। ये रागादिक हो जाते है, इन्हे आत्मा करता नहीं है।

**दृष्टान्तपूर्वक वस्तुस्वरूप का परिचय** – वस्तु का स्वतन्त्र परिणमन समझने के लिए एक दृष्टान्त लो – दर्पण सामने है, उसे दर्पण में सामने खड़े हुए दसों लड़को के प्रतिबिम्ब आ गए है। यद्यपि वह प्रतिबिम्ब दर्पण में हैं लेकिन दर्पण तो अपने में अपनी स्वच्छता की वृत्ति बना रहा है। ऐसे ही इस आत्मा में रागद्वेषो के परिणमन आ गए है, इस आत्मा ने

रागद्वेषो को पैदा नहीं किया है। यह आत्मा रागद्वेषो का भी कर्ता नहीं है। इस समय बात अध्यायत्ममर्म की बात चल रही है और चलेगी, लेकिन ध्यान से सुनने पर सब सरल हो जायगा हाँ इन रागद्वेषो का भी करने वाला यह आत्मा नहीं है।

**निज में निज का परिणमन** – अब कुछ और आगे चलकर यह समझ रहा है जीव कि यह रागद्वेष का करने वाला तो है नहीं, किन्तु यह चौकी को, पुस्तक को, जितनी भी वस्तुएं सामने आयी है उन सबको जानता तो है। अपने आत्मा को तकें जरा, यह कितने बड़ा है, कितनी जगह में फैला है, कैसा स्वरूप है? तब ध्यान में आयगा कि यह जो कुछ कर पाता है अपने प्रदेशों में कर पाता है, बाहर कुछ नहीं करता है। तब आत्मा में एक ज्ञानगुण है, इस ज्ञानगुण का जो भी काम हो रहा है वह आत्मा में ही हो रहा है, अतः इस आत्मा ने आत्मा को ही जाना, किन्तु ऐसा अलौकिक चमत्कार है इस ज्ञानप्रकाश में कि ज्ञान जानता तो है अपने आपको ही किन्तु झलक जाता है यह सारा पदार्थ समूह। जैसे हम कभी दर्पण को हाथ में लेकर देख तो रहे हैं, केवल दर्पण को, पर पीछे खड़े हुए लड़को की सारी करामातों को बताते जाते हैं तो जैसे दर्पण को देखकर पीछे खड़े हुए सारे लड़को की करामात बताते जाते हैं इसी तरह हम आप पदार्थों को जान नहीं रहें हैं किन्तु इन पदार्थों के अनुरूप प्रतिबिम्बित हम अपने ज्ञानस्वरूप को जान रहे हैं और इस अपने आप को जानते हुए में सारा बखान कर डालते हैं।

**पर से असम्प्रक्त जीव का पर से कैसा नाता** – भैया ! अब परख लिया अपने इस आत्मा को? इसका परपदार्थों के जानने तक का भी सम्बन्ध नहीं है, किन्तु यह मोही प्राणी यह मेरा कुटुम्बी है, सम्बन्धी है इत्यादि मानता है। अहो! यह कितना बड़ा अज्ञान अंधकार है? इस महान् अंधकार को भेदने वाली यह ज्ञानज्योति है। यह ज्ञानज्योति उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप है। इसका जिसे दर्शन हो जाता है उसकी समस्त आकुलताएं दूर हो जाती है। इस कारण हे मुमुक्षु पुरुषो! संसार के संकटों से छूटने की इच्छा करने वाले ज्ञानीसंत जनो! एक इस परम अनुपम ज्ञानज्योति की ही बात पूछा करो, एक इस ज्ञानस्वरूप की ही बात चाहा करो और जब चाहे इस ज्ञानस्वरूप की ही बात देखा करो, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ चीज न चाहने लायक है और न देखने लायक है। इस ज्ञानस्वरूप के दर्शन से अर्थात् अपने आपको मैं केवलज्ञानमात्र हूँ – ऐसी प्रतीति बनाकर उत्पन्न हुए परमविश्राम के प्रसाद से अनुभव करने वाले पुरुष के अज्ञान का सर्वथा नाश हो जाता है और अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति प्रकट हो जाती है, जिस ज्ञान के प्रसाद से समस्त लोक और अलोक को यह आत्मा जान लेता है।

**स्वकीय अनन्त तेज की स्मृति** – हम आप सब में अनन्त महान तेज स्वरसतः बसा हुआ है, लेकिन अपने तेज को भूलकर पर्यायरूप मानकर कायर बना हुआ यह जन्तु विषय के साधनों के आधीन बन रहा है। जैसे कोई सिंह का बच्चा भेड़ों के बीच पलने लगा तो

भेड़ों बकरियों की तरह ही वह रहने लगा, इसको जो जैसा चाहे वैसे ही सीग मारे, गड़रिया कान पकड़कर खीचता है और वह सिंह का बच्चा उसी तरह दीन होकर रहता है जैसे भेड़ बकरियाँ रहती है। कभी किसी दूसरे सिंह की दहाड़ को सुनकर, उसकी स्थिति की देखकर कभी यह भान कर ले कि ओह मेरे ही समान तो यह हे जिसकी दहाड़ से ये सारे मनुष्य ऊटपटांग भाग खड़े हुए हैं। अपनी शूरता का ध्यान आए तो यह भी दहाड़ मारकर सारे बंधनों को तोड़ कर स्वतंत्र हो जायगा, ऐसे ही हम आप संसारी प्राणी उस तेजपुँज के प्रताप को भूले हुए हैं जिस विशुद्ध ज्ञान में यह सामर्थ्य है कि सारे संकट दूर कर दे। इस भव की बातों में ज्यादा न उलझें, यहाँ कोई संकट नहीं है। संकट तो वह है जो खोटे परिणामन उत्पन्न होते हैं, मोह रागद्वेष की वासना जगती है यह है संकट। यह मोही प्राणी प्रतिक्षण आकुलित रहता है। ये ही हम आप जब इस मोह को दूर करे, विवेक का बल प्रकट करें और अपने तेजपुँज की संभाल करे, अंतरंग में दृढ़ प्रतीति कर लें तो समस्त संकट दूर हो जायेंगे।

**आत्मोन्नति से महत्व का यत्न** – भैया ! दूसरे नेतावों को, धनिकों को देखकर विषाद न करे। वे दुःखी प्राणी हैं। यदि उन्हें ज्ञानज्ञयोति का दर्शन नहीं हुआ है, तुम उनसे भी बहुत बड़े बनना चाहते हो तो सांसारिक माया का मोह दूर करके अपने आप में शाश्वत विराजमान इस ज्ञानस्वरूप का अनुभव कर लो, तुम सबसे अधिक बड़े हो। जिन्हें कल्याण की वाञ्छा है उनका कर्तव्य है कि वे ऐसी धुन बनाएँ कि जब पूछें तो इस आत्मस्वरूप की बात पूछें, जब चाहे तब आत्मस्वरूप की बात चाहे और देखें जानें तो आत्मस्वरूप की बात ही देखें जाने, ऐसी ज्ञानज्योति प्रकट हो जाय तो फिर आकुलता नहीं रह सकती है।

**सम्यग्ज्ञान का चमत्कार** – भैया ! लग रहा होगा ऐसा कि यह योगी संतो के करने की बात गृहस्थजनों को क्यों बताना चाहिए? इससे गृहस्थ कुछ फायदा लेंगे क्या ? अपने हृदय से ही बतावों। बिडम्बना का बोझ कुछ हल्का हुआ है या नहीं? कुछ अंतरंग में प्रसन्नता जगी है या नहीं? अरे इतना आचरण नहीं कर सकता तो न सही, किन्तु करने योग्य परमार्थतः क्या काम है, उसका ज्ञान करने में ही महान् आनन्द उत्पन्न होने लगता है। सूर्य जब उदित होकर सामने आये तब आयगा, किन्तु उससे पौन घंटा पहिले से ही अंधकार सब नष्ट हो जाता है। यह चारित्र आचरण आत्मरमण, स्थिरता जब आए, किन्तु इसका ज्ञान, इसकी श्रद्धा तो पहिले से ही आकुलता को नष्ट करने लगती है। यह ज्ञानभावना समस्त दुःखों का नाश करने वाली है और आत्मा में बल उत्पन्न करने वाली है। इस ज्योति के अनुभव से जो उत्कृष्ट आनन्द होता है उससे कर्म भी क्षीण होने लगते हैं और आत्मा में भी एकाग्रता होने लगती है।

**आत्मलाभ की प्रारम्भिक तैयारी** – आत्मा के सहज स्वरूप की बात तो जानने की और लक्ष्य की है। अब इसकी प्राप्ति के लिए हम अपने पद में कैसा व्यवहार करें कि हम

इसके धारण के पात्र रह सके। प्रथम कर्तव्य यह है कि सम्पदा को भिन्न, असार, नष्ट होने वाली जानकर इस सम्पदा के खातिर अन्याय करना त्याग दे। कोई भी ऊँची बात मुझे पुरुषार्थ बिना मिलेगी कैसे? और कुछ उससे नुकसान भी नहीं है, तो हम अन्याय त्याग दे। क्योंकि जगत में जीवन के आवश्यक पदार्थों का समागम पुण्योदय के अनुसार सहज सुगमतया मिलता रहता है। अन्याय से सिद्धि नहीं होती। अन्याय वह है जिसे अपने आपपर घटाकर समझ सकते हैं कि जो बात अपने को बुरी लगती है वह बात दूसरो को भी बुरी लगती है, उसका प्रयोग दूसरो पर करना अन्याय है। ऐसा जानकर उसका प्रयोग दूसरों पर न करे, यही है अन्याय त्याग। हमारे बारे में कोई झूठ बोले, हमारी चीज चुरा ले, हमारी माँ बहिन पर कोई कुदृष्टि डाले तो हम को बुरा लगता है, तो हम भी किसी का दिल न दुखावे, किसी की झूठ बात मब कहें, किसी की चीज न चुराये, किसी परस्त्री पर कुदृष्टि न करें और तृष्णा का आदर न करें। बतावो क्या कष्ट है इसमें? इसमें न आजीविका का भंग होता है और न आत्महित में बाधा आती है।

**अन्याय व मिथ्यात्व के त्याग का अनुरोध** – भैया ! अन्याय का त्याग और मिथ्या श्रद्धान का त्याग करो। पर से हित मानना, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु में रमना, अपने आपको सर्व से विविक्त न समझ पाना – ये सब मिथ्या आशय हैं। ज्ञानप्रकाश करके इस मिथ्या आशय का भी त्याग करें और अभक्ष्य पदार्थ न खाये, ज्ञानार्जन में रत रहे, अपनी आजीविका बनाये रहें और इस शुद्धज्ञान के पालने में भी लगे। तुम्हे क्या कष्ट है इसमें? कौन सा नुकसान पड़ता है? व्यर्थ की गप्पों में और काल्पनिक मौजों की चर्चाओं में समय खाने से कुछ भी हाथ न लगेगा।

**एक ज्ञानस्वरूप की घुनि की आवश्यकता** – इस ज्ञानार्जन से शान्ति व संतोष मिलेगा। इससे इस ज्ञानज्योति के अर्जन में, इसकी चर्चा में अपना समय लगाये। इससे ही अपना सम्बन्ध बनाएँ। जैसे कोई कामी पुरुष जिस किसी परस्त्री पर आसक्त हो गया हो या किसी पर कन्या पर जैसे कि पुराणों में भी कितने ही मोहियों की चर्चा सुनी है, तो वह पूछेगा तो वही बात, जानेगा देखेगा तो वही बात, अकेले में भी भजन बोलेगा तो वही। कैसी जाती है। वह पूछेगा, चाहेगा तो एक ज्ञानस्वरूप को। हम आपका भी यही कर्तव्य है कि इस ज्ञानस्वरूप का आदर करें और संसार संकटों से सदा के लिए छुटकारा पायें।

**जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।**

**यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।।50।।**

**संक्षिप्त तत्त्वसंग्रह** – ग्रन्थ समाप्ति से पहिले द्विचरम श्लोक में यह बताया जा रहा है कि समस्त प्रतिपादित वर्णनो का सारभूत तत्व क्या है? हमें यह पूर्ण ग्रन्थ सुनने पर शिक्षा लेने योग्य बात कितनी ग्रहण करनी है, यह जानना है, वही कहा जा रहा है कि

जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है। इतना ही मात्र तत्व का संग्रह है, इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ कहा जाता है वह सब इसी तत्व का विस्तार है।

**मूल में सत्स्वरूपता** – मूल में तत्व सन्मात्र कहा गया है। जो है वह तत्व है, इस दृष्टि से जितने भी पदार्थ है वे समस्त पदार्थ सत् रूप है और इस ही दृष्टि को लेकर अद्वैतवादों की उत्पत्ति होती है। कोई तत्व को केवल एक सदब्रह्म मानते हैं, कोई तत्व को केवल शून्य मात्र मानते हैं, कोई ज्ञानमात्र, कोई चित्रोद्वैतरूप। नाना प्रकार के इन अद्वैतवादों की एक इस सदभाव से उत्पत्ति हुई है, और इस स्थिति से देखो तो कोई भी पदार्थ हो, प्रत्येक पदार्थ है, है की अपेक्षा सब समान है। जैसे मनुष्य की अपेक्षा बाल, जवान, बूढ़ा किसी भी जाति कुलका, देश का हो सबका संग्रह हो जाता है और जीव की अपेक्षा से मनुष्य हो, पशु हो, कीट हो सबका संग्रह हो जाता है और सत् की अपेक्षा जीव हो अथवा दिखने वाले ये चौकी, भीत आदि अजीव हो सबका संग्रह हो जाता है।

**विशेष से अर्थक्रिया की सिद्धि** – सत् की दृष्टि समस्त अर्थों के समान होने पर भी अर्थ क्रिया की बात देखना आवश्यक है। काम करने की बात है, प्रत्येक पदार्थ है और वे सब कुछ न कुछ काम कर रहे हैं, उनमें ही परिणमन हो रहा है। और इस अर्थक्रिया की दृष्टि से जितने भी पदार्थ है वे सब एक अपने-अपने स्वरूप में अपना एकत्व लिए हुए हैं। जैसे गौ जाति और न्यारी-न्यारी गौये। गऊ जाति से दूध नहीं निकलता किन्तु जो व्यक्तिगत गौ है उससे दूध निकलता है। जाति तो काम करने वाले अर्थक्रिया से परिणमने वाले, पदार्थ के संग्रह करने वाले धर्म का नाम है। जो ऐसी-ऐसी अनेक गौये हैं। उनका संग्रह गौ जाति में होता है। तो वास्तव में पदार्थ अनन्तानन्त तो जीव है, अनन्तानन्त पुद्गल है, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य है। उन सबका सत्वधर्म से संग्रह हो जाता है।

**जीव और पुद्गलों की अनन्तता** – जीवद्रव्य अनन्त है, इसका प्रमाण यह है कि प्रत्येक जीव अपने में अपना ही परिणमन करता है। एक परिणमन जितने में समाये और जितने से बाहर कभी न जाय उसको एक पदार्थ बोला करते हैं। जैसे मेरा सुख दुःख मेरी कल्पना आदिक रूप परिणमन जितने में अनुभूत होता है। और जिससे बाहर होता ही नहीं है उसको हम एक कहेंगे। यह मैं एक हूँ, ऐसे ही आपका सुख दुःख रागद्वेष समस्त अनुभव आप में ही परिसमाप्त होते हैं सो आप एक हैं। इस प्रकार एक एक करके अनन्त जीव हैं, लेकिन सभी जीवों का मूल स्वरूप एक समान है। अतः सब जीव एक जीव जाति में अंतर्निहित हो जाते हैं। पुद्गल भी अनन्त है जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श पाया जाए, उसे पुद्गल शब्द में यह अर्थ भरा है— पुद् मायने जो पूरे और गल मायने जो गले। जहाँ मिल-जुल कर एक बड़ा रूप बन सके और बिखर बिखरकर हल्के क्षीण रूप हो जायें

उनको पुद्गल कहते हैं। ये रूप, रस, गंध, स्पर्श, गुण के पिंड रूप जो इन्द्रिय द्वारा ज्ञान में आते हैं वे सब पुद्गल हैं।

**अचेतन अमूर्त द्रव्यो की प्रसिद्धि** – धर्मद्रव्य एक ही पदार्थ है। जो ईथर, सूक्ष्म समस्त आकाश में नहीं किन्तु केवल लोकाकाश में व्याप्त है वह जीव वे पुद्गल के चलने के समय निमित्तभूत होता है। जैसे मछली को चलाने में जल निमित्तामात्र है। जल मछली को जबरदस्ती नहीं चलाता किन्तु जल के अभाव में मछली नहीं चल पाती है। मछली के चलाने में जल भी निमित्त है, इसी प्रकार व्याप्त यह धर्मद्रव्य हम आपको जबरदस्ती नहीं चलाता, किन्तु हम आप जब चलने का यत्न करते हैं तो धर्मद्रव्य एक निमित्तरूप होता है। इसी प्रकार चलकर ठहरने में निमित्तभूत अधर्मद्रव्य है। वह भी एक है। आकाश के बारे में यद्यपि वह अमूर्त है, इस धर्म आदिक की तरह अरूपी है फिर भी लोगो के दिमाग में आकाश के सम्बन्ध में बड़ी जानकारी बनी रहती है। यही ही तो है आकाश जो पोल है और हाथ फैलाकर बता देते हैं। है वह भी अमूर्त, न हाथ से बताया जा सकता और न दिखाया जा सकता और इस लोक में एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य स्थित है जिस पर स्थित हुए समस्त द्रव्यो की वर्तना में जो कारण है।

**जीवगत क्षोभ व उसके विनाश के लिए निज ध्रुव तत्व के आश्रय की आवश्यकता** – इन सब द्रव्यो में से केवल जीव और पुद्गल ही विभावरूप परिणम सकते हैं। हम आप जीवो को क्षोभ लगे हैं तो इस पुद्गल के सम्बन्ध से धन, सम्पदा, घर, मकान, शरीर, ये कुटुम्बी जन इनको देखकर न कहना, ये तो निमित्तभूत कार्माण पुद्गल के नोकर्म है, आश्रयधूत है। जो यह स दृश्यमान है उसको देखकर इन सबके झंझट कल्पना में आते हैं, जो रात दिन परेशान किए रहते हैं इस जीव को। तो जीव का हित इसमें है कि वह झंझटो से मुक्त हो। झंझटो से मुक्त तब ही हो सकता है जब इसको कोई ध्रुव आशय मिले। जितने भी ये बाह्य पदार्थ हैं जिनका यह मोही जीव आश्रय किए रहता है वे सब अध्रुव हैं। जैसे चलते हुए मुसाफिरको रास्ते में पेड़ मिलते हैं तो पेड़ निकलते जाते हैं, उन पेड़ो से मुसाफिर को मोहब्बत नहीं होती है, उनको देखकर निकल जाता है, ऐसे ही यात्रा करते हुए हम आप सब जीवों को ये समागम थोड़ी देर को मिलते हैं, निकलते जाते हैं, इन अध्रुव पदार्थो के प्रीति करने में हित नहीं है। जिनको अपने ध्रुव तत्व का परिचय नहीं है वे आश्रय लेंगे अध्रुव का।

**देहदेवालयस्थ देव के शुद्ध परिचय की शक्यता** – इन पुद्गलो से भिन्न मैं हूँ, ऐसा समझने के लिए स्वरूप जानना होगा, यह मैं जीव चेतन हूँ और ये पुद्गल अचेतन हैं, इनसे मैं न्यारा हूँ। शरीर में बँधा होकर भी यह जीव अपने स्वरूप को पहिचान ले, इसमें क्या कुछ अनुमान प्रमाण भी हो सकता है? हाँ है। जब हम आप किसी एंकात में बैठ जाते हैं तो वहाँ केवल एक प्रकार की कल्पना-कल्पना में ही उपयोग बसा रहता है। उस समय



यह भी स्मरण नहीं रहता कि मेरा देह है, मेरा घर है। केवल एक कल्पना ही रहा करती है। कोई काम धुनिपूर्वक कर रहे हो, उसमें किसी तत्व की धुन लगी हो तो अपने शरीर का भी भान नहीं रहता है। कोई एक तत्व ज्ञान में रहता है। अब तो जाननहार तत्व है उस ही का स्वरूप काई जानने में लग जाये, ऐसी धुन बने तो उसे इस देह का भी भान नहीं रहता है, जिस पर दृष्टि हो उसका ही स्वाद आता है चाहे कही बस रहे हो, जहाँ दृष्टि होगी अनुभव उसका ही होगा।

**दृष्टि के अनुसार स्वाद** – एक छोटी सी कथानक है— किसी समय सभा में बैठे हुए बादशाह ने बीरबल से मजाक किया बीरबल को नीचा दिखाने के लिए। बीरबल! आज हमें ऐसा स्वप्न आया है कि हम और तुम दोनो घूमने जा रहे थे। रास्तं में दो गड्ढे मिले, एक में शक्कर भरी थी और एक में गोबर, मल आदि गंदी चीजें भरी थी। सो में तो गिर गया शक्कर के गड्ढे में और तुम गिर गये मल के गड्ढे में। बीरबल बोला – हजूर ऐसा ही स्वप्न हमें भी आया। न जाने हम और आपका कैसा घनिष्ट सम्बन्ध है कि जो आप देखते स्वप्न में सो ही मैं देखता। सो मैंने स्वप्न में देखा कि हम और तुम दोनों घूमने जा रहे थे, रास्ते में दो गड्ढे मिले। एक था शक्कर का गड्ढा और एक था मल, गोबर आदि का गड्ढा। शक्कर के गड्ढे में तो आप गिर गये और मैं गोबर मल के गड्ढे में गिर गया, पर इसके बाद थोड़ा और देखा कि आप हमको चाट रहे थे और हम आपको चाट रहे थे। अब देखो— बादशाह को क्या चटाया ? गोबर, मल आदि, और स्वयं ने क्या चाटा? शक्कर। तो कहाँ हम पड़े हैं, कहा विराजे हैं, इसका ख्याल न करना, किन्तु जहाँ दृष्टि लगी है उस पर निगाह करना। स्वाद उसी का आयगा जहाँ पर दृष्टि लगी है। यह ज्ञानी गृहस्थ अनेक झंझटों में फंसा है, घर में है, कितना उत्तरदायित्व है ऐसी स्थिति में रहकर भी उसकी दृष्टि वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर है। अपने सहज ज्ञानस्वरूप का भान है, उस और कभी दृष्टि हुई थी। उसका स्मरण है तो उसको अनुभव और स्वाद परमपदार्थ का आ रहा है।

**श्रद्धाभेद से फलभेद** – कोई पुरुष बड़ी विद्याएँ सीख जाए, अनेक भाषाएँ जान जाय, और ग्रन्थों का विषय भी खूब याद कर ले, लेकिन एक सहजस्वरूप का भान न कर सके और अपनी प्रकट कलाओं द्वारा विषयों के पोषण में ही लगा रहे तो बतलावों कि ऐसे जानकारों के द्वारा स्वाद किसका लिया गया? विषयों का, और एक न कुछ भी जानता हो और स्थिति भी कैसी हो विचित्र हो, किन्तु भान हो जाय निज सहजस्वरूप का तो स्वाद लेगा अंतस्तत्व का आनन्द का। भैया ! श्रद्धा बहुत मौलिक साधन है। हो सकता है कि पुशु पक्षी, गाय, बैल, भैस, सूवर, गधा, नेवला, बंदर आदि ये अंतस्तत्व का स्वाद करलें अर्थात् ब्रह्मास्वरूप का अनुभव कर ले, इस ज्ञानशक्ति का प्रत्यय करलें – मैं ज्ञानानन्दमात्र हूँ। जो जिस से बोल भी नहीं सकते, जिनकी कोई व्यक्ति भी नहीं हो पाती है। कहो उन जीवों में से कोई निज सहजस्वरूप का भान कर ले और बहुत विद्याओं को पढ़कर भी न कर सके

तो अन्तर एक श्रद्धा की पद्धति का रहा। सप्तम नरक का नारकी जीव तो सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकता है और भोग विषयो में आसक्त जीव मनुष्य है और बड़ी प्रतिष्ठा, यश अनेक बातें हो, पर विषयो का व्यामोही पुरुष इस सम्यक्त्व का अनुभव नहीं कर सकता है। श्रद्धा एक मौलिक साधन है उन्नति के पथ में बढ़ने का।

**पार्थक्य प्रतिबोध** – यहाँ इतना ही समझना है संक्षेपरूप में कि जीव जुदे है पुद्गल जुदे हे। ये सामने दो अंगुली है, ये दोनो अंगुली जुदी जुदी है क्योंकि यह अनामिका अंगुली मध्यमा रूप नहीं हो सकती और मध्यमा अंगुली अनामिका अंगुली रूप नहीं हो सकती। इस कारण हम जानते हैं कि ये दो अंगुलियाँ जुदी-जुदी है। ऐसे ही ये दो मनुष्य जुदे-जुदे है क्योंकि यह एक मनुष्य दूसरे मनुष्यरूप नहीं हो पाता और यह दूसरा मनुष्य इस मनुष्य रूप नहीं हो पाता यही तो भिन्नता समझने का साधन है। तो ये समस्त पुद्गल प्रसंग जिनके व्यामोह में विपत्ति और विडम्बना रहती है, ये अचेतन है और यह मैं जीव चेतन हूँ। इस प्रकार का उनका आसाधारणस्वरूप जानना, बस यही एक हेंय पदार्थ से अलग होकर उपादेय पदार्थ में लगने का साधन है। इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इसका विस्तार है। सात तत्व जीव पुद्गल के विस्तार इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इसका विस्तार है। सात तत्व जीव पुद्गल के विस्तार है, तीन लोक का वर्णन यह जीव पुद्गल का विस्तार है। सर्वत्र जानना इतना है कि यह मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा जुदा हूँ और ये देहादिक पुद्गल मुझसे जुदे है।

**यथार्थ प्रतिबोध के बिना शान्ति का अनुपाय** – भैया! शान्ति यथार्थ ज्ञान बिना नहीं मिल सकती, चाहे कैसा ही कुटुम्ब मिले, कितनी ही धन सम्पदा मिले, पर अपना ज्ञानानन्द स्वभाव यह मैं हूँ ऐसी प्रतिति के बिना संतोष हो ही नहीं सकता। कहाँ संतोष करोगे?

**तृष्णा के फेर में अशान्ति** – एक सेठ जी एक बढई ये दोनो पास-पास के घर में रहते थे। बढई दो रूपये रोज कमाता था और सब खर्च करके खूब खाता पीता था और सेठ सैकड़ो रूपयो कमाता था और दाल रोटी का ही रोज-रोज उसके यहाँ भोजन होता था। सेठानी सेठजी से कहती है कि यह गरीब तो राज पकवान खाता है और आपके घर में दाल रोटी ही बनती है तो सेठ जी बोले कि अभी तू भोली है, जानती नहीं है यह बढई अभी निन्यानवे के फेर में नहीं पड़ा है। निन्यानवे का फेर कैसा? सेठ जी एक थैली में 99 रूपये रखकर रात्रि को बढई के घर में डाल दिये। सोचा कि एक बार 99 रूपये जाये तो जाये, सदा के लिए झंझट तो मिटे, घर की लड़ाई तो मिटे। बढई ने सुबह थैली देखी तो बड़ा खुश हुआ। गिनने लगा रूपये-एक दो, 10, 20, 50, 70, 80, 90, 98, और 99। अरे भगवान ने सुनी तो खूब है मगर एक रूपया काट लिया। कुछ हर्ज नहीं, हम आज के दिन आधा ही खर्च करेगें, 1 रूपये उसमें मिला देंगे तो 100) हो जायेगे। मिला दिया। अब 100)

हो गये। सोचा कि हमारा पड़ौसी तो हजारपति है उसको बहुत सुख है, अब वह जोड़ने के चक्कर में पड़ गया। सो हजार जोड़ने की चिन्ता लग गई। अब तो वह दो रूपये कामए तो चार आने में ही खाने पीने का खर्चा चला ले। अब जब हालत हो गयी तो सेठ कहता है सेठानी से कि देख अब बढ़ई के यहां क्या हो रहा है? तो सेठानी ने बताया कि अब तो वहाँ बड़ा बुरा हाल है। बस यही तो है निन्यानवे का फेर।

**शान्ति का स्थान** – यह अनुमान तो कर लो कि कहाँ शान्ति मिलेगी? निर्लेप आकिञ्चन्य ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र मै हूं, मेरा कही कुछ नहीं है, ऐसा अनुभव करने में ही शान्ति मिलेगी, अन्यत्र नहीं। इसलिए कहा है कि तत्व का संग्रह इतना ही है। पुद्गल जुदे है और मैं इस पुद्गल से जुदा हूं।

**इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य विद्वान्, मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य ।**

**मुक्ताग्रहो विनिवसन्स्वजनेऽजने व मुक्तिश्रियं निरूपमामुपयाति भव्यः ।।51 ।।**

**इष्टोपदेश के अध्ययन का फल** – यह इष्टोपदेश ग्रन्थ का अंतिम छंद है। इस छंद में इस ग्रन्थ के अध्ययन का फल बताया है। ग्रन्थ का नाम है इष्टोपदेश। जो आत्मा को इष्ट है अर्थात् आत्महित करने वाला है ऐसे तत्व का उपदेश, तत्व की दृष्टि और तत्व के ग्रहण का उपाय जिसमें बताया है इस ग्रन्थ की समाप्ति पर यह अन्तिम छंद कहा जा रहा है। किसी भी विषय को, ग्रन्थ को, उपदेश को, जानने का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है। ज्ञान के फल चार बताए गये हैं – अज्ञान निवृत्ति, हेय का त्याग करना, उपादेय का ग्रहण करना व उपेक्षा हो जाना। ज्ञान के फल चार होते हैं जिसमें अज्ञाननिवृत्ति तो सब में रहता है। चाहे हेय का त्याग रूप फल पाये, चाहे उपादेय का ग्रहणरूप फल पाये और चाहे उपेक्षा पाये, अज्ञाननिवृत्ति सब में फल मिलेगा। जिस तत्व का परिज्ञान कर रहे हैं, जब तक हमारा अज्ञान दूर न हो जाय तब तक हेय को छोड़ेगा कैसे कोई, अथवा विषयो को त्यागेगा कैसे या उदासीनता भी कैसे बनेगी? जगत के जीव अज्ञान अंधकार में पड़े हैं। अज्ञान अंधकार यही है कि वस्तु है और भांति व जानता है और भांति, यही अज्ञानन अंधकार है।

**कल्पित चतुराई** – यों तो भैया ! अपनी कल्पना में अपनी बड़ी चतुराई जंच रही है। दस आदमियों में हम अच्छा बोलते हैं, हम अनेक कलाये जानते हे और अनेको से बहुत-बहुत चतुराई के काम कर डालते हैं, इतनी बड़ी सम्पदा बना ली है, ऐसा मिल और फैंक्टरी खाल ली है। हम तो चतुर हैं और बड़े ज्ञानवान हैं। सबको अपने आप में अपनी चतुराई नजर आती है, और यों अलंकार में कह लो कि मान लों दुनिया में कुल डेढ़ अक्ल हो तो प्रत्येक मनुष्य एक अक्ल तो अपने में सोचता है और आधी अक्ल दुनिया के सब लोगो में मानता है। अपनी चतुराई सभी मानतें हैं। भिखारी भी भीख मांग लेने में अपनी

चतुराई समझते हैं। वाह मैंने कैसी चतुराई खेली कि इसने मुझे इतना कुछ दे दिया। लेकिन यह सब अज्ञान अधंकार है।

**निष्पक्ष वृत्ति में आत्महित** – आत्मा का हित आत्मा का मर्म निष्पक्ष हो सके बिना नहीं मिल सकता है। केवल अपने आप में आत्मत्व का नाता रखकर सब कुछ जाने, करे, बोले, नाता केवल आत्मीयता का हो, किसी अन्य सम्बन्धो का न हो। एक वस्तु का दूसरे वस्तु के साथ कोई तात्विक सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वस्तु का सत्व इस बात को सिद्ध करता है कि इस वस्तु का द्रव्य गुण पर्याय कुछ भी इस वस्तु से बाहर नहीं रहता है और ऐसे ही समस्त पदार्थ है। जब समस्त वस्तुओं में स्वतंत्रता है क्योंकि अपने स्वरूप की स्वतंत्रता आये बिना उसकी सत्ता ही नहीं रह सकती है, तब किस पदार्थ का किससे सम्बन्ध है?

**प्रकाश दृष्टान्त पर वस्तुस्वातन्त्र्य का दिग्दर्शन** – वस्तुस्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में कुछ दो चार चर्चाये कोई छेड़ दे तो प्रथम तो कोई थोड़ी बहुत आलोचना करेगा, लेकिन कुछ सुनने के बाद, मनन के बाद समझ में आ जायगा कि ओह! वस्तु की इतनी पूर्ण स्वतंत्रता है। यहाँ जो प्रकाश दिख रहा है, इसी के बारे में पूछें कि बतावो यह प्रकाश किसका है, सब लोग प्रायः यह कहेंगे कि यह प्रकाश लट्टू का है, बल्ब का है। कितना ? जितना इस कमरे में फैला है। लेकिन यह तो बतावों कि लट्टू किसको कहते हैं और वह कितना है? इसके स्वरूप का पहिले निर्णय करे। कहने में आयगा कि वह तो एक तीन-चार इंच घेर का है और उसमें भी जितने पतले-पतले तार हैं उतना मात्र है। तो यह नियम सर्वत्र लगेगा कि जो वस्तु जितने परिणाम की ह उस वस्तु का द्रव्य गुण पर्याय, (पर्याय मीन्स मोडीफिकेशन) वह उतनेमे ही होगा, उससे बाहर नहीं। इस नियम से कही भी विघात नहीं होता है। यह प्रकाश जो इस माइकपर है यह लट्टू का प्रकाश नहीं है, यह माइक का प्रकाश है। चौकी पुस्तक कपड़े आदि पर जो प्रकाश है वह लट्टू का प्रकाश नहीं, वह कपड़ा चौकी आदि का प्रकाश है। इसमें कुछ युक्तियां देखो। लट्टू भी एक पौद्गलिक चीज है, भौतिक चीज है। जैसे उस भौतिक चीज में इतना तेज स्वरूप होने की योग्यता है तो इस पदार्थ में भी अपनी-अपनी योग्यता के माफिक तेज स्वरूप होने का स्वभाव है। दूसरी बात यह है कि लट्टू का ही प्रकाश हो तो यह सर्व चीजों पर एक समान होता, यह भेद क्यों पड़ गया कि कांच ज्यादा चमकीला बन गया, पालिशदार चीज उससे कम चमकीली है और यह फर्श अत्यन्त कम चमकीला है। यह अन्तर कहाँ से आया? ये पदार्थ स्वयं अपनी योग्यता के अनुसार प्रकाशमान हो गए हैं।

**छाया दृष्टान्त पर वस्तुस्वातन्त्र्यका दिग्दर्शन** – वस्तुस्वातन्त्र्य के बारे में दूसरी बात देखो – इस हाथ की छाया चौकी पर पड़ रही है, सब लोग देख रहे होंगे। अच्छा बताइए कि यह किसका परिणामन है? लोग तो यही कहेंगे कि यह तो हाथ की छाया है। लेकिन हाथ कितना है, कहाँ है? जितना हाथ है, जितने में है, हाथ का सब कुछ प्रभाव परिणामन

गुण सब कुछ हाथ में ही गर्भित हो गया, हाथ से बाहर नहीं हुआ, लेकिन आप यह शंका कर सकेंगे कि हाथ न हो तो वह छाया कैसे हो जायगी? बस यही है निमित्त के सद्भाव को बताने का समाधान। यही निमित्त है, निमित्त की उपस्थिति बिना इस उपादेय में इस रूप कार्य न हो सके यह बात युक्त है, पर निमित्तभूत पदार्थ का द्रव्य, गुण, पर्याय, प्रभाव कुछ भी परवस्तु में उपादाय में नहीं आता।

**परके अकर्तृत्वपर एक जज का दृष्टान्त** – एक जज साहब थे, वे कोर्ट जा रहे थे, ठीक टाइम से जा रहे थे। रास्ते में एक गधा कीचड़ में फंसा हुआ दिखा। जज साहब से न रहा गया, सो मोटर से उतरकर उसे कीचड़ से निकालने लगे। हसथ के सिपाही लोगो ने मना किया कि हम लोग निकाले देते हैं आप न निकालो, पर वे नहीं माने। उस गधे के निकालने में जज साहब कीचड़ से भर गए और उसी हालत में कोर्ट चले गए। वहाँ लोगो ने देखा कि आज जज साहब की बड़ी बुरी हालत है, कोट पैंट आदि में मिट्टी लगी हुई है। साथ के सिपाही लोगो ने उनसे बताया कि आज जज साहब ने एक गधे की कीचड़ में फंसा हुआ देखकर उसके ऊपर दया करके उसे कीचड़ से निकाला है। तो जज साहब बोले कि मैंने गधे पर दया नहीं की, गधे की वेदना को देखकर मेरे हृदय में एक वेदना उत्पन्न हुई, सो उस अपनी ही वेदना को मैंने मिटाया।

**स्वातन्त्र्यसिद्धि मे दृष्टान्तो का उपसंहार** – ऐसे ही जज की घटना में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध था कि वह गधा बच गया। इसी को कहते हैं निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध। ऐसे ही सभी पदार्थों में निमित्तनैतिक सम्बंध छाया रूप परिणामी। यह छाया निश्चय से चौकी की है, व्यवहार से हाथ की है। यह समस्त प्रकाश निश्चय से इन वस्तुओ का है व्यवहार से लट्टू का है। हम बोल रहे हैं, आप सब सुन रहे हैं। लोगो को दिखता है कि महाराज हमको समझाया करते हैं, लेकिन मैं कुछ भी नहीं समझा पाता हूँ, न मुझमें सामर्थ्य है कि मैं आपको समझा सकूँ, या आप मेंकोई परिणमन कर दूँ। जैसे अपने भावो के अनुसार अपना हित जानकर अपनी चेष्टा करते हैं, सुनने आते हैं, उपयोग देते हैं और उन वचनों का निमित्त पाकर अपने ज्ञान में कुछ विलास और विकास पैदा करते हैं, ऐसे ही मैं ही अपने ही मन मे, अपने ही विकल्प में विकल्प करता हुआ बैठ जाता हूँ, बोलने लगता हूँ, और अपनी चेष्टा करता हूँ। मैं जैसे आप में कुछ नहीं करता हूँ, आप मुझमें कुछ नहीं करते किन्तु यह प्रमिपादक और प्रतिपाद्यपने का सम्बन्ध तो लोग देख ही रहे हैं, यह निमित्तनैमित्तिक सम्बंध की बात है।

**अन्तःस्वरूप के परिचय से स्वातन्त्र्य का परिज्ञान** – भैया ! अतःस्वरूप में प्रवेश पाने के बाद वस्तु की स्वतंत्रता विदित होती है। ऐसी स्वतंत्रता विदित होने पर मोह रह नहीं सकता। कैसे रहेगा मोह? मोह कहते हैं उसको कि किसी वस्तु को किसी दूसरे की वस्तु मानना। जहाँ स्वतंत्र वस्तु नजर आ रहे हैं वहाँ सम्बंध कैसे माना जा सकता है, मोह

ठहर नहीं सकता है। किसी भी उपदेश के अध्ययन का फल साक्षात् अज्ञाननिवृत्ति है। यह जीव पहिले अपनाए हुए परवस्तु का त्याग करता है यह भी ज्ञान का फल है। जो चीज ग्रहण के अयोग्य है उसे ग्रहण नहीं करना है, किन्तु मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहना है, उदासीन रहना है। उसके फल से उत्कृष्ट फल है उदासीनता का। यो इस ग्रन्थ का भली प्रकार अध्ययन करे। भली प्रकार का अर्थ है अपेक्षा लगाकर।

**स्याद्वाद के बिना मन्तव्यो में विरोध** – देखिये विडम्बना की बात, जीव सब ज्ञानमय है और एक पुरुष दूसरे की बात का खण्डन करता है। यह कैसी विडम्बना हो गयी है? जब ज्ञानमय दूसरे जीव है, ज्ञानमय हम भी है तो हम दूसरे के तत्त्वनिर्णय का खण्डन करे, यही तो एक विडम्बना की बात है। यह विडम्बना क्यों बनी? इसने नयका अवलम्बन छोड़ दिया। दूसरे की बात सुनने का धैर्य रक्खो और उस कहने वाले के दिमाग जैसा अपना दिमाग बनावो और उसे सुनो, दूसरे की बात मानो अथवा न मानो, इसके दोनो ही उत्तर है, मानना भी और न मानना भी, लेकिन दूसरे की बात को हम गलत न कह सके। जिस दृष्टि मे मान लिया और अन्य दृष्टि से वह बात नहीं मानी जा सकती है। जैसे कोई पुरुष किसी पुरुष के बारे में परिचय बताने वाली एक बात कह दें कि यह अमुकका बाप है, हाँ अमुक का बाबा है, यह दृष्टि बनने पर तो विडम्बनापूर्ण वचन नहीं हुए, यहाँ कोई दृष्टि छोड़ दे, यह साहब तो बाप कह रहे है, वही विवाद हो जायगा। वह पुरुष किसी का पुत्र है, किसी का कोई है। यदि हम अपेक्षा समझतें है तो वहाँ कोई विसम्वाद उत्पन्न न होगा। अपेक्षा त्यागकर तो विडम्बना बनती ही है। ऐसे ही जीव और समस्त पदार्थों के स्वरूप के बारे में जिसने जो कुछ कहा है उनके दिमाग को टटोले, सबकी बात को आप सही मान जायेगे। लेकिन वे सब परस्पर विरुद्ध तो बोल रहे है, इन सबको सही कैसे मान लोगे? अरे भले ही परस्पर विरुद्ध बोले लेकिन जिस दृष्टि से जो कहता है उस दृष्टि से उसकी बात जान लेना है, इसमें कोई विडम्बना की बात नहीं है।

**सम्यग्ज्ञान होने पर कर्तव्य** – नयो द्वारा वस्तुत्व को जान लेने पर फिर कर्तव्य यह होता है। कि जो घुव तत्व से सम्बद्ध दृष्टि है उसे ग्रहण कर लें और अधुव तत्वरूप जो निर्णीत है उसे छोड़ दे और अंत मं ध्रुव और अध्रुव दोंनो की कल्पना हटाकर एक परम उदासीन अवस्था प्राप्त करे। यह है आत्महित करने की पद्धति। इस इष्टोपदेश को भली प्रकार विचारकर आत्मज्ञान के बल से सम्मान और अपमान में समतापरिणाम धारण करना, न राग करना, न द्वेष करना और ग्राम बन जंगल किसी भी जगह ठहरते हुए समस्त आग्रहो को छोड़ देना, मूल सत्य के आग्रह के सिवाय अन्य समस्त आग्रहो का परित्याग कर दे, अन्त में यह सत्य सत्यरूप रह जायगा। सत्य का भी आग्रह न रह जायगा। सत्य का भी जब तक आग्रह है तब तक विकल्प है, भेद है, और जब सत्य का भी आग्रह नहीं रहता किन्तु स्वयं सत्यरूप विकसित हो जाता है वह है आत्मा की उन्नति की एक चरम

अवस्था। यह जीव फिर ऐसे ही अनन्त ज्ञानानन्द गुणो से सम्पन्न एक निरूपम अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

**इष्टोपदेश के सम्यक् अध्ययन का फल** – इस ग्रन्थ के अध्ययन के फल में बताया है कि अज्ञान निवृत्ति, हेय पदार्थों का त्याग, उपादेय का ग्रहण, फिर परम उदासीन अवस्था— यह क्रमशः होकर अंत में इस निरूपग निर्वाण की अवस्था प्राप्त होती है। साक्षात् फल तो अज्ञान निवृत्त हो गया यह है, साथ ही चूँकि निश्चय और व्यवहारनय से पदार्थों को समझा भी है तो उस ही के फल में बाह्य का त्याग करना, ध्रुव निज ब्रह्मास्वरूप में मग्न होकर समस्त रागद्वेष मान अपमान संकल्प विकल्प विकारों को त्याग देना है। अब इसके इस योग साधन के सम्बंध में शत्रु, मित्र, महल, मकान कांच, निन्दा, स्तवन— ये सब समान रूप से अनुभव में आते हैं। जो पुरुष आत्मा के अनुष्ठान में जागरूक होता है, स्वाधीन, नय पद्धति से निर्णय करके उन सब नयपक्षों को छोड़कर केवल एक ज्ञानस्वरूप में जो अपना उपयोग करता है, वीतराग शुद्ध ज्ञान प्रकाश में मग्न होता हुआ सर्व विकारो से दूर होकर विशुद्ध बन जाता है, फिर यह जीव अनन्त ज्ञान जिसके द्वारा समस्त विश्व का ज्ञाता बनता है, अनन्त दर्शन, जिसके द्वारा समस्त अनन्त ज्ञेयो को जानने वाले इस निज आत्मतत्त्व को दृष्टि में परिपूर्ण ले लेता है। अनन्त आनन्द, जिसके बल में कोई भी आकुलता कभी भी न होगी और अनन्त सामर्थ्य, जिसके कारण यह समस्त विकास एक समान निरन्तर बना रहेगा, ऐसे अनन्त चतुष्टयसम्पन्न स्थिति को भव्य जीव प्राप्त होता है।

**इष्टोपदेश से सारभूत शिक्षण** – इस उपदेश को सुनकर हमें अपने जीवन में शिक्षा लेनी है कि हम अपने को समझें और आत्मधर्म के नाते हम अपने आप में कुछ अलौकिक सत्य कार्य कर जाये, जिससे हमारा यह दुर्लभ नर-जन्म पाना सफल हो। उसके अर्थ में रागद्वेष निवारक शास्त्रो का अध्ययन करें और सत्संग, गुरुसेवा, स्वाध्याय, ज्ञानाभ्यास इत्यादि उपायो से अपने आत्मतत्त्व को रागद्वेषो की कलुषताओं से रहित बनाये। यह चर्या हम आपकी उन्नति का प्रधान कारण बनेगी।